जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में

आदिपुराण

(एक समीक्षात्मक अध्ययन)

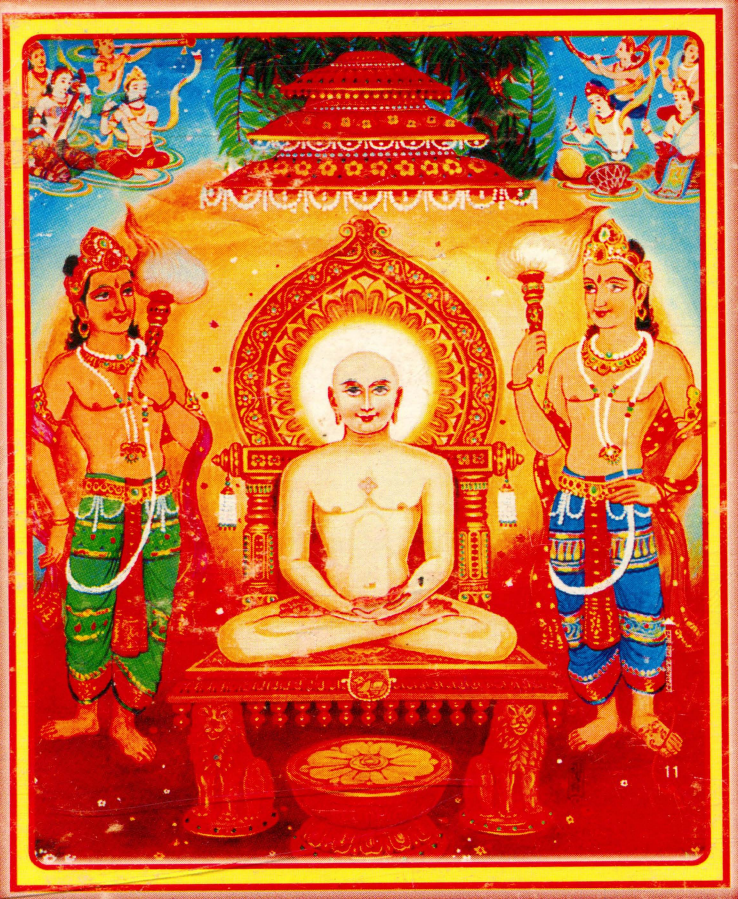

साध्वी सुप्रिया

जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में आदिपुराण

एक समीक्षात्मक अध्ययन

(साध्वी सुप्रिया) मन्जु बाला

भारतीय विद्या प्रकाशन
दिल्ली वाराणसी

© *प्रकाशक :*

भारतीय विद्या प्रकाशन

1. 5824, न्यू चन्द्रावल, (नजदीक शिव मन्दिर), दिल्ली-110007
   फोन : (011) 23851570, 23850944
   (मो.) : 09810910450
   Email : bvpbooks@gmail.com
2. पो. बा. नं. 1108, कचौड़ी गली, वाराणसी-221001
   फोन : (0542) 2392376

प्राप्ति स्थान :

न्यू भारतीय विद्या प्रकाशन

1. सी.के. 32/30, नेपाली खप्परा, वाराणसी-221001

प्रथम संस्करण : 2010

ISBN : 978-81-2170207-2

मूल्य : 550.00

कम्प्यूटरकृत : ट्विंकल ग्राफिक्स, दिल्ली

मुद्रक : रमन कुमार जैन द्वारा मुद्रित, आर.के.ऑफसेट, दिल्ली
फोन नं. (मो.) : 09968334546

श्रद्धास्निग्ध समर्पण

जिन के जीवन में तप की गाढ़ संयम की
यमुना और समता की सरस्वती का त्रिवेणी
संगम पुनः पुनः दर्शनीय, वर्णनीय और श्लाघनीय
है, उन प्रयाग तीर्थ स्वरुपा समाराध्या श्रद्धास्पदा
तपसिद्ध योगिनी उग्रतपस्विनी गुरुणी तपोनिधि साध्वी
श्रेष्ठा वात्सल्य वारिधि।

श्री सुमित्रा जी म. एवं श्री सन्तोषजी म.
के पाणिपद्मों में
सश्रद्धा – सभक्ति
साध्वी सुप्रिया
(मन्जु बाला)

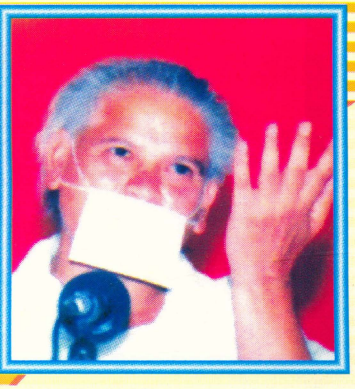

आशीर्वचन

"जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में आदिपुराण एक समीक्षात्मक अध्ययन" इस विषय पर परम विदुषी महासाध्वी श्री सुप्रिया जी महाराज ने पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ से पीएच.-डी. हेतु शोध-प्रबन्ध लिखा।

महासाध्वी जी ने पुरातन ग्रन्थों में शोध करके पुरातन जैन पुराणों में कथाओं के माध्यम से धार्मिक जीवन के विविध पक्षों को राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, दार्शनिक आदि विषयों की सुविस्तार चर्चा को साररूप में ग्रहण कर आदिपुराण अर्थात् महापुराण पर शोध किए हैं, और यह गूढ़ विषय जन सुलभ कराया है एतदर्थ हार्दिक साधुवाद।

पिछले अनेक वर्षों से जैन आगम एवं पुराणों पर जो शोध कार्य हो रहा है वह महत्त्वपूर्ण है। प्रस्तुत शोध कार्य में महासाध्वी श्री सुप्रिया जी महाराज ने जो समीक्षात्मक/वैज्ञानिक एवं प्रयोगात्मक रूप से चिन्तन मनन करते हुए अनुशीलन किया है वह बहुत ही प्रेरणास्पद एवं हृदयस्पर्शी है। आपका परिश्रम स्तुत्य एवं अभिनन्दनीय है। विदुषी साध्वीजी भविष्य में अपनी प्रज्ञा से साहित्य को समृद्ध करेगी।

यह शोध ग्रन्थ जन-जन को वीतरागता की ओर अग्रसर करे एवं शोधार्थियों के लिए प्रेरणादायी बने। उग्रतपस्विनी महासाध्वी श्री सुमित्रा जी म., तप्ततपस्विनी महासाध्वी श्री संतोष जी म. की प्रेरणा एवं आशीर्वाद से यह कष्ट साध्य कार्य पूर्ण हुआ। हम अखिल भारतवर्षीय श्वे. स्था. जैन श्रमण संघ की ओर से महासाध्वीजी एवं इनके मार्गदर्शक को हार्दिक साधुवाद करते हैं। पाठक-गण इसका स्वाध्याय कर आत्म-ज्ञान की ओर बढ़ें, यही मंगल मनीषा।

सहमंगल मैत्री,

– आचार्य शिवमुनि

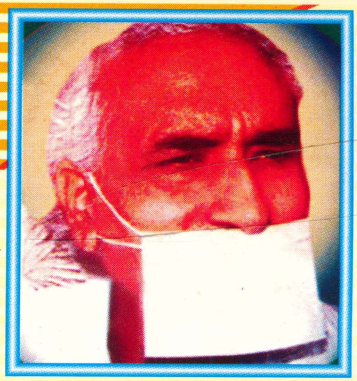

मंगल आशीर्वाद

उग्रतपस्विनी तपसिद्ध योगिनी सरलात्मा महासती श्री सुमित्रा जी म., दीप्ततपस्विनी तपसिद्ध योगिनी महासती श्री सन्तोष जी म. की प्रशिष्या परम विदुषी साध्वी डॉ. श्री सुप्रिया जी म. अपना शोध-ग्रन्थ प्रकाशन करावाने जा रही हैं, यह जानकर अतिहर्षानुभूति हुई।

साध्वी जी ने "जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में आदिपुराण-एक समीक्षात्मक अध्ययन" जैसे जटिल और श्रमसाध्य विषय को अपने शोध-प्रबन्ध के लिए चुना। पुराण का नाम आते ही सनातम संस्कृति से जुड़े मोटे-मोटे ग्रन्थों की तस्वीर नज़रों में आती है। अधिकतर जैन धर्मावलम्बियों को अभी यह नहीं पता कि यह पुराणों का सम्बन्ध जैन दर्शन से है। पुराणों में जैन धर्म का मर्म, संस्कृति और समाज का इतिहास संकलित है। साध्वी जी ने इस लुप्त से विषय को अपनी लेखनी से छूकर पुनःजीवित कर दिया है। परम विदुषी साध्वी जी की लग्न और परिश्रम का सजीव प्रमाण उनके शोध-ग्रन्थ में परिलक्षित हो रहा है, साध्वी जी ने अपने संयम-साधना के स्वर्णिम क्षणों को व्यर्थ न गँवाकर उनका सदुपयोग किया है।

साध्वी जी इसी प्रकार अपने जीवन में ज्ञानाराधन पथ पर निर्विघ्न अप्रमत्त भाव से बढ़ती रहें। यही मेरा हार्दिक मंगल आशीर्वाद है। मनीषि-विद्वान इसे अवश्य ही पसन्द करेंगे तथा शोध-मुमुक्षुओं के लिए भी यह बड़ा उपादेय रहेगा।

– अमर मुनि

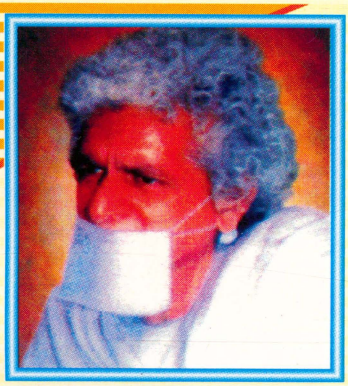

शुभ कामना

मुझे सुनकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि साध्वी डॉ. श्री सुप्रिया जी म. का शोध-प्रबन्ध प्रकाशित होने जा रहा है। साध्वी डॉ. सुप्रिया जी ने "जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में आदिपुरण-एक समीक्षात्मक अध्ययन" शीर्षक के अन्तर्गत जो शोध-प्रबन्ध लिखा है-जैन दर्शन के आधार पर लिखे गए प्रमाणिक ग्रन्थों की परिगणना में यह महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा।

परम विदूषी साध्वी सुप्रियाजी के अथाह परिश्रम और लग्न का यह सुपरिणाम है। साध्वी जी म. के परिश्रम द्वारा प्राप्त नवनीत से अन्य भी लाभान्वित होंगे। ऐसी मेरी आशा है। जिन शासन में प्रतिपादित सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यग्चारित्र और सम्यक तप के द्वारा अपने जीवन के साथ अन्य का मार्ग-दर्शन करते हुए जिन मार्ग की प्रभावना करें। साध्वी जी निरन्तर जैन-जैनेत्तर ग्रन्थों का गहन चिन्तन मनन व स्वाध्याय करती रहें। ऐसी मेरी मंगल भावना शुभकामना है।

– जितेन्द्र मुनि

दो शब्द

ज्ञान-दीप से है जिनके
आलोकित यह जग होता।
जिनका तेज तपोबल है
निज जग का कल्मष धोता।
अनुकम्पा औषध से जिनकी,
नेत्रहीन सब कुछ लखते।
अज्ञानी भी ज्ञानी बन,
ग्रन्थ अनेकों है रचते।
जिनका गुण-गौरव वर्णन,
वाणी का विषय नहीं है।
त्याग तपस्या भी जिनकी
आगम वर्णित से कम नहीं है।
उन गुरुओं के चरणों में,
कोटि-कोटि मेरा वन्दन।
शब्द-सुमन की माला से
करती हूँ उनका अभिनन्दन।
जिनके आशिष से मैंने
किए शब्द हैं ये अर्जित।
आज उन्हीं के चरणों में,

– साध्वी सुप्रिया

तपसिद्ध योगिनी उग्रतपस्विनी महासती श्री सुमित्रा जी म.

तपसिद्ध योगिनी दीप्त तपस्विनी
महासती श्री सन्तोष जी म.

तप रत्नेश्वरी तप्त तपस्विनी
महासती डॉ. श्री सुनीता जी म.

तप ज्योति सेवाभावी
महासती श्री ऊषा जी म.

प्रस्तावना

धर्म, दर्शन और अध्यात्म इन त्रिविध विषय का प्रायः समानार्थक के रूप में प्रयोग किया जाता है। किन्तु गहराई से चिन्तन करते हैं, तभी यह ज्ञात होगा कि इन तीनों का मूलभूत अर्थ भिन्न है। अर्थ ही नहीं, अपितु क्षेत्र भी भिन्न है। धर्म का सम्बन्ध आचार से है। यह उचित है कि धर्म का सम्बन्ध अन्तरंग और बहिरंग इन दोनों प्रकार के आचार से है। अध्यात्म भी धर्म का ही एक आन्तरिक रूप है। इसीलिये धम के दो रूप प्रतिपादित हुए हैं--प्रथम "निश्चय" है और द्वितीय "व्यवहार" है। निश्चय धर्म अन्तरंग में "स्व" की शुद्धानुभूति और शुद्धोपलब्धि है। जबकि व्यवहार बहिर्जगत् से सन्दर्भित है, विधि एवं निषेध से सम्बन्धित है। निश्चय त्रिकालाबाधित सत्य है। शाश्वत और सार्वत्रिक होता है। दर्शन का अर्थ तत्त्वों की मीमांसा और विवेचना से है। दर्शन का क्षेत्र सत्य का परीक्षण है। जीव और जगत एक निगूठ पहेली है। पस्तुत प्रहेलिका को सुलझाना ही "दर्शन" का कार्य है। "दर्शन" वास्तव में प्रकृति और पुरुष, लोक और परलोक, आत्मा और परमात्मा, दृष्ट और अदृष्ट, य ओर वह प्रभृति गम्भीर रहस्य को अतिशय रूप से उद्घाटित कर देता है। इतना ही नहीं, वह सत्य और तथ्य का यथार्थ रूपेण मूल्यांकन करता है। दर्शन यथार्थ अर्थ में वह दिव्य चक्षु है, जो मिथ्यापूर्ण मान्यताओं के घनीभूत आवरणों को भेद कर सत्य के मौलिक स्वरूप का साक्षातकार करता है। अध्यात्म वस्तुतः जीवन-विशुद्धि का अभिन्न अंग है, सर्वांगीण भव्य रूप है और वह परिशोधन करता है। "स्व" जो कि "स्वय" से सर्वथा विस्मृत है। अध्यात्म इस विस्मरण को तोड़ता है। "स्व" जो स्वयं ही अपने "स्व" के अज्ञान-तमस का शरण स्थल बन गया है। अध्यात्म इस अन्ध तमस् को विध्वस्त करता है। स्वरूप संस्मृति की दिव्य ज्योति जलाता है। अध्यात्म अन्तरंग में परिसुप्त ईश्वरत्व को जगाता है। उसे स्वर्णिम-प्रकाश में लाता है। राग-द्वेष के आवरणों की परतों को हटा कर अध्यात्म सधक को उसके अपने विशुद्ध "स्व" तक पहुँचाता है, उसे अपना अन्तर्दर्शन कराता है। अध्यात्म का प्रारम्भ "स्व" को जानने और पाने की गहरी जिज्ञासा से होता है और अन्ततः "स्व" के पूर्ण-बोध में "स्व" की उपलब्धि में इस की समाप्ति है।

इसी परिप्रेक्ष्य में आध्यात्मिक दृष्टिकोण से चिन्तन जब किया जाता है, तब यह विदित होगा कि आत्मा का वर्गीकृत रूप वस्तुतः त्रिविध है। प्रथम "बहिरात्मा" है, द्वितीय अन्तरात्मा है और तृतीय परमात्मा है। बहिरात्मा जड़वत् है, जड़ नहीं है। वह चेतन-स्वरूप है, परन्तु बहिरात्मा जड़वत् इसलिये है कि उसमें सम्यग्दर्शन नहीं है, तब सम्यग्ज्ञान भी नहीं है। फलतः वह आत्मा बहिरात्मा है, मिथ्यादृष्टि है, गुरुकर्मी है, उसमें बोध नहीं है, उसने भेद विज्ञान प्राप्त नहीं किया है और वह इन्द्रियों और मन को आत्मा मानता है, उस का दृष्टिकोण पौद्गलिक है भौतिक है, द्वितीय आत्मा अन्तरात्मा है। अन्तर से अभिप्राय यहाँ दूरी नहीं है, भिन्नता भी नहीं है। अन्तर से अभिप्राय अन्तः आत्मा है, वह अन्तरात्मा कहलाता है। जो अपने के लिए आत्मा के लिये प्रयत्नशील और प्रवृत्तशील रखता है। आत्मा के लिये आत्मा में रमण करता है। अन्तरात्मा आत्मा में रमण तब करेगा, जब उसको भेद-विज्ञान होगा। जड़ और चेतन इन दोनों का पृथक्-पृथक् अनुभव करेगा। उन्हें मानेगा और जीवन मुक्त अवस्था में स्थिर एवं स्थित रहेगा। परम अवस्था अर्थात् स्वरूप में रमण करने वाला आत्मा परमात्मा है। अन्तरात्मा से जब आधि, व्याधि और उपाधि का समूलतः निराकरण हो चुका है, तब अवशिष्ट आत्मा शुद्धात्मा है। ऐसी आत्मा काषयिक परिणाम से सर्वथा मुक्त है, जन्म-मृत्यु के कारागृह से सर्वदा विमुक्त है। उसका नाम "परमात्मा" है। यही स्वरूपावस्था है और आध्यात्मिक अभ्युदय है। इतना ही नहीं, अध्यात्म स्वप्निल आदर्श नहीं है, अपितु जीवन का यथार्थ है, जो निज को निज में समाहित कर देता है।

यह ध्रुव सत्य है कि मानव स्वभावतः एक जिज्ञासु प्राणी है। दर्शन का आविर्भाव उस की इसी जिज्ञासा प्रधान वृत्ति का परम-परिणाम है। इसी जिज्ञासा वृत्ति के अपूर्व-प्रभाव के स्वरूप विविध-दर्शन भी आस्तित्व में अवस्थित हैं और कालान्तर में इन बहुविध-दार्शनिक अवधारणाओं ने परस्परम में अतिशय-समीक्षाएँ भी प्रस्तुत की है। उन समीक्षाओं के फलश्रुति रूप नितान्त-गहन दार्शनिक-विमर्शन से सन्दर्भित महाग्रन्थ भी निर्मित हुए हैं। जैन धर्म और जैन दर्शन में आगमीय-विवेचना के रूप में धार्मिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक और समीक्षात्मक दृष्टिकोण के आधार पर शताधिक प्रामाणिक ग्रन्थरत्न विरचित हुए हैं। यह अति स्पष्ट है कि उन ग्रन्थ-निधि में मनीषी-आचार्य जिनसेन द्वारा प्रणीत "आदि पुराण" एक महत्त्वपूर्ण गन्थ है, जो वस्तुतः एक सारस्वत-संरचना है। यह वह ग्रन्थ है, जो जैन-मीमांसा, तात्त्विक-मीमांसा, एवं आचार-दर्शन का एक अधिकृत ग्रन्थ है। उक्त ग्रन्थ में जैन-विद्या से सन्दर्भित-समस्याओं का प्रस्तुतिकरण एवं समाधान समीचीन रूप से उपस्थित है। भाषा की दृष्टि से यह ग्रन्थ संस्कृत भाषा में निबद्ध है।

इसी सन्दर्भ में जैन दर्शन की विशेषज्ञा साध्वीरत्न डॉ. सुप्रिया जी ने शोध प्रबन्ध के रूप में "जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में आदिपुराण का समीक्षात्मक अध्ययन" पस्तुत करने का सार्थक प्रयत्न किया है। इस शोध प्रधान प्रबन्ध में जैन-विद्या से सम्बन्धित अवधारणाओं का प्रस्तुतिकरण एवं समीक्षात्मक विश्लेषण उपलब्ध होता है। यह शोध-कार्य इसलिये उपयोगी और महत्त्वपूर्ण स्वयंमेव सिद्ध होगा कि उस में विषय-वस्तु की जहाँ व्यापकता है, वहाँ गम्भीरता भी संनिहित है। शोधार्थिनी श्रमणी श्री ने उक्त ग्रन्थ के किसी एक ही विषय-बिन्दु पर समीक्षात्मक-दृष्टि से अध्ययन नहीं किया है, अपितु ग्रन्थ-गत समग्र-विषयों पर जैन-दृष्टि से समीक्षात्मक-शैली से विश्लेषणा की है, जिससे यह शोध प्रबन्ध समीक्षात्मक-अध्ययन के क्षेत्र में एक अप्रतिम अवदान के रूप में कीर्तिमान् है। मेरा यह विनम-मन्तव्य भी अप्रासंगिक नहीं है कि इस शोध पूर्ण ग्रन्थ पर प्रस्तावना के रूप में जो शब्द-न्यास हो पाया है, वह महाप्रज्ञ उपाध्याय गुरुवर्या श्री पुष्कर मुनि जी म. एवं श्रमणी-सुमेरू माता श्री प्रकाशवती जी म. की अतिशय-कृपा दृष्टि की फलश्रुति है और चमत्कृति है। उनके प्रति भी सश्रद्ध-प्रणति है। मुझे आशा ही नहीं अपितु समग्र-विश्वास है कि विद्या की अधिष्ठात्री दिव्य देवी माता शारदा की श्रेष्ठ-सुता साध्वीवर्या डॉ. श्री सुप्रिया जी द्वारा प्रणीत यह ग्रन्थ वस्तुवृत्या शोध-अनुसन्धान के क्षितिज पर सहस्ररश्मि दिनमणि के रूप में अहर्निश प्रकाशमान होता रहेगा।

– उपाध्याय रमेश मुनि शास्त्री

हार्दिक मंग मनीषा

जैन संस्कृति श्रम प्रधान संस्कृति रही है इसीलिये इसे श्रमण संस्कृति भी कहा जाता है। श्रमण संस्कृति भौतिक चकाचौंध अर्थात् भौतिक साधनों ऊँचे महलों, भव्य भवनों सोने-चाँदी के अम्बारों और बहुमूल्य वस्त्रों को महत्व नहीं देती बल्कि यह मानव की आन्तरिक साधना व उच्च विचारों पर बल देती है। वास्तव में श्रमण संस्कृति में श्रमण अथवा श्रमणी के जीवनकाल में संयम साधना का जितना महत्त्व है, उतना ही महत्त्व त्याग, तप और ज्ञान आराधना का भी है। ज्ञान अर्जित करना जीवन में बहुत आवश्यक है। ज्ञान के बिना साधक का जीवन अधूरा है।

इसीलिये कहा गया है –

"अन्धकार है वहाँ, जहाँ आदित्य नहीं है,
अन्धकार है वहाँ, जहाँ साहित्य नहीं है।"

जहाँ सूर्य का प्रकाश नहीं वहाँ सिवाय अन्धकार के और क्या हो सकता है और जहाँ साहित्य नहीं, वहाँ सिवाय अज्ञानान्धकार के और कुछ नहीं होता। हमारी दोनों बहनों की सदैव तीव्र अभिलाषा रही है कि हमारे पास कोई वैरागन आये जितना वह अध्ययन करना चाहे हम अवश्य करवायेंगे। हम तो किसी कारणवश अधिक नहीं पढ़ सके किन्तु आने वाली वैरागनों को उच्च शिक्षा दिवायेंगे।

अचानक हमारी संसारी भांजी सिरसा से हमारे पास दर्शन करने आई। उसके संयम के भाव बनते देर न लगी। क्योंकि हमारी संसारी बहन धर्मपरायण श्री सत्य देवी जैन धर्मपत्नी श्री जैन प्रकाश जैन नाहटा जो बहुत ही धार्मिक विचारों वाली सदैव धर्मध्यान सामायिक संध्या से जिनका जीवन ओत-प्रोत है। ऐसे संस्कारित परिवार से धर्म के प्रति बहुत ही सुदृढ़ थी। वैरागन मन्जू हमारे पास आ गई। भरी यौवनावस्था में संसारिक बन्धनों को छोड़कर संयम पथ अंगीकार किया है। साध्वी मन्जू घर से मैट्रिक की परीक्षा उत्तीण करके आई थी बाकी सारी शिक्षा बी.ए., एम.ए. हमने पंजाबी यूनिवर्सिटी से बहुत परिश्रम से करवाई। मन्जू का साध्वी जीवन का नाम हमने सुप्रिया रखा है।

साध्वी सुप्रिया की अध्ययन के प्रति रूचि व उत्साह देखकर हमें बहुत प्रसन्नता होती कि जबसे हमारे पास आई है हमेशा ज्ञान-ध्यान, स्वाध्याय में ही लीन रही है। इसे पढ़ाई के सिवाय कुछ भी अच्छा नहीं लगता है। साध्वी सुप्रिया को बातों में बिल्कुल भी रूचि नहीं। न ही कभी इसने बातों में अपने अमूल्य समय को व्यर्थ गंवाया है। हमारी हार्दिक उत्कण्ठा है कि हमने इसे एक परम विदुषी साध्वी-रत्ना बनाना है। हमारी होनहार सेवाभावी विदुषी शिष्या डॉ. सुनीता जी की तरह इसे शोध कार्य करवाया जाए। साध्वी सुप्रिया ने संस्कृत में डबल एम. ए. पंजाब यूनिवर्सिटी से अच्छे अंकों में उत्तीर्ण की। फिर जैन दर्शन पर शोध -कार्य पंजाब यूनिवर्सिटी, चण्डीगढ़ से प्रारम्भ किया। यह शोध-कार्य विद्वदरत्न डॉ. श्री प्रेम लाल शर्मा, श्विेश्वरानन्द शोध-संस्थान होशियारपुर के कुशल निर्देशन में सम्पन्न हुआ। जिन्होंने अपना सराहनीय योगदान प्रदान किया। हम उनके भी धन्यवादी हैं।

साध्वी सुप्रिया ने विनम्रता, सहनशीलता, लग्नशीलता, सहजता, गम्भीरता, सेवा-भावना आदि अनेक गुणों को अपने जीवन में संजोया हुआ है। ज्ञान-आराधना के साथ-साथ तप के क्षेत्र में भी प्रगतिशील रही है। कमठ परिश्रमशीला, अध्ययनशीला ने ही इन्हें इस लक्ष्य तक पहुँचाया है।

हमारी तो यही हार्दिक मंगल मनीषा है कि विदुषी डॉ. साध्वी सुप्रिया दिन-प्रतिदिन ज्ञान, ध्यान, तप-त्याग एवं संयम साधना में उत्तरोत्तर वृद्धि करती रहें। इस ग्रन्थ प्रकाशन के विषय में यही कहना चाहती हैं कि यह ग्रन्थ साध्वी जी के अत्यन्त कठोरश्रम एवं निरन्तर प्रयत्नशीलता का सुपरिणाम है हमें पूर्ण विश्वस है कि डॉ. साध्वी सुप्रिया जिनशासन की महत्ती प्रभावना एवं जिनवाणी का गहन चिनतन मनन करते हुए स्वाध्याय में सदैव जुटी रहें। बालबह्मचारिणी महासती गुरुणी "श्री चन्दा जी म." की फुलवाड़ी को महकाती रहें, यही हमारा हार्दिक मांगलिक अन्तःकरण का आशीर्वाद है तथा श्रमण संघ की गरिमा में अभिवृद्धि करें हमारी यही शुभ कामनाएँ मंगल भावनाएँ हैं।

– साध्वी सन्तोष-सुमित्रा

पुरोवाक्

भारतीय वाङ्मय में वेद, वेदाङ्ग, उपनिषद् एवं पुराण साहित्य आता है। इसके अतिरिक्त षड्दर्शन, जैन साहित्य, बौद्ध साहित्य आदि साहित्य को भारतीय वाङमय से पहचाना जाता है। जैन धर्म, दर्शन, साहित्य और संस्कृति का मूलाधार आगम साहित्य है। जैनागम साहित्य भारतीय ज्ञान-विज्ञान का अक्ष्य कोश है। आत्मा-परमात्मा, जीव-जगत, पुनर्जन्म, कर्म प्रवृत्ति आदि विषयों पर जितना विशद् रूप से जैनागमों का विश्लेषण हुआ है उतना विश्व के अन्य साहित्य में कहीं नहीं हुआ।

जैनागमों में श्रुत ज्ञान का विशेष महत्व है। श्रुतज्ञान के बिना आत्मा जागृत नहीं हो सकती। आत्मा के विकास के लिये श्रुतज्ञान अत्यन्त उपयोगी है। श्रुतज्ञान के द्वारा ही आत्मा स्वकल्याण करने में समर्थ हो सकता है, यदि श्रुतज्ञान का अभाव हो तो आत्मा अपने कर्त्तव्य से पतित हो जाता है। श्रुतज्ञान के दो रूप है-द्रव्यश्रुत और भावश्रुत। आज दोनों ही श्रुत विद्यमान हैं। अनुयोग द्वार सूत्र में पत्र और पुस्तकों के अक्षर विन्यास को द्रव्य श्रुत कहा गया है और आत्मज्ञान के रूप में श्रुत को भाव श्रुत कहा जाता है ये दोनों श्रुत लौकिक और लोकोत्तर धर्म मार्ग के साधन है।

जैनधर्म का साहित्य बहुत विशाल है। वह प्रत्येक विषय के ग्रन्थों से समृद्ध है। जैनों के संस्कृत-साहित्य की महता बतलाते हुए जर्मन विद्वान डॉ. हर्टल ने लिखा है कि

'Now what would Sanskrita poetry be without the large Sanskrit literature of the Jains! The more I learn to know it, the more my admiration rises', *[Jainashasana Vol. I, N. 21]*

अर्थात् जैनों के महान् संस्कृत साहित्य को यदि अलग कर दिया जाये तो संस्कृत कविता की क्या दशा होगी? इस विषय में मुझे जैसे-जैसे अधिक जानकारी मिलती जाती है। वैसे-वैसे मेरे आनन्द युक्त आश्चर्य में अभिवृद्धि होती जाती है।

जैन धर्म के अनुयायियों में रूप से दो भेद हैं–श्वेताम्बर और दिगम्बर क्रियाकाण्ड और आचार व्यवहार विषयक मतभेदों को एक ओर रखने पर इन दोनों परम्पराओं का धार्मिक एवं दार्शनिक सहित्य प्राय: पूर्णत: समान है।

दिगम्बर परम्परा के चार अनुयोगों में से प्रथमानुयोग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रथमानुयोग में 'आदिपुराण' प्रधान ग्रन्थ है। इसमें कथाओं के माध्यम से जटिल दार्शनिक तत्त्वों पर सटीक व्याख्यान उपलब्ध होता है। इस पुराण के अध्ययन से पता चलता है कि सभी आगमों का सार इसमें निहित है। आदिपुराण का महत्त्व समझकर ही मेरे मन में संकल्प उभरा कि इस पर शोध किया जाये। इस पर भी दार्शनिक तत्त्वों का "एक समीक्षात्मक अध्ययन" किया जाये। जैनागमों में बिखरी दार्शनिक समस्त सामग्री का सरल्येन अध्ययन किसी को करना है तो मेरा यह मानना है कि उसे इस पुराण का अध्ययन करना चाहिए। इसी पुराण साहित्य को कायम रखने के लिये तथा पुनर्जीवित करने के लिए श्वेताम्बर परम्परा की महाप्रज्ञा साध्वी सुप्रिया ने मेरे विचार से सहमति दिखायी और आदिपुराण ग्रन्थ पर शोध करने का निश्चय किया। अभी तक जैन धर्मावलम्बियों को यह मालूम नहीं है कि यह पुराण जैन धर्म दर्शन से सम्बन्धित है या सनातन धर्म से। यही कारण है कि आज वह उद्भावना शोध-प्रबन्ध के रूप में प्रकाशित होकर पाठकों के सामने प्रस्तुत है।

मेरे संकल्प अथवा साध्वी डॉ. सुप्रिया जी म. के कठिनश्रम के प्रतिफल रूप में प्रस्तुत यह शोध-ग्रन्थ प्राय: स्मरणीया तप-त्याग की महामूर्तियाँ उग्रतपस्विनी महासती श्री सुमित्रा जी म. एवं दीप्त तपस्विनी महासती श्री सन्तोष जी म. की सद्प्रेरणा, अपार कृपा एवं आशीर्वाद के परिणाम स्वरूप यह कृति समाज को समर्पित होने जा रही है। दोनों महान् तपस्विनी महासाध्वियों की यह सतत् प्रयत्न रहा है कि हमारी शिष्या परम्परा में सभी साध्वियाँ पढ़ी लिखी और जैन सिद्धान्त के स्वारस्य को समझने में सक्षम हो। वैसे भी इनकी शिष्याओं में आज तक तीन साध्वियाँ तो डबल एम.ए. पी.एच.डी. की उपाधि को धारण किए हुये हैं। भविष्य में यह धारा उनके मंगलाशीर्वाद से निरन्तर बहती रहेगी, ऐसी मेरी पूर्ण आशा है।

धीर, गम्भीर साध्वी डॉ. सुप्रिया जी ने मोक्ष पथारूढ़ होकर अपने जीवन के अमूल्य क्षणों को व्यर्थ न गवाँकर सार्थक किया है। गुरुणी जी म. चरणाम्बुजों में रहकर अनेक गुणों को अनपे जीवन रूपी गुलदस्ते में संजोया है। समय का सदुपयोग, अनुशासन बद्धता, सेवा-भावना, सहजता, समर्पणता, स्वाध्यायशीलता आदि अनेक गुण विद्यमान है।

विदुषी साध्वी जी की अध्ययन के पति अत्यन्त उत्साह और रूचि ने उन्हें अध्ययन के क्षेत्र में निरन्तर प्रगति कर हिन्दी, संस्कृत में डबल एम.ए. की परीक्षाएँ उत्तीर्ण की। साध्वी जी ने अथक परिश्रम करके सर्वप्रथम जैन दर्शन का गहन अध्ययन किया फिर 'आदिपुराण' ग्रन्थ को अध्ययन का विषय बनाया। परिणाम स्वरूप आज यह शोध-प्रबन्ध जैन दर्शन के समस्त रहस्यों को प्रकाशित वाला साबित होगा तथा शोध-मुमुक्षुओं के लिए भी यह उपयागी सिद्ध होगा। जैन समाज का हितसाधक घोषित होगी। ऐसी मेरी मंगल कामना शुभ भावना है।

– *डॉ. प्रेमलाल शर्मा, रीडर*
साधु आश्रम
होशियारपुर (पंजाब)
पिन-146021

भूमिका

जैन संस्कृति का मूलाधार जैनागम और जैन पुराण हैं। आगमों को यद्यपि सर्वज्ञान निधि कहा जाता है तथापि बहुत-सी बातें ऐसी हैं जिनका स्पष्ट विवरण पुराणों में ही मिलता है। पुराणों में कथाओं के माध्यम से ज्ञान को संजोया गया है। पुराण सच्चे अर्थों में जनवादी साहित्य हैं; क्योंकि उनका भाषा, विचार, परम्परा, जीवन-दर्शन, आदर्श एवं प्रतिपाद्य सभी का आधार तत्कालीन जनवादी प्रवृत्तियाँ और लोक-प्रचलित परम्पराएँ हैं। पुराणों की इस महत्ता के कारण ही इतने विशाल साहित्य की रचना हुई है।

पुराण भारतीय संस्कृति के विश्वकोश हैं। जैन-परम्परा में भी विपुल संख्या में पुराणों की रचना की गयी। जैनधर्म में चौबीस तीर्थंकरों के चौबीस पुराण मिलते हैं। ईसा की लगभग चौथी शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य अनेक जैन पुराणों की रचना की गयी। इन पुराणों के माध्यम से प्राचीन परम्परा और समकालीन धार्मिक जीवन के विविध पक्षों को उजागर करने के साथ ही राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, दार्शनिक आदि विषयों की भी विशद् चर्चा की गयी है।

इसी महनीय पुनीत परम्परा में अपना विशिष्ट महत्त्व रखने वाला ग्रन्थ आदिपुराण आता है। आदिपुराण संस्कृत वाङ्मय की सर्वोत्कृष्ट परिणति है। महापुराण के दो भाग हैं। पहले भाग का नाम आदिपुराण है और दूसरे का नाम उत्तरपुराण। आदिपुराण में मुख्यतः प्रथम तीर्थंकर, प्रथम चक्रवर्ती का चरित्र है। उत्तर पुराण में शेष तेईस तीर्थंकरों का तथा चक्रवर्ती, नारायण आदि श्लाका पुरुषों का चरित्र है। पूरे महापुराण में चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण और नौ बलभद्र इन तिरेसठ श्लाका पुरुषों का चरित्र वर्णित है। जैन दिगम्बर परम्परा में कथा, चारित्र, भूगोल और द्रव्य-इन चार अनुयोगों में से प्रथमानुयोग का आदिपुराण सबसे प्रधान ग्रन्थ है। आदिपुराण में कुल बारह हजार श्लोक हैं। उत्तर पुराण में आठ हजार श्लोक हैं। महापुराण के श्लोकों की संख्या बीस हजार है। आदिपुराण में सैंतालीस पर्व या अध्याय हैं जिनमें बयालीस पर्व पूरे हैं। 43वें पर्व के तीन श्लोक ही जिनसेनाचार्य लिख पाये थे कि उनका देहोत्सर्ग हो गया। शेष पाँच पर्व (1620 श्लोक) उनके शिष्य गुणभद्राचार्य ने पूर्ण करके अपनी गुरु भक्ति का सुन्दर परिचय दिया।

आदिपुराण जैन साहित्य का एक परमोत्तम ग्रन्थ है। यह केवल पुराण ही नहीं है, इसमें ग्रन्थकार ने अपने रचना कौशल से जैनियों के कथा, चारित्र, भूगोल और द्रव्य इन चारों ही अनुयोगों के विषय संग्रह कर दिये हैं।

जैनधर्म में जितने मान्य तत्त्व हैं, प्रायः वे सब ही इसमें कहीं न कहीं कथा के रूप में किसी न किसी रूप से कह दिये गये हैं। आदिपुराण सर्वसाधारण के उपकार की दृष्टि से ही लिखा गया है। आदिपुराण में जितनी दार्शनिक सामग्री उपलब्ध होती है शायद उतनी अन्य जैन पुराणों में नहीं। दर्शन की दृष्टि से कोई ऐसा विषय नहीं जो आदिपुराण के अध्ययन से न प्राप्त होता हो। आदिपुराण के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्पूर्ण जैनागमों का सार इसमें निहित है।

आदिपुराण में जिनसेन के शिष्य गुणभद्राचार्य ने पुराण तथा अपने गुरु की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि "आगमरूपी समुद्र से उत्पन्न हुए इस धर्मरूपी महारत्न को कौस्तुभमणि से भी अधिक मूल्यवान मानकर अपने हृदय में धारण करें, क्योंकि इसमें सुभाषितरूपी रत्नों का संचय किया गया है। यह पुराणरूपी समुद्र अत्यन्त गम्भीर है, इसका किनारा बहुत दूर है इस विषय में मुझे कुछ भी भय नहीं है, क्योंकि सब जगह दुर्लभ और सबसे श्रेष्ठ गुरु जिनसेनाचार्य का मार्ग मेरे आगे है, इसलिए मैं भी उनके मार्ग का अनुगामी शिष्य प्रशस्त मार्ग का आलम्बन कर अवश्य ही पुराण पार हो जाऊँगा।"
(उत्तरपुराण 43.35-40)

आदिपुराण महाकाव्य है, आध्यात्मिक शास्त्र है, आचारशास्त्र है और युग की आद्य व्यवस्था को बतलाने वाला महान ऐतिहासिक ग्रन्थ है। इसके प्रतिपाद्य विषयों को देखकर यह दृढ़ता से लिखा जा सकता है कि जो अन्य ग्रन्थों में प्रतिपादित है वह इसमें प्रतिपादित है और जो इसमें प्रतिपादित नहीं है वह अन्यत्र कहीं भी प्रतिपादित नहीं है।

जैन आगमों में बिखरी दार्शनिक समस्त सामग्री का सारल्येन अध्ययन करना हो तो इस पुराण का अध्ययन करना नितान्त आवश्यक हो जाता है। आज के युग में प्रत्येक व्यक्ति के लिए समस्त द्वादशाङ्गों का अध्ययन करना कठिन प्रतीत होता है। जैन दर्शन की बिखरी दार्शनिक सामग्री जन-कल्याण में स्वाध्याय की रुचि, उत्साह और लग्न बढ़ाने के लिए एक माला के रूप में पिरोकर आदिपुराण ग्रन्थ में रखी गई है।

आदिपुराण जैन साहित्य के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में से एक उत्कृष्ट कोटि का ग्रन्थ है। यह प्रमाणिक महापुरुषों के द्वारा रचा होने के कारण आप्त ग्रन्थ के

समान है। उनकी प्रामाणिकता ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप से परिपूर्ण जीवन से हमें अनुभव होती है। आदिपुराण द्वादशाङ्गी वाणी के दार्शनिक तत्त्वों की महत्ता को दर्शाने में पूर्णरूप से सक्षम हैं।

यदि आदिपुराण के मर्म को जानना है तो इससे पूर्व इसमें निहित दार्शनिक रहस्यों की व्याख्या करना और उनको समझना नितान्त आवश्यक है। इसीलिए आदिपुराण के स्वारस्य को समझने के लिए कथाओं के माध्यम से दार्शनिक तत्त्वों पर यत्र-तत्र प्रसंगवश प्रकाश डाला गया है। उन्हीं तत्त्वों का, जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में, शोध की दृष्टि से उद्घाटन करना आवश्यक समझा गया। यही कारण है कि आज वह उद्भावना शोध-प्रबन्ध के रूप में प्रस्तुत है।

आदिपुराण में जीव का स्वरूप, उसके प्राप्ति के साधन, उसके अन्वेषण करने के लिए चौदह मार्गणास्थान और नरक-स्वर्ग आदि का विस्तृत और मार्मिक वर्णन प्राप्त होता है। कर्म का स्वरूप कर्मबन्ध के हेतु कर्म के भेदोपभेद की चर्चा भी की गई है। इसमें जीव के लिए आध्यात्मिक शान्ति और अन्तिम लक्ष्य मुक्ति प्राप्त करने का जितना सरल और सुविस्तृत वर्णन मिलता है उतना अन्य ग्रन्थों में नहीं।

जैन दर्शन ही एक ऐसा दर्शन है जो जीवात्मा को ही परमात्मास्वरूप होना स्वीकार करता है। जब जीवात्मा अपने शुद्ध, निर्मल स्वरूप में भासित होता है अर्थात् राग-द्वेष आदि बन्धनों से रहित होता है, तब वही जीव ईश्वर हो जाता है। इसलिए जीव को ईश्वर ने बनाया है-यह अवधारणा समाप्त हो जाती है। जैन दर्शन के समान ही जीवात्मा अपने पूर्व जन्म में किये हुए कर्मों के कारण ही संसार में दु:ख-सुख भोगता है, अन्य किसी कारण से नहीं। ईश्वर किसी को दु:ख-सुख देने वाला नहीं। आदिपुराण के अध्ययन से सुस्पष्ट हो जाता है।

जैन दर्शन के विषयों का आदिपुराण में कहीं अधिक विस्तार से और कहीं अधिक संक्षेप से समायोजन मिलता है। शोध-प्रबन्ध में अध्यायों की संख्या आशा से कहीं अधिक हो रही थी। अत: उन सभी विषयों को संक्षिप्त करते हुए निम्नलिखित सात अध्यायों में क्रमबद्ध करने का प्रयत्न किया गया है : प्रत्येक अध्याय के अन्त में समीक्षा दी गई है।

प्रथम अध्याय आदिपुराण में दार्शनिक पृष्ठभूमि आगम परिचय, आगम, गणिपिटक, सूत्र, आगमों का निर्माण, प्रमुख वाचनाएँ, जैन आगमों की संख्या, दिगम्बर आगम, जैन दार्शनिक एवं उनका साहित्य-आचार उमास्वाति और

तत्त्वार्थ सूत्र, तत्त्वार्थ पर टीकाएँ, आचार्य कुन्दकुन्द और उनका ग्रन्थ साहित्य, सिद्धसेन दिवाकर, समन्तभद्र आदि अनेक विद्वानों के साहित्य का परिचय दिया गया है।

पुराण परिचय पुराण शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ, पुराण का अर्थ पुराण का लक्षण, जैनधर्म के अनुसार पुराण शब्द का अर्थ, पुराण के पर्यायवाची, आदिपुराण में पुराण का लक्षण, आदिपुराण में महापुराण की परिभाषा, आदिपुराण महाकाव्य का लक्षण, चौबीस तीर्थंकरों का संकेत, पुराणों की गणना, आदिपुराण का विवेच्य विषय।

आचार्य जिनसेन का व्यक्तित्व और कृतित्व का विवेचन किया गया है।

द्वितीय अध्याय इस अध्याय में तत्त्व विमर्श, पदार्थ संख्या, षड्द्रव्य, जीव का लक्षण, जीव का स्वरूप, अन्य मतावलम्बियों द्वारा आत्मा पर चर्चा, आत्मा के पर्याय, जीव की अवस्थाएँ, आत्म के विकास क्रम की अवस्था चौदह गुणस्थानों, चौदह मार्गणाएँ एवं आठ अनुयोग जीव के शरीर के प्रकारों का वर्णन है।

तृतीय अध्याय इस अध्याय में नरक-स्वर्ग पर विचार किया गया है।

नरक – नरक और उसके प्रकार, जाने के हेतु, नरक में जीवों की उत्पत्ति, नरक की वेदनाएँ, नरक में बिलों की गिनती, नारकियों की आयु, शरीर परिमाण, उनकी आकृति लेश्याएँ, शरीर की स्पर्श, आहार, कौन-सी नरक से निकले जीव कौन-सी अवस्था को प्राप्त होते हैं। नारकियों की सम्पूर्ण स्थिति का वर्णन किया गया है।

मध्यलोक का संक्षिप्त वर्णन, **स्वर्ग (देवलोक) ऊर्ध्वलोक** – देव, उनकी उत्पत्ति, देवों के प्रकार, स्वर्ग की परिभाषा, स्थिति, इन्द्रादि देवों के दश भेद, सौधर्म से लेकर अच्युत देवलोक की प्राप्ति के हेतु, देवों में दुःख का कारण छब्बीस स्वर्गों के स्वरूप का विस्तृत वर्णन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय इस अध्याय के अंतर्गत अजीव तत्त्व और उनके प्रकार, भेदोपभेद, कार्मण पुद्गल कर्म की परिभाषा उसके भेदोपभेद, कर्मबन्ध और उसके प्रकार, बन्ध के हेतु, काल और उसके भेदोपभेदों पर सविस्तार चर्चा है।

पंचमाध्याय इस अध्याय में पुण्य-पाप, आस्रव, संवर निर्जरा, निर्जरा के हेतु तप, ऋद्धि दान पर विचार किया गया है।

पुण्य-पाप और उसके प्रकार। आस्रव और उसके प्रकार, भेदोपभेद। संवर का लक्षण, संवर के प्रकार और हेतु। निर्जरा और उसका साधन तप, तप की परिभाषा, उसके भेदोपभेद, दान, व्रत, उसके भेदों आदि का विश्लेषण किया है।

षष्टम् अध्याय इस अध्याय में ईश्वर सम्बन्धी विभिन्न धारणाएँ और रत्नत्रय पर विचार किया गया है। इसमें ईश्वर सृष्टिकर्त्ता नहीं (विभिन्न मान्यताएँ)।

रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान उसके भेदोपभेद नय, स्याद्वाद सप्तभंगी, सम्यग्चारित्र और उसके भेद आदि का वर्णन किया गया है।

सप्तमाध्याय इस अध्याय में मोक्ष और सिद्धशिला पर विचार किया गया है। मोक्ष और उसके भेद, सिद्ध का स्वरूप, उसके गुण सिद्धशिला का परिमाण आदि विषयों पर विचार किया गया है।

मन्जु बाला
(साध्वी सुप्रिया)

आभार प्रदर्शन

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध गुरुजनों, शुभचिन्तकों, सहयोगियों की प्रेरणा तथा विभिन्न संस्थाओं के सहयोग से ही पूर्ण हो सका है, अतः उन सबके प्रति आभार व्यक्त करना मैं अपना परम पवित्र कर्त्तव्य समझती हूँ।

सर्वप्रथम श्रमण संघ के चतुर्थ पट्टधर जन-जन के तारक, मैत्री के मसीहा, ध्यान योगी आचार्य सम्राट पूज्य डॉ. श्री शिवमुनि जी महाराज की अति आभारी हूँ, जिन्होंने मेरे उत्साह के लिए शुभाशीर्वाद लिखकर भेजा है। साथ ही अध्ययन हेतु ग्रन्थ उपलब्ध करवाते रहे हैं। इसके अतिरिक्त मैं परम श्रद्धेय उत्तर भारतीय प्रवर्त्तक भण्डारी श्री पद्म चन्द जी म. का एवं उनके सुयोग्य विनयवान् सुशिष्य वाणी के जादूगर साहित्य सम्राट प्रवर्त्तक परम श्रद्धेय गुरुदेव श्री अमर मुनि जी म., आत्मकुल कमल दिवाकर श्रमण रत्न भोले बाबा गुरुदेव श्रद्धेय श्रीरत्न मुनि जी म. व्याख्यान वाचस्पति ग्राम-सुधारक परम श्रद्धेय गुरुदेव श्रीक्रान्ति मुनि जी म. सरस्वती पुत्र साहित्य जगत के ज्योतिर्मय नक्षत्र उपाध्याय प्रवर परम श्रद्धेय श्रीरमेश मुनि जी म., जिन्होंने इस ग्रन्थ की प्रस्तावना लिखकर मुझ पर महान् उपकार किया तथा अपनी उदारता का परिचय दिया है। इन सभी के शुभाशीर्वाद और अपार कृपा से यह शोध प्रबन्ध लिख सकी हूँ।

मैं विशेषकर आगम ज्ञाता परम श्रद्धेय परम उपकारी उपाध्याय प्रवर गुरुदेव श्री जितेन्द्र मुनि जी म. की बहुत-बहुत आभारी हूँ जिन्होंने मेरे लेखन कार्य में अपना अमूल्य समय प्रदान किया एवं आगमों का गहन गम्भीर अध्ययन करवाया। समय-समय पर वे अपना शुभाशीर्वाद भी मुझे प्रदान करते रहे हैं। गुरुदेव की मैं सदैव ऋणी रहूँगी।

मैं अपनी बड़ी दादी गुरुणी जी म. कण्ठकोकिला परम उपकारिणी ब्रह्मचारिणी उपप्रवर्तिनी महासती श्री सीता जी म. व संयम साधिका परम श्रद्धेया महासती श्रीशिमला जी म. (अबोहर वाले) एवं तपसिद्ध योगिनी परम तेजस्विनी जीवननिर्मात्री जन-जन कल्याणकारिणी श्रद्धामयी, उग्रतपस्विनी महासती श्री सुमित्रा जी म., तप सिद्ध योगिनी परम यशस्विनी परम-विदुषी दीप्ततपस्विनी महासती श्रीसन्तोष जी म. की अन्तःकरण से आभारी हूँ जो मेरी संसार पक्ष

से दोनों मासी जी हैं। जिन्होंने मुझे संसार की दलदल से निकालकर वीतराग पथ की पथिका बनाकर सदैव अध्ययन में रत रहने का पावन सन्देश दिया, जिनकी सतत् प्रेरणा व अन्तरंग आशीर्वाद से मैं इस लेखन कार्य के योग्य हुई हूँ और संयम के मार्ग में सतत् आगे बढ़ती रही हूँ। उन्हीं के अनन्त उपकारों की मैं सदैव उपकृत हूँ। उन्हीं की सद्भावनाएँ मेरे लिए मार्गदर्शन बनी। हृदय की असीम आस्था से अत्यन्त आभारी हूँ, ऋणी हूँ साथ ही तप रत्नेश्वरी शासन प्रभाविका तप्त तपस्विनी महासती डॉ. श्री सुनीता जी म., शासन ज्योति तपस्विनी महासती श्री उषा जी म. की भी मैं बहुत आभारी हूँ जिन्होंने समय-समय पर मुझे अपना सहयोग प्रदान दिया। सेवा के हर कार्य में सदैव तत्पर रही हैं। समस्त साध्वी मण्डल का साधुवाद करना भी मैं अपना कर्त्तव्य समझती हूँ जिनका यथायोग्य योगदान मुझे हर समय हर स्थिति में मिलता रहा है।

मैं अपने विद्वान् एवं कुशल निर्देशक दर्शन ने विद्वान डॉ. श्री प्रेम लाल शर्मा की भी बहुत आभारी हूँ जिन्होंने अपना अमूल्य समय देकर मेरे इस शोधकार्य को उत्साह, लग्न और पुरुषार्थ से सम्पन्न करवाया। डॉ. साहब ने हमारी साध्वी-जीवन की मर्यादाओं को ध्यान में रखते हुए, गर्मी-सर्दी व दु:ख-सुख की परवाह न करते हुए सदैव हमारे स्थान पर व होशियारपुर से बाहर आकर मुझे मार्गदर्शन देते रहे। उनकी सेवाएँ, कर्त्तव्यनिष्ठता और परोपकार हम कभी भी विस्मृत नहीं कर सकते। मैं अन्त:करण से उनका बहुत-बहुत धन्यवाद करती हूँ और सदैव उनकी आभारी रहूँगी। साथ ही प्रोफेसर श्रीइन्द्र दत्त उनियाल जी डाइरेक्टर, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान होशियारपुर भी धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने हमें योग्य और विद्वान निर्देशक की सलाह दी तथा स्वयं भी समय-समय पर हमारी कठिन समस्याओं का समाधान अपना कीमती समय देकर करते रहे। आपका धन्यवाद करने के लिए हमारे पास शब्द नहीं है। आपका सद्भाव, परोपकारिता, गृहीतव्रतता एवं वैदुष्य हमें सदैव स्मरणीय रहेगा।

पंजाबी विश्वविद्यालय के विद्वान् डॉ. श्री धर्मसिंह जी की भी मैं अन्त:करण से अत्यधिक आभारी हूँ जिन्होंने मुझे इस योग्य बनाया और इस लक्ष्य तक पहुँचाया। उनकी अध्यापन सम्बन्धित सेवाएँ मैं कभी भी भुला नहीं सकती। उनकी सद्भावना, सतत् सहयोग अन्तरंग प्रेरणा ही मेरे लिए कदम कदम पर सहयागी रहीं हैं।

डॉ. संजय जैन (पटियाला निवासी) का भी धन्यवाद करती हूँ जिन्होंने मेरे अध्ययन कार्य में बहुत सहयोग दिया है तथा अपना अमूल्य समय देकर

अध्यापन सम्बन्धी सेवाएँ करते रहे हैं। इनका सदैव योगदान मुझे प्राप्त होता रहा है। श्री वीर सिंह जैन (पंचकूला निवासी) की भी मैं आभारी हूँ जो पंजाब यूनिवर्सिटी के प्रत्येक कार्य को सहर्ष करते रहे हैं। मैं धर्मनिष्ठ सुश्रावक भाई श्री जितेन्द्र जी (जैन साहब) का हृदय से आभार व्यक्त करती हूँ जो हमारे अध्ययन को सुचारु-रूपेण चलाने में योग्य प्रोफेसरों की व्यवस्था करते रहे हैं और हमारे उत्साह को बढ़ाते रहे हैं।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन के सन्दर्भ में मैं धर्मनिष्ठ सुश्रावक श्री किशोर चन्द्र के सुपुत्र श्री रमण जी की मैं आभारी हूँ जिन्होंने अत्यन्त अल्प समय में इस पुस्तक का मुद्रण कराया।

धर्म परायणा सुश्राविका माता श्री तारा देवी जैन पिता दानवीर सेठ धर्मनिष्ठ सुश्रावक श्री हरिचन्द (गुजरवाल वाले) की मधुर-स्मृति में उनकी पुत्रवधू स्नेहशीला बहन श्री उषा जी धर्मपत्नी उदारहृदयी सेवाभावी सुश्रावक श्री रोहताश जैन (जैन कम्प्यूटर धर्मकण्डा, मो. 9417026805) होशियारपुर निवासी ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन का सम्पूर्ण लाभ लिया है। यह परिवार सदैव सेवा-भक्ति व धर्म-ध्यान, श्रद्धा-भावना से ओत-प्रोत रहा है। श्रद्धेया गुरुणी जी म. का हार्दिक आशीर्वाद इस परिवार पर बना रहे। इस प्रकार धर्म-प्रभावना के क्षेत्र में अग्रसर होता रहे। यही मेरी मंगल-कामना व शुभ भावना है।

मैं अन्त में होशियारपुर श्री संघ की भी बहुत आभारी हूँ – जिस समाज ने हमें योग्य बनाने के लिए हमारा बहुत साथ दिया है और हमारा कदम-कदम पर सभी दृष्टियों से ध्यान रखा है। हमें होशियारपुर श्री संघ की सेवा-भक्ति सदैव स्मरणीया रहेगी।

– साध्वी सुप्रिया

विषयानुक्रमणिका

प्रस्तावना (*i*)

पुरोवाक् (*vii*)

भूमिका (*xi*)

प्रथम अध्याय

आदिपुराण में दार्शनिक पृष्ठभूमि 1–39

आगम परिचय, पुराण परिचय

आगम परिचय; आगम; गणि-पिटक; सूत्र; पूर्वा का वर्णन, आगमों का निर्माण एवं प्रमुख वाचनाएँ; जैन आगमों की संख्या

जैन दार्शनिक एवं उनका साहित्य 9

आचार्य उमास्वाति और तत्वार्थ सूत्र; तत्वार्थ पर टीकाएँ; आचार्य कुन्दकुन्द-ग्रन्थ साहित्य; सिद्धसेन दिवाकर; समन्तभद्र; हरिभद्र; भट्ट अकलङ्क; विद्यानन्द; अवान्तरयुगीन दार्शनिक साहित्य; देवसूरि; हेमचन्द्र; मल्लिषेणसूरि; गुणरत्न; यशोविजय

पुराण परिचय 14

पुराण शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ; पुराण का अर्थ; पुराण का लक्षण; पुराण के पर्यायवाची; आदिपुराण में पुराण का लक्षण; आदिपुराण में महापुराण की परिभाषा; आदिपुराण महाकाव्य का लक्षण; चौबीस तीर्थंकरों का संकेत; पुराणों की गणना; जैन और बुद्धपुराण; जैन पुराण; आदिपुराण का – विवेच्य विषय; आदिपुराण में वर्णित सात अंग; पुराण में वर्णित विषय और उनका लक्षण; आचार्य जिनसेन का व्यक्तित्व और कृतित्व

द्वितीय अध्याय

आदिपुराण में तत्त्व विमर्श व जीव तत्त्व विषयक विचारधाराएँ 40–103

तत्त्व विमर्श; पदार्थ संख्या; षड् द्रव्य; जीव द्रव्य-जीव का लक्षण

अथवा स्वरूप; आत्मा के पर्याय; जीव की अवस्थाएँ; चौदह गुणस्थान; चौदह मार्गणाएँ एवं आठ अनुयोग; जीव के औदारिकादि शरीर; समीक्षा

तृतीय अध्याय

आदिपुराण में नरक स्वर्ग विमर्श 104–151

नरक एवं स्वर्ग; नरक और उसके प्रकार; नरक (अधोलोक); नारकों की संख्या; नरक में जाने के हेतु; कौन से जीव नरक में जाते हैं; कौन से जीव कौन सी नरक में आते हैं; नरक में जीवों की उत्पत्ति; नरक में नारकी जीवों की वेदनाएँ; नरक में बिलों की गिनती; नारकियों की आयु; नारकी जीवों के शरीर का परिमाण; नारकी जीवों के शरीर की आकृति; नारकी जीवों में लेश्याएँ; नारकी जीवों में रस और दुर्गन्ध; नारकी जीवों के शरीर का स्पर्श; नारकियों के रूप; नारकियों का आहार; कौन सी नरक से निकले जीव कौन सी अवस्था को प्राप्त होते हैं; मध्यलोक – (तिर्यक् लोक); देव एवं स्वर्गलोक (ऊर्ध्वलोक); देव और उनकी उत्पत्ति; देवलोक में देवों की उत्पत्ति; देवों के प्रकार; स्वर्ग की परिभाषा; स्वर्ग लोक की स्थिति; स्वर्गों में इन्द्रादि देवों के दश भेद; देवों में दुःख का कारण; स्वर्ग छोड़ने से पूर्व देवताओं की स्थिति; अहमिन्द्र का लक्षण और विशेषताएँ; अहमिन्द्रों की विशेषताएँ; छब्बीस स्वर्गों का स्वरूप; समीक्षा

चतुर्थऽध्याय

आदिपुराण में अजीव तत्त्व विमर्श 152–190

अजीव द्रव्य और उनके प्रकार 152

अजीव तत्त्व और उसके भेदोपभेद; कार्मण पुद्गल; कर्म की परिभाषा और उसके भेदोपभेद; कर्मबन्ध और उसके प्रकार; बन्ध के हेतु; समीक्षा; काल और उसके भेदोपभेद; काल परिमाण तालिका; समीक्षा

पंचम अध्याय

आदिपुराण में पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, निर्जरा के हेतु तप, ऋद्धि, दान विमर्श 191–300

पुण्य पाप 190

पुण्य-पाप और उसके प्रकार; समीक्षा

आस्रव 195

आस्रव और उसके प्रकार; आस्रव के भेदोपभेद; समीक्षा

संवर 200

व्युत्पत्ति और उसका लक्षण; संवर के प्रकार और हेतु; समीक्षा

निर्जरा 212

निर्जरा और उसका साधन-तप 213

तप की परिभाषा और उसके भेदोपभेद

ऋद्धि 242

ऋद्धि का स्वरूप और उसके भेदोपभेद; निर्जरा साधन-दान; समीक्षा; निर्जरा साधन-व्रत; समीक्षा

षष्ठ अध्याय

आदिपुराण में ईश्वर सम्बन्धी विभिन्न धारणाएँ एवं रत्नत्रय विमर्श 301–334

ईश्वर – सृष्टिकर्ता नहीं; रत्नत्रय; सम्यग्दर्शन और उसके अंग इत्यादि; सम्यग्ज्ञान और भेदोपभेद; नय, स्याद्वाद, सप्तभंगी; समीक्षा; सम्यक्चारित्र और उसके भेद; समीक्षा

सप्तम अध्याय

आदिपुराण में मोक्ष और सिद्धशिला विमर्श 335–343

मोक्ष और उसके भेद; सिद्ध का स्वरूप और उसके गुण; सिद्ध शिला; समीक्षा

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची अनुक्रमणिका 344

सन्दर्भ-ग्रन्थ-संकेत-सूची

अ.ध.	अनगार धर्मामृत
अ.ग.श्रा.	अमितगति श्रावकाचार
अन्त.सू.	अन्तकृदशाङ्ग सूत्र
अ.वे.	अथर्ववेद
अन्ययोग-व्यवच्छोदिका	अन्ययोग व्यवच्छेदिका
अनु.सू.	अनुयोगद्वार सूत्र
आ.पु.	आदिपुराण
आ.सू.	आचारङ्ग सूत्र
आ.म.	आवश्यक मलयगिरी
आ.गु.सू.	आश्वलायन गृहसूत्र
आ.नि.	आवश्यक निर्युक्ति
आ.प.	आलाप पद्धति
उत्तरा.सू.	उत्तराध्ययन सूत्र
उत्ता.सू.वृ.वृ.	उत्तराध्ययन सूत्र वृ.वृ.
उपासक.सू.	उपासक दशाङ्ग सूत्र
औप.सू.	औपपातिक सूत्र
कर्म.ग्र.	कर्म ग्रन्थ
कर्म.वि.	कर्म विज्ञान
कर्म.प्र.	कर्म प्रकृति
कर्म.ग्र.स्वो.टी.	कर्म ग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका
कषाय पाहुड	कषाय पाहुड
को.अ.शा.	कौटिल्य अर्थशास्त्र

गी.	गीता
गो.जी.	गोम्मटसार (जीव काण्ड)
गो.ब्रा.	गोपथ ब्राह्मण
ज्ञा.सा.	ज्ञानसार
चा.सा.	चारित्रसार
छा.उ.	छान्दोग्य उपनिषद्
ज.प.	जम्बूद्वीप पण्णत्ति संग्रहो
जीवा.भि.सू.	जीवाजीवभिगम सूत्र
जै.द.	जैन दर्शन
जै. सा.का.वृ.इ.	जैन साहित्य का बृहद् इतिहास
जै.त.प्र.	जैन तत्त्व प्रकाश
जै.सि.दी.	जैन सिद्धान्त दीपिका
जै.दर्शन स्व. और विश्ले.	जैन दर्शन स्वरूप और विश्लेषण
जै.ध. के प्र.आ.	जैन धर्म के प्रभावक आचार्य
जै.सा. और इ.	जैन साहित्य और इतिहास
जै.ध.	जैन धर्म
जै.सि.को.	जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश (1-4 भाग)
जै.ध. एक अनु.	जैन धर्म एक अनुशीलन
त.अनु.	तत्त्वानुशासन
त.सू.	तत्त्वार्थ सूत्र
त.सा.	तत्त्वार्थाधिगमसार
तत्त्वार्था.भा.	तत्त्वार्थाधिगम भाष्य
त्रि.सा.	त्रिलोक सार
दशा.स्कन्ध	दशाश्रुत स्कन्ध
द.पा.	दर्शन पाहुड़
द्र.स.	द्रव्य संग्रह

द्वा.द्वा.	द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका
ध.	धवला
नय चक्र	नयचक्र
नन्दी सू.	नन्दी सूत्र
ना.र.	नानार्थ रत्नमाला
ना.वि.श.सा.	नालन्दा विशाल शब्द सागर
नि.	निरुक्त
नि.प्र.	निर्ग्रन्थ प्रवचन
नि.सा.	नियम सार
नि.सा.ता.वृ.	नियमसार तात्पर्य वृत्ति
न्या.को.	न्यायकोश
न्या.द.	न्यायदर्शन
पंचास्ति का.	पंचास्तिकाय
पं.का.ता.वृ.	पंचास्तिकाय तात्पर्य वृत्ति
पं.सं.	पंच संग्रह (संस्कृत)
प.पु.	पद्म पुराण
प.प्र.	परमात्म प्रकाश
प.च.को.	पद्म चन्द्र कोश
प.पंच.अ.	पद्मनन्दि पंचविंशतिका
पा.	पाणिनी
पा.स.म.	पाइअ सद्द महण्णवो (प्राकृत कोश)
पु.सि.	पुरुषार्थ सिद्धयुपाय
पौ.र.स.अ.	पौराणिक रहस्यों का समीक्षात्मक अनुशीलन
प्र.न.त.	प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार
प्र.सू.	प्रज्ञापना सूत्र

प्र.सा.	प्रवचन सार
प्र.पा.भा.	प्रशस्तापादभाष्य
वा.रा.	वाल्मीकि रामायण
ब्र.पु.	ब्रह्माण्ड पुराण
ब्र.सू.शं.भाष्य	ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य
भा.द.	भारतीय दर्शन
भ.आ.	भगवती आराधना
भा.पु.	भागवत् पुराण
भा.सं. में जै.ध. का योगदान	भारतीय साहित्य में जैनधर्म का योगदान
भा.आ.हि.श.को.	भार्गव आदर्श हिन्दी कोश
म.स.	मनुस्मृति
मत्स्य पु.	मत्स्य पुराण
म.भा.आ.प.	महाभारत आदि पुराण
मू.चा.	मूलाचार
मे.को.	मेदिनी कोश
मो.पंच.	मोक्ष पंचाशिका
मो.पा.	मोक्ष पाहुड़
यो.प्र.	योगसार प्राभृत
रत्न श्रा.	रत्नकरण्ड श्रावकाचार
रा.वा.	राजवार्तिक
ला.सं.	लाटी संहिता
व.श्रा.	वसुनन्दि श्रावकाचार
वा.पु.	वायु पुराण
वि.सू.	विपाक सूत्र
वि.भा.	विशेषावश्यक भाष्य

वे.सा.	वेदांतसार
वै.सू.	वैशेषिक सूत्र
वृ.न.च.	वृहद्नयचक्र
श.कल्पद्रुम	शब्द कल्पद्रुम
श.प.ब्रा.	शतपथ ब्राह्मण
शु.नी.	शुक्रनीति
षट् ख	षट्खण्डागम
सा.सू.	सांख्यसूत्र
सं.सा.का.इ.	संस्कृत साहित्य का इतिहास
सं.हि.को.	संस्कृत हिन्दी कोश
स.सा.	समयसार
स.भगीतरंगिनी	सप्तभंगीतरंगिनी
सर्व.द.सं.	सर्वदर्शन संग्रह
स.सि.	सर्वार्थ सिद्धि
स.श.	समाधि शतक
सम.सु.	समवायङ्ग सूत्र
सि.वि.	सिद्धिविनिश्चय
सि.श.	सिद्धान्त शिरोमणि
सि.सा.सं.	सिद्धान्त सार संग्रह
सु.र.स.	सुभाषित रत्न संदोह
सू.कृ.शी.वृ.	सूत्रकृताङ्ग शीलावृत्ति
स्था.सू.	स्थानांग सूत्र
स्थाद्वाद मंजरी	स्थाद्वाद मंजरी
ह.पु.	हरिवंश पुराण
हे.को.	हेमचन्द्र कोश

प्रथम अध्याय

आदिपुराण की दार्शनिक पृष्ठभूमि

आगम परिचय, पुराण परिचय

जैन साहित्य में पुराणों का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनमें भी आदिपुराण का विशेष महत्त्व है। आदिपुराण आचार्य जिनसेन स्वामी की महान् कृति है। आदिपुराण में सैंतालीस पर्व हैं जिनमें प्रारम्भ के बयालीस पर्व और तैंतालीसवें पर्व के तीन श्लोक जिनसेनाचार्य द्वारा रचित हैं। शेष पर्वों के 1620 श्लोक उनके शिष्य गुणभद्राचार्य द्वारा विरचित हैं। आदिपुराण के कुल श्लोकों की संख्या 12000 है। आदिपुराण में जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव तथा उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती का ही वर्णन है।

पुराण शब्द सुनने से जन साधारण का ध्यान सनातन धर्म के अट्ठारह पुराणों की ओर केन्द्रित हो जाता है, परन्तु जैनधर्म में भी चौबीस तीर्थंकरों के चौबीस पुराण कहे गये हैं। इसके अतिरिक्त भी आदिपुराण की प्रस्तावना में अनेक पुराणों के नामों का उल्लेख मिलता है। इसलिए जैन साहित्य में पुराणों का नाम बड़े आदर से लिया जाता है।

आदिपुराण में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का सम्पूर्ण जीवन-चरित्र सुविस्तृत ढंग से प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थकार का उद्देश्य केवल ऋषभदेव के वर्तमान भव के साथ साथ पूर्व के दस भवों का ही सुन्दर वर्णन करना नहीं है, अपितु रोचक कथाओं के माध्यम से कहीं न कहीं दार्शनिक तत्त्वों का भी वर्णन करना है।

जैन दर्शन में मुख्य रूप से दो ही तत्त्व माने जाते हैं-जीव, अजीव। सम्पूर्ण जैन दर्शन इन दो तत्त्वों पर ही आधारित हैं। आदिपुराण में कहीं सात और कहीं नौ तत्त्वों का उल्लेख है। पुराण क्या है? पुराणों का वर्णित विषय क्या है? यह उल्लेख करने से पहले आदिपुराण में वर्णित दार्शनिक तत्त्वों का जो द्वादशाङ्गी तथा द्वादशाङ्गी आगमों पर आधारित हैं। द्वादशाङ्गी में आगम क्या है और उनके रचयिता कौन है? इस विषय पर सर्वप्रथम चर्चा करेंगे।

विश्व में अनेक धर्म सम्प्रदाय हैं। प्रत्येक का अपना-अपना साहित्य है। विश्व के धर्म सम्प्रदायों में भारतीय धर्मों का और भारतीय धर्मों में जैन धर्म का विशिष्ट स्थान है। जैन धर्म एक होने पर भी काल प्रवाह के कारण गंगा नदी के समान अनेक भागों में बँट गया है। इन सम्प्रदायों में मतभेद होने पर भी समानता बहुत है– श्वेताम्बर और दिगम्बर मूल में दो धाराएँ हैं। दोनों का अपना-अपना साहित्य है।

श्वेताम्बर जैन साहित्य दो विभागों में विभक्त है–(1) आगम साहित्य, (2) आगमेत्तर साहित्य। तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट, गणधरों एवं पूर्वधर स्थविरों द्वारा रचित साहित्य को आगम और आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों को आगमेत्तर साहित्य की संज्ञा दी गई है।

दिगम्बर परम्परा आगमों को लुप्त मानती है। दिगम्बर साहित्य को अनुयोगों के अनुसार चार भागों में विभक्त किया गया है। उनके नाम इस प्रकार हैं–(1) प्रथमानुयोग, (2) करणानुयोग, (3) चरणानुयोग, (4) द्रव्यानुयोग। प्रथमानुयोग में महापुरुषों का जीवन-चरित है। करणानुयोग में लोकालोक विभक्ति काल, गणित आदि का वर्णन है। चरणानुयोग में आचार का निरूपण है और द्रव्यानुयोग में द्रव्य, गुण, पर्याय, तत्त्व आदि का विश्लेषण है।[1]

प्रथमानुयोग में महापुराण और अन्य पुराण साहित्य आता है। महापुराण में आदिपुराण का स्थान सर्वतोत्कृष्ट माना गया है। आदिपुराण में जो भी विवेच्य है वह सब द्वादशाङ्गी का विषय है। आदिपुराण में द्वादशाङ्गी से बाहर कुछ भी नहीं है। इसलिए आदिपुराण में कहा गया है–

पुराणस्यास्य वक्तव्यं कृत्स्नं वाङ्मयमिष्यते।
यतो नास्माद्बहिर्भूतमस्ति वस्तु वचोऽपि वा।। *आ.पु. 2.115*

आदिपुराण के दार्शनिक तत्त्वों पर एक विहंगम दृष्टि डालना प्रसंगानुकूल ही प्रतीत होता है।

आगम

जैन परम्परा में शास्त्रों के लिये "श्रुत" शब्द के समान आज "आगम" शब्द विशेष रूप से प्रचलित हो गया है। जबकि प्राचीनकाल में इनके लिये "श्रुत" शब्द की ही विशेष महत्ता थी। इसीलिये श्रुत-केवली, श्रुत-स्थविर आदि शब्द प्रचलित हुए। "आगम" शब्द भी प्रयुक्त होता था, परन्तु वह विशेष प्रसिद्ध न था।[2] आचार्य उमास्वाति काल विक्रम की पहली शताब्दी के

लगभग माना जाता है। श्रुत के पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख करते हुए- आप्त-वचन, आगम, उपदेश, ऐतिह्य, आम्नाय, प्रवचन और जिनवचन – ये उन्होंने बताया है-शब्द श्रुत के स्थान पर प्रयुक्त होने वाले बताए हैं।[3] अनुयोगद्वार सूत्र में भी लोकोत्तर आगमों में समस्त श्रुत-साहित्य को स्थान दिया गया है।[4] अत: ''आगम'' शब्द की प्राचीनता तो निर्बाध है क्योंकि जो परम्परा से चले आ रहे हैं–''**आगच्छतीति परम्परया आगम:**'' वे आगम हैं।

गणि-पिटक

श्रुत-समूह के लिये गणि-पिटक शब्द का भी प्रयोग होता है। ''पिटक'' शब्द का सामान्य अर्थ है पिटारा अर्थात् भंडार। श्रुत साहित्य गणनायक आचार्यों के लिये ज्ञान का भंडार था। - वह उनका सर्वस्व था। उसी को वे सर्वदा अपने शिष्यों-प्रशिष्यों को बाँटा करते थे। अत: श्रुत-साहित्य के लिये ''गणि-पिटक'' शब्द भी प्रचलित हो गया।[5]

सूत्र

शास्त्र के लिये सूत्र शब्द भी प्रयुक्त होता है। सूत्र शब्द की अनेक निरुक्तियाँ की गई हैं–जैसे कि **''सूचयतीति सूत्रम्''** – जो अर्थ को सूचित करता है, उसे सूत्र कहते हैं। **''सीव्यतीति सूत्रम्''** जो अर्थ को शब्दों के साथ गूंथ देता है वह सूत्र है! – 'सुवतीति सूत्रम्' जो ज्ञानधारा को प्रवाहित करता है वह सूत्र है। **''अनुसरतीति सूत्रम्''** – जो केवली-भाषित अर्थ का अनुसरण करता है और जिसका अनुसरण अन्य मुमुक्षु करते हैं उसे सूत्र कहा जाता है। वस्तुत: थोड़े शब्दों में अधिक अर्थ प्रकट करने के कारण आगम सूत्र कहलाते हैं।[6]

भगवान महावीर से पहले आगम साहित्य का विभाजन 14 पूर्वों के रूप में होता था, उनके पश्चात् यह विभाजन अंगप्रविष्ट तथा अंग बाह्य के रूप में होने लगा। पूर्वों का जो ज्ञान अवशिष्ट था, उसे 12वें अंग दृष्टिवाद में सम्मिलित कर लिया गया।

1. पूर्वों का वर्णन

अंग सूत्रों की रचना करने से पहले गणधरों को जो ज्ञान होता है वह पूर्वगत ज्ञान कहलाता है। जब तीर्थंकर भगवान देशना-प्रवचन कहते हैं, तब वह ज्ञान गंगा तीर्थंकर के मुख से प्रवाहित होती है तो उसे गणधर पहले अपने

मस्तिष्क में धारण करते हैं। जब उनका मस्तिष्क परिपूर्ण हो जाता है तब उसे बारह अंगों में विभाजित करके लोकहित में उद्घाटिक कर देते हैं। अर्थात् सूत्र रूप में बारह अंगों की रचना गणधर करते हैं। जिनको दीक्षा लेते ही पूर्वों का ज्ञान हो जाता है वे ही गणधर बनते हैं। चौदह पूर्वों के नाम इस प्रकार उल्लिखित हैं :

1. उत्पादपूर्व, 2. अग्रीयणीयपूर्व, 3. वीर्यानुप्रवादपूर्व, 4. अस्तिनस्ति प्रवादपूर्व, 5. ज्ञानप्रवादपूर्व, 6. सत्यप्रवादपूर्व, 7. आत्मप्रवादपूर्व, 8. कर्मप्रवादपूर्व, 9. प्रत्याख्यानप्रवादपूर्व, 10. विद्यानुप्रवादपूर्व, 11. अवन्ध्यपूर्व, 12. प्राणायुपूर्व, 13. क्रियाविशालपूर्व, और 14. लोकबिन्दुसारपूर्व।

दृष्टिवाद में पूर्वों का समावेश

द्वादशाङ्गी के बारहवें भाग का नाम दृष्टिवाद है। दृष्टिवाद पाँच भागों में विभक्त है - (1) परिकर्म, (2) सूत्र, (3) प्रथमानुयोग, (4) पूर्वगत, तथा (5) चूलिका। चतुर्थ विभाग पूर्वगत में चतुर्दश पूर्वज्ञान का समावेश माना गया है। पूर्वज्ञान के आधार पर द्वादशाङ्गी की रचना हुई। यही कारण है कि अन्ततः उस ज्ञान को दृष्टिवाद में उसे सन्निविष्ट कर दिया गया। इससे यह स्पष्ट है कि जैन तत्त्वज्ञान के महत्त्वपूर्ण विषय उसमें सूक्ष्म विश्लेषण पूर्वक बड़े विस्तार से व्याख्यायित थे।[7]

2. आगमों का निर्माण

अर्थरूपशास्त्र के निर्माता भगवान महावीर हैं और शब्दरूप शास्त्र का निर्माण किया है गणधरों ने। शासन-हित ही उनका लक्ष्य था। इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिये सूत्रों का प्रवर्तन हुआ। भगवान महावीर ने ही अर्थ रूप में वर्तमान शास्त्रों का निर्माण किया था और उसे शाब्दिक रूप देने वाले गणधर हैं। इसीलिये शास्त्रों में विवेचना के समय गणधर यही कहते हैं कि - "तस्सणं अयमट्ठे पण्णत्ते" - अर्थात् मेरे द्वारा प्रयुक्त शब्द भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित अर्थ को स्पष्ट कर रहे हैं।[8]

जैन परम्परा यह स्वीकार करती है कि सभी तीर्थंकरों के काल में द्वादशाङ्गी गणिपिटक का आविर्भाव होता है। प्रत्येक तीर्थंकर के जितने गण होते हैं उतने ही उनके गणधर होते हैं और जितने गणधर होते हैं प्रत्येक अंग की वाचनाएँ भी उतनी ही होती हैं। परन्तु यह नियम भगवान महावीर पर

चरितार्थ नहीं होता, भगवान महावीर के नौ गण थे, अत: नौ ही वाचनाएँ हुईं परन्तु उनके गणधरों की संख्या ग्यारह थी। आठवें और नौवें गणधर अकम्पित और अचलभ्राता इन दोनों को एक वाचना उपलब्ध हुई और दसवें तथा ग्यारहवें मेतार्य और प्रभास नामक गणधरों को भी एक ही वाचना मिली।

वतर्मान द्वादशाङ्गी का निर्माण सुधर्मा स्वामी जी ने किया था। जैसा कि कल्प-सूत्र से ज्ञात होता है। शेष गणधरों की वाचनाएँ विच्छिन्न हो गई है। दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ जयधवला में भी सुधर्मा-स्वामी द्वारा जम्बू आदि शिष्यों को वाचना देने का उल्लेख प्राप्त होता है।[9]

इन चौदह पूर्वों के ज्ञान को श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा दोनों मानती हैं। दिगम्बरो में आगम रूपसे माने जाने वाले षड्खडागम और कषायप्राभृत भी पूर्वों से उद्धृत कहे जाते है।

3. प्रमुख वाचनाएँ

वर्तमान में आगम के जो संस्करण उपलब्ध हैं वे प्रस्तुत रूप में देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के समय के हैं। उससे पूर्व आगम साहित्य लिपिबद्ध नहीं किया गया था। भगवान महावीर स्वामी के निर्वाण के पश्चात् समय प्रभाव से प्राकृतिक प्रकोप के कारण श्रुतज्ञान (आगम) धीरे-धीरे विच्छिन्न होता जा रहा था। आचार्यों ने श्रुत परम्परा से आये ज्ञान को पुन: संग्रह करने का विचार किया है। इस सम्बन्ध में जो प्रमुख वाचनाएँ सम्पन्न हुई उनका वर्णन इस प्रकार हैं–

पाटलिपुत्र वाचना

वीर निर्वाण सम्वत् 160 के आसपास पाटलिपुत्र में 12 वर्षों का भयंकर दुष्काल पड़ा। दुर्भिक्षा के कारण श्रमण सुदूर प्रदेशों में चले गए। श्रमणसंघ छिन्न-भिन्न-सा हो गया। बहुत से बहुश्रुत मुनि अनशन कर देह त्याग गये। आगम ज्ञान की शृंखला टूट-सी गई। जब दुर्भिक्ष समाप्त हुआ, तब संघ की बैठक हुई। मगध की राजधानी पाटलिपुत्र में आर्य स्थूलिभद्र के नेतृत्व में एक परिषद् बैठी, श्रमणों ने एक-दूसरे से पूछ-पूछकर ग्यारह अंगों का संकलन सर्वसम्मति से किया। यह वाचना पाटलिपुत्र वाचना के नाम से पुकारी जाती है।

बारहवें अंग दृष्टिवाद के ज्ञाता आचार्य भद्रबाहू स्वामी के सिवाय कोई नहीं रहा। वे उस समय 12 वर्ष के लिए महाप्राण नामक साधना करने के लिए पाटलिपुत्र से बाहर नेपाल की गिरि-कंदराओं में विराजमान थे। संघ के अत्याग्रह पर स्थूलिभद्र को अनेक साधुओं के साथ दृष्टिवाद की वाचना लेने के लिए आचार्य भद्रबाहु स्वामी के पास भेजा गया। उनमें से दृष्टिवाद को ग्रहण करने में केवल स्थूलिभद्र ही समर्थ सिद्ध हुए। उन्होंने दशपूर्व सीखने के बाद अपनी श्रुतलब्धि ऋद्धि का प्रयोग किया। आचार्य भद्रबाहू ने उनके श्रुत लब्धि के प्रयोग को अपने ज्ञान द्वारा जानकर वाचना देना बन्द कर दिया। तदनन्तर बहुत आग्रह करने पर चार पूर्वों का ज्ञान शब्द रूप में ही दिया अर्थ रूप में नहीं दिया। अर्थ की दृष्टि से अन्तिम श्रुत केवली आचार्य भद्रबाहू स्वामी थे। इस वाचना में ज्ञान एकत्रित तो कर लिया गया, पर इस ज्ञान को लिपिबद्ध न कर स्मृति पटल में ही रखा गया।[10]

माथुरी वाचना

आगम संकलन का द्वितीय प्रयत्न वीर निर्वाण सम्वत् 827 और 840 निश्चित किया गया। उस समय दो वाचनाएँ हुई-प्रथम मथुरा में और द्वितीय वल्लभी में। मथुरा में जो वाचना हुई थी वह आर्य स्कन्दिल के नेतृत्व में हुई थी और वल्लभी में जो वाचना हुई वह आचार्य नागार्जुन के कुशल नेतृत्व में हुई। वल्लभी में हुई वाचना नागार्जुनीय वाचना के नाम से विख्यात है।

आगम लेखन का कार्य माथुरी वाचना के अनुयायियों के अनुसार वीर निर्वाण के 980 वर्ष पश्चात् तथा वल्लभी वाचना के अनुयायियों के अनुसार वीर निर्वाण के 993 वर्ष पश्चात् देवर्द्धिगणी क्षमाक्षमण के नेतृत्व में वल्लभी में सम्पन्न हुआ। इसके पश्चात् फिर कोई सर्वमान्य वाचना नहीं हुई। वीर निर्वाण की दसवीं शताब्दी के पश्चात् पूर्वज्ञान की परम्परा विच्छिन्न हो गई।[11]

4. जैन आगमों की संख्या

श्वेताम्बर परम्परा में वर्तमान में पूर्वापर विरोध से रहित अथ च स्वतः प्रमाणभूत जैनागम 32 माने जाते हैं। उनमें 11 अंग, 12 उपांग, 4 मूल, 4 छेद और एक आवश्यक सूत्र है। ये कुल 32 आगम हुए परन्तु ग्रन्थकार ने द्वादशाङ्गी का नामोल्लेख ग्रन्थ में किया है।

11 अङ्ग	*12 उपाङ्ग*
1. आचाराङ्ग	1. औपपातिक
2. सूत्रकृताङ्ग	2. राजप्रश्नीय
3. स्थानाङ्ग	3. जीवाभिगम
4. समवायाङ्ग	4. प्रज्ञापना
5. भगवती	5. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति
6. ज्ञाताधर्मकथाङ्ग	6. सूर्य प्रज्ञप्ति
7. उपासक (दृशाङ्ग)	7. चन्द्रप्रज्ञप्ति
8. अन्तकृतदृशाङ्ग	8. निरयावलिका
9. अनुत्तरोपपातिकदशा	9. कल्पवतंसिका
10. प्रश्न व्याकरण	10. पुष्पिका
11. विपाक सूत्र	11. पुष्पचूलिका
12. दृष्टिवाद[12]द (जो आज अनुपलब्ध है)	12. वृष्णि दशा[13]

वर्तमान देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के समय का संकलित है।

4. मूल सूत्र	*4. छेद सूत्र*
1. नन्दी	1. बृहत्कल्प
2. अनुयोगद्वार	2. व्यवहार
3. दशवैकालिक	3. निशीथ
4. उत्तराध्ययन	4. दशाश्रुतस्कन्ध[14]

इस प्रकार अङ्ग, उपाङ्ग, मूल और छेद सूत्रों के संकलन से यह संख्या 31 होती है, उसमें आवश्यक सूत्र के संयोग से कुल 32 आगम हो जाते हैं। ये 32 सूत्र अर्थरूप से तीर्थंकर प्रणीत हैं और गणधर द्वारा प्रतिपादित हैं। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में आगमों की संख्या पैन्तालीस मानी जाती है और दिगम्बर परम्परा में आगमों की संख्या चौरासी मानी गई है किन्तु वे शास्त्र समग्र रूप से उपलब्ध नहीं। दिगम्बर परम्परा की मान्यता है कि सभी आगम विच्छिन्न हो गये है। आज उपलब्ध उक्त आगमों को कोई मान्यता ही नहीं है। उत्तरकालीन आचार्यों द्वारा गुरु परम्परा से आया आगम ज्ञान षड्खण्डागम,

कषाय पाहुड, समयसार, प्रवचनसार, नियमसार आदि ग्रन्थों के रूप में उपलब्ध होता है।

दिगम्बर आचार्यों द्वारा मान्य तत्त्वार्थसूत्र की वृत्ति में आगमों को दो भागों में विभक्त किया गया है–(1) अंग प्रविष्ट, (2) अंग बाह्य।

आगम[15]

अंग प्रविष्ट	**अंग बाह्य**
आचार	सामायिक
सूत्रकृत	चतुर्विंशतिस्तव
स्थान	वन्दना
समवाय	प्रतिक्रमण
व्याख्याप्रज्ञप्ति	वैनयिक
ज्ञाताधर्म कथा	कृतिकर्म
उपासकदशा	दशवैकालिक
अन्तकृतदशा	उत्तराध्ययन
अनुत्तरोपपातिक	कल्पव्यवहार
प्रश्नव्याकरण	कल्पाकल्प
विपाकसूत्र	महाकल्प
दृष्टिवाद[16]	महापुण्डरीक
	निषिद्धिका[17]

दृष्टिवाद

परिकर्म	सूत्र	प्रथमानुयोग	पूर्वगत	चूलिका
चन्द्रप्रज्ञप्ति			उत्पाद	जलगता
सूर्यप्रज्ञप्ति			अग्रायनीय	स्थलगता
जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति			वीर्यानुप्रवाद	मायागता
द्वीप-सागर-प्रज्ञप्ति			अस्तिनास्तिप्रवाद	आकाशगता
व्याख्या-प्रज्ञप्ति			ज्ञानप्रवाद	रूपगता
			सत्यप्रवाद	
			आत्मप्रवाद	
			कर्मप्रवाद	
			प्रत्याख्यान	
			विद्यानुवाद	
			कल्याण	
			प्राणावाय	
			क्रियाविशाल	
			लोकबिन्दुसार	

उपर्युक्त सम्पूर्ण आगमों में निहित तत्त्व चिन्तन को विस्तार देने के लिए दार्शनिक धारा को प्रवाह का उद्‌गम, उमास्वाति के "तत्त्वार्थसूत्र" ग्रन्थ के रूप में माना जाता है। यह बात "तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम-समन्वय" ग्रन्थ से भली-भान्ति विदित है।

जैन दार्शनिक एवं उनका साहित्य

आचार्य उमास्वाति और तत्त्वार्थ सूत्र

जैन दर्शन में उमास्वाति का तत्त्वार्थ सूत्र बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जिसमें जैन दर्शन सम्बन्धी सभी विचारों को सूत्र रूप में प्रस्तुत किया गया है। वाचक उमास्वाति का प्राचीन से प्राचीन समय विक्रम की पहली शताब्दी और अर्वाचीन से अर्वाचीन समय तीसरी-चौथी शताब्दी है।[18] इन तीन-चार सौ वर्ष के बीच में उनका समय माना जाता है।

आचार्य उमास्वाति सर्वप्रथम संस्कृत के लेखक हैं, जिन्होंने जैन दर्शन पर अपनी कलम उठाई। इनकी भाषा शुद्ध एवं संक्षिप्त है। इनकी शैली में सरलता एवं प्रवाह है। यह ग्रन्थ श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में समान रूप से मान्य है। इनकी शैली सूत्र शैली है। इसमें दस अध्याय हैं जिनमें जैन दर्शन और आचार का संक्षिप्त निरूपण है। यह ग्रन्थ आत्म विद्या, तत्त्वज्ञान, कर्मशास्त्र आदि अनेक विषयों का प्रतिनिधित्व कोष है।[19]

तत्त्वार्थ पर टीकाएँ

तत्त्वार्थ सूत्र पर आचार्य उमास्वाति का स्वोपज्ञ एक भाष्य मिलता है; जो उमास्वाति की अपनी ही रचना है। इसके अतिरिक्त 'सर्वार्थसिद्धि' नाम की एक संक्षिप्त, अति महत्त्वपूर्ण टीका मिलती है। यह टीका दिगम्बर परम्परा के आचार्य पूज्यपाद की कृति है जो छठी शताब्दी में हुए थे। सर्वार्थसिद्धि पर आचार्य अकलंक ने तत्त्वार्थ राजवार्तिक की रचना की। यह टीका बहुत विस्तृत एवं सर्वाङ्गपूर्ण है। इसमें दर्शन के प्रत्येक विषय पर किसी न किसी रूप में प्रकाश डाला गया है। विद्यानन्द कृत ''श्लोकवार्त्तिक'' भी बहुत महत्त्वपूर्ण टीका है। इसके अतिरिक्त सिद्धसेन और हरिभद्र ने क्रमशः ''बृहत्काय'' और ''लघुकाय'' की रचना की।[20]

तत्त्वार्थ सूत्र के सन्दर्भ में यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि महामहिम जैन धर्म दिवाकर आचार्य सम्राट पूज्य श्रीआत्माराम जी म. ने श्वेताम्बर परम्परा सम्मत बत्तीस आगमों के आधार पर तत्त्वार्थ सूत्रगत प्रत्येक सूत्र के साथ समन्वय किया है जिससे यह स्पष्ट है कि तत्त्वार्थ सूत्र का आगम के साथ किसी भी प्रकार का कोई विरोध नहीं है।

इन सभी टीकाओं में दार्शनिक दृष्टिकोण ही प्रधानरूप से मिलता है। जैन दर्शन के आगे की प्रगति पर इन टीकाओं का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। ये टीकाएँ आठवीं-नवीं शताब्दी में लिखी गई हैं। जिस प्रकार दिङ्नाग के ''प्रमाण समुच्चय'' पर धर्मकीर्ति ने ''प्रमाणवार्त्तिक'' लिखा और उसी को केन्द्रीय बिन्दु मानकर समग्र बौद्ध दर्शन विकसित हुआ, उसी प्रकार ''तत्त्वार्थसूत्र'' की इन टीकाओं के आसपास जैन दार्शनिक साहित्य का बड़ा विकास हुआ। इन टीकाओं के अतिरिक्त बारहवीं शताब्दी में मलयगिरी ने और चौदहवीं शताब्दी में चिरन्तन मुनि ने भी तत्त्वार्थ पर टीकाएँ लिखीं। अट्ठारहवीं शताब्दी में नव्यन्याय शैली के प्रकाण्ड पण्डित उपाध्याय यशोविजय ने भी अपनी टीका लिखी।[21] दिगम्बर परम्परा के श्रुतसागर, विबुधसेन, योगीन्द्रदेव, योगदेव, लक्ष्मीदेव,

अभयनन्दी आदि विद्वानों ने भी तत्त्वार्थसूत्र पर अपनी-अपनी टीकाएँ लिखी हैं। बीसवीं शताब्दी में पं. सुखलाल संधवी आदि विद्वानों ने हिन्दी और गुजराती आदि भाषाओं में ''तत्त्वार्थ सूत्र'' पर सुन्दर विवेचन किया है।[22]

आचार्य कुन्दकुन्द

आचार्य कुन्दकुन्द का दिगम्बर परम्परा में गरिमामय स्थान है। अध्यात्म दृष्टियों को विशेष उजागर करने का श्रेय इन्हें प्राप्त है। ये द्रविड़देश के विख्यात अग्रगण्य एवं सम्माननीय मुनिवर तथा ग्रन्थकार हैं। इनके काल के विषय में बड़ा मतभेद है, पर मान्य इतिहासवेत्ता इन्हें विक्रम की प्रथम शताब्दी में विद्यमान बतलाते हैं। इस प्रकार ये उमास्वाति के समसामयिक प्रतीत होते हैं। इनके ग्रन्थ इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के लिए विश्वकोष का काम करते हैं। इनका द्राविडी नाम ''कोण्डकुण्ड'' था। जिसका संस्कृत रूपान्तर ''कुन्दकुन्द'' के रूप में सर्वत्र प्रसिद्ध हुआ।[23]

साहित्य

अध्यात्म की भूमिका पर रचित आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थरत्न महत्त्वपूर्ण हैं। जो इस प्रकार हैं समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार,[24] अष्टपाहुड़, दस भक्ति अथवा भक्ति संग्रह एवं द्वादशानुप्रेक्षा।

1. **समयसार** – समयसार आर्यावृत्त में गुम्फित प्राकृत शौरसेनी भाषा का सर्वोत्कृष्ट आगम माना गया है। इसके नौ अधिकार हैं – जीवाजीवाधिकार, कर्त्ताकर्माधिकार, पुण्य-पाप अधिकार, आश्रव अधिकार, संवर अधिकार, निर्जरा अधिकार, बन्ध अधिकार, मोक्ष अधिकार, सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार।[25]
2. **प्रवचनसार** – यह उत्तम अध्यात्म ग्रन्थ है। इसकी शैली सरल और सुबोध है। इसमें आत्मा और ज्ञान सम्बन्धों की चर्चा है। द्रव्य, गुण, पर्याय आदि ज्ञेय पदार्थों का विस्तृत वर्णन है तथा सप्तभङ्गी का सम्यक् प्रतिपादन है और चरित्र के स्वरूप का विवेचन बताया है। इस ग्रन्थ में तीर्थंकर के प्रवचनों के सार संग्रहीत है। अत: इस ग्रन्थ का नाम प्रवचनसार पड़ा।[26]
3. **पंचास्तिकाय** – इस ग्रन्थ में पाँच अस्तिकाय का विवेचन होने के कारण ग्रन्थ का नाम पंचास्तिकाय है। धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव इन पाँचों अस्तिकाओं के साथ काल द्रव्य की व्याख्या भी इस ग्रन्थ में की गई हैं।[27]

4. **नियमसार** – इस में मोक्ष मार्ग के नियम से (आवश्यक) करणीय ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना पर बल दिया गया है।[28]
5. **अष्ट पाहुड़** – इस ग्रन्थ में दसण (दर्शन) पाहुड़, चारित्र पाहुड़, सुत्त पाहुड़, बोध पाहुड़, भाव पाहुड़, मोक्ष पाहुड़, लिंग पाहुड़, शील पाहुड़। इन अष्ट पाहुड़ों का विस्तृत वर्णन किया गया है।[29] इसके अतिरिक्त दस भक्ति, द्वादशानुप्रेक्षा पर भी चर्चा की गई है।

सिद्धसेन दिवाकर

सिद्धसेन दिवाकर पंचम शताब्दी के सबसे बड़े विद्वान् थे। उज्जैन के विक्रमादित्य के साथ उनकी घनिष्ठ मित्रता थी। इनके गुरु का नाम ''वृद्धवादी'' था। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं – ''न्यायावतार'' - (सिद्धर्षि ने 10वें शतक में टीका लिखी) सन्मति तर्क – विशद व्याख्याकार अभयदेवसूरि, तत्त्वार्थटीका, कल्याण मन्दिर स्त्रोत तथा अनेक द्वात्रिंशिकायें। न्यायवतार की रचना कर इन्होंने जैन न्याय को जन्म दिया है। सन्मतितर्क नितान्त प्रमेय-बहुल ग्रन्थ है।[30]

समन्त भद्र

समन्तभद्र सप्तमाताब्दी में अपनी विद्वत्ता तथा प्रगाढ़ पाण्डित्य के लिए विशेष विख्यात है। ये दिगम्बर सम्प्रदाय के आचार्य थे और दक्षिण में रहने वाले थे। इन्होंने ''आप्तमीमांसा'' की रचना कर दार्शनिक जगत में विमल-कीर्ति प्राप्त की है।[31]

हरिभद्र

जैनधर्म तथा दर्शन पर अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के रचयिता होने के साथ साथ इन्होंने लोकप्रिय षड्दर्शन-समुच्चय की भी रचना की है।[32]

भट्ट अकलङ्क

भट्ट अकलङ्क दिगम्बर परम्परा के महान् विद्वान थे। ये अष्टम शताब्दी के उत्तरार्ध में उत्पन्न हुए थे। इन्होंने तत्त्वार्थसूत्र पर महत्त्वपूर्ण ''राजवार्तिक'' तथा आप्तमीमांसा के व्याख्यारूप में ''अष्टशती'' की रचना की है। इसके अतिरिक्त इन्होंने तीन छोटे-छोटे दार्शनिक ग्रन्थों की भी रचना की है। उनके नाम लघीयस्त्रय, न्याय-विनिश्चय तथा प्रमाण संग्रह है। इन सब ग्रन्थों का विषय जैन न्याय है।[33]

विद्यानन्द

विद्यानन्द नवम शताब्दी के विद्वान हैं। इनका दूसरा नाम ''पात्रकेसरी'' प्रसिद्ध है। इन्होंने अष्टशती पर अष्ट सहस्री तथा तत्त्वार्थ सूत्र पर ''श्लोकवार्तिक'' लिखकर मीमांसा मूर्धन्य कुमारिल भट्ट की शैली का अनुकरण किया है।[34]

अवान्तरयुगीन परवर्ती दार्शनिक विद्वान तथा साहित्य

देव सूरि

ये 12वीं शताब्दी के विद्वान थे। इन्होंने ''प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार'' तथा इसकी टीका ''स्याद्वादरत्नाकर'' की रचना की है। ये ग्रन्थ जैन न्याय के महत्त्वपूर्ण प्रमाणभूत ग्रन्थ माने जाते हैं।[35]

हेमचन्द्र

ये देवसूरि के समकालीन हैं। ये अपने समय के उद्भट विद्वान् तथा विख्यात जैनाचार्य माने जाते थे। ब्राह्मणों के द्वारा निर्मित काव्य, व्याकरण तथा अलंकार ग्रन्थों के स्थान पर इन्होंने स्वयं जैनियों के उपकारार्थ अनेक काव्यादिकों की रचना की। इसके अतिरिक्त इन्होंने जैन न्याय के विषय में ''प्रमाणमीमांसा'' नामक विद्वत्तापूर्ण तथा प्रमेयबहुल ग्रन्थ रत्न का भी निर्माण किया है। निखिल-शास्त्र निपुणता तथा बहुज्ञता के कारण इन्हें ''कलिकालसर्वज्ञ'' की उपाधि प्रदान की गई थी।[36]

मल्लिषेणसूरि

मल्लिषेण सूरि की सबसे महत्त्वपूर्ण रचना ''स्याद्वादमंजरी'' है जो हेमचन्द्र की ''अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशका'' की विस्तृत तथा विद्वत्तापूर्ण टीका है। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है इसमें ब्राह्मण, बौद्ध तथा चार्वाक दर्शनों की मार्मिक समालोचना तथा जैन सिद्धान्तों का प्रमाणपुरःसर विवेचन है।

गुणरत्न

गुणरत्न ने हरिभद्र के षड्दर्शन-समुच्चय की बड़ी सुन्दर तथा विस्तृत व्याख्या की है। जिसमें सब दर्शनों के सिद्धान्तों की मार्मिक विवेचना की गई है तथा उनके विषय में अनेक विशिष्ट साम्प्रदायिक बातों का उल्लेख किया है।[37]

यशोविजय

यशोविजय का समय 17वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। इन्होंने संस्कृत, प्राकृत, गुजराती तथा हिन्दी में खण्डात्मक, प्रतिपादनात्मक तथा समन्वयात्मक अनेक ग्रन्थों की रचना की है। इसका ''जैन तर्कभाषा'' सरल, संक्षिप्त तथा अत्यन्त उपादेय ग्रन्थ है।[38]

इस प्रकार आगमों में निहित तत्त्व-चिन्तन का प्रवाह आगे बढ़ता गया। जब इस तत्त्व को पढ़ते-पढ़ाते, सुनते-सुनाते दार्शनिकों की भाषा गूढ़ से गूढ़तम अर्थात् कठिन सी प्रतीत होने लगी तब कवियों अथवा पुराणकारों ने समाज को जैन-आगमों का रहस्य समझाने के लिए एक पृथक् सारणी अपनाई, जिसके द्वारा समाज के प्रत्येक व्यक्ति को आगमों का मन्तव्य सरलता से समझ में आ सके। इस परम्परा में जैन-पुराणों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इन पुराणों में आदिपुराण एक हैं जो ''महापुराण'' नाम से विख्यात है।

पुराण परिचय

पुराण शब्द की व्युत्पत्ति तथा अर्थ

पुरा अव्ययपूर्वक ''णीअ्'' प्रापणेधातु से ड प्रत्यय करने के बाद टिलोप और णत्व कार्य करने पर पुराण शब्द सिद्ध होता है। अर्थात् पुरा - नी + ड ये तीनों अवयव मिलकर व्याकरण शास्त्र के नियमानुसार पुराण शब्द के रूप में परिणत हो जाते हैं। अथवा पुरा भवः इस विग्रह में पूरा अव्यय से –

सायंचिरं प्राह्वे प्रगेऽव्ययेभ्यष्ट् युट्युलौ तुट् च[39]

इस पाणिनीय सूत्र के टयु प्रत्यय होने के बाद टकार की इत्संज्ञा और लोप करने के बाद ''युवोरनाकौ''[40] से अन् और ''अट्कुत्वाङनुम्व्यवायेऽपि''[41] से णत्व करके पुराण शब्द बनता है। तथा ''पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन''।[42] इस पाणिनि सूत्र में पुराण शब्द के निर्दिष्ट होने के कारण निपातन से तुट् का अभाव हो जाता है और शास्त्र का विशेषण होने के कारण नपुंसकलिंग में प्रयुक्त होता है अथवा ''पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु'' इस सूत्र निर्देश से निपातन करके पुराण शब्द बन जाता है। अथवा ''अन्'' प्राणने धातु से अव् प्रत्यय करके ''पुराण'' शब्द बनता है। जिसका तात्पर्य है जो शास्त्र अपने उपदेशों द्वारा समाज को अनुप्राणित करता है उसे पुराण कहते हैं।[43]

महर्षि यास्काचार्य ने अपने निरुक्त नामक ग्रन्थ में पुराण शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया है। पुराणं कस्मात्? ''पुरा नवं भवति''[44] अर्थात्

पुराण क्यों कहा जाता है। इसलिए कि जो कभी पहले नया हो। भगवान को भी पुराण कहा जाता है।

गीता में भगवान् की प्रार्थना में पुराण शब्द आया है - 'कविं पुराणमनुशासितारम्'[45] अर्थात् भगवान कान्तदर्शी तथा पुराण होने के कारण अनुशासक हैं। तात्पर्य यह है कि पुराण शब्द का अर्थ अति प्राचीन है। इस प्रकार पुराण शब्द की व्युत्पत्ति से पुराण शब्द में नूतनता का भाव नहीं है, किन्तु पुराण शब्द का अर्थ पुरातन है। पुराण शब्द से प्राचीन आख्यायिका युक्त व्यासकृत 18 ग्रन्थ विशेष समझे जाते हैं। यदि पुराणों को कोई नवीन कह सकता है तो वही कह सकता है, जिसको पुराण शब्द की व्युत्पत्ति का ज्ञान न हो। विचारशील व्यक्ति तो व्युत्पत्तिमात्र से ही पुराणों को प्राचीन समझते हैं।

यस्मात् पुरा ह्नानितीदं पुराणं तेन तत् स्मृतम्।
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते।।[46]

यद्यपि पुराण शब्द के पर्यायवाची प्रतन, प्रत्न, पुरातन, चिरन्तन आदि शब्द हैं तथा वैदिक संस्कृति में पुराण शब्द विशेष रूप से महर्षि व्यासकृत, अष्टादश ग्रन्थों में रूढ़ हो गया है। पुराण शब्दों को सुनते ही व्यासकृत अष्टादश पुराण का स्मरण हो जाता है।

पुराण का अर्थ

वि. (पुराण)। (पुराना, पुरातन) (गउड; उत्तर 8, 12)

(2) व्यासादि-मुनि प्रणीत ग्रन्थ विशेष, पुरातन इतिहास के द्वारा जिसमें धर्म-तत्त्व निरूपित किया जाता हो वह शास्त्र।[47]

पुराण शब्द की व्युत्पत्ति है - ''पुरा एतत् अभूत्'' अर्थात् प्राचीनकाल में ऐसा हुआ है।

पुराण के पर्याय शब्दों में ''पुराणं पंचलक्षणम्'' पुराण और पंचलक्षणम् दो नाम स्वीकार किये गये हैं।

पुराण शब्द का अर्थ उस शास्त्र से लेते हैं, जो पहले हुआ है अथवा पहले होकर भी नवीन या पहले ही भूत के साथ भविष्य अर्थों का कथन करने वाला हो –

पुरा भवं। यद्वा पुरा अतीतानागतावर्थावणाति।[48]

संस्कृत हिन्दी शब्दकोष में वामन शिवराम आप्टे ने पुराण का अर्थ इस प्रकार कहा है - अतीत घटना या वृत्तान्त, अतीत की कहानी, उपाख्यान, प्राचीन या पौराणिक इतिहास, कुछ विख्यात धार्मिक पुस्तकें जो गिनती में 18 हैं तथा व्यास द्वारा प्रणीत मानी जाती हैं, जिन्हें पंचलक्षण भी कहा जाता है।[49]

पुराणं क्नी (पुरा भवमिति)
पुरा सायं चिरं प्राह्वेप्रागेऽप्ययेभ्यष्ट्युटयुलौतुट् च
4.3.23 इति टयुः।

पूर्व कालैकसर्वजरतपुराणनवकेवलाः समानाधिं करणेन
2.1.49 इति

निपातनात् तुडभावः। यद्वा ''पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेतु''
8.3.105 इति निपातितः। यद्वा, पुरा नीचते इति।
नी + ड गत्व च। व्यासादिमुनिप्रणीतवेदार्थवर्णित
पञ्चलक्षणान्वित शास्त्रम्। तत्पर्य्यायः। पञ्चलक्षणम् इत्यमरः।
9.5[50]

पद्मपुराण में दी गई व्युत्पत्ति वायु-पुराण की व्युत्पत्ति से कुछ भिन्न है। इसके अनुसार प्राचीन परम्परा की कामना करने के कारण इसे पुराण कहा जाता है।[51]

शब्द कोशों में ''पुराण'' शब्द से विभिन्न अर्थ मिलते हैं। पुराण शब्द के प्रबन्ध, अतीत काल तथा संकट ये तीन अर्थ किये गये है।[52]

हेमचन्द्र ने अपने कोश में षोड़षपण तथा प्राचीन-शास्त्र यह दो अर्थ पुराण शब्द के किये है।[53]

नानार्थ रत्नामाला में पुराण को पुरातन ग्रन्थ भेद कहा है।[54]

महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ ने पुराण को पुरावृत अर्थात् प्राचीन वृत्तान्त कहा है।[55]

1. प्राचीनकालीन कोई घटना।
2. अतीत काल की कथा। प्राचीन आख्यान। पुरानी कथा।
3. हिन्दुओं के वे 18 धार्मिक आख्यान या धर्मग्रन्थ, जिनकी रचना

वेदव्यास ने की थी। इनमें सृष्टि की उत्पत्ति, लय तथा प्राचीन ऋषियों और राजवंशों आदि के वृत्तान्त तथा देवी देवताओं, तीर्थों आदि के माहात्म्य हैं।[56]

पुराण पि. (सं.) प्राचीन, पुराना, जीर्ण शीर्ण। पु. प्राचीन वृत्तान्त, सृष्टि लय, मन्वन्तरों तथा प्राचीन ऋषियों, मुनियों और राजाओं के वंशों तथा चरितों के वर्णन से युक्त, प्रसिद्ध हिन्दू धर्मग्रन्थ (जो 18 हैं – विष्णु, पद्म, ब्रह्म, शिव, भागवत, नारद, मार्कण्डेय, अग्नि, ब्रह्मवैवर्त, लिंग, वराह, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड, ब्रह्माण्ड और भविष्य)।

पद्मचन्द्र कोष के अनुसार - ''पुराण पुराभवम्'' अर्थात् पहले का, ऐसा अर्थ किया गया है।[57]

व्याकरण, निरुक्त तथा पुराणों आदि में उपलब्ध पुराण शब्द की व्युत्पत्तियों तथा कोशों में दिए गये अर्थों की मीमांसा करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि पुराण का सम्बन्ध प्राचीनता से है। इसका वर्ण्य विषय प्राचीन है। पुराण शब्द की व्युत्पत्ति जन्य अर्थ पुरातन, प्राचीन, चिरन्तन तथा पूर्वकालिक आदि किया जाता है। अतः प्राचीनकाल में घटित सृष्टि रचना, प्रलय, ऐतिहासिक घटनाओं, वृत्तान्तों एवं व्यक्तियों आदि का वर्णन करने वाला साहित्य पुराण है।

पुराण का लक्षण

पद्म पुराण में ''पुरा परम्परा वष्टि कामयते''[58] अर्थात् जो प्राचीनता की अथवा परम्परा की कामना करता है, वह ''पुराण'' कहा जाता है।

सृष्टि-प्रवृत्ति-संहार-धर्म-मोक्ष-प्रयोजनम्।
ब्रह्मभिर्विविधैः प्रोक्तं पुराणं पञ्चलक्षणम्।।[59]

सर्गश्चाथ विसर्गश्च वृत्ती रक्षान्तराणि च।
वंशो वंशानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः।।[60]

सृष्टि, प्रतिसर्ग (प्रलय) प्रसिद्ध राजवंश परम्परा, मनुष्यों का वर्णन और विशिष्ट व्यक्तियों का पावन चरित्र ये पाँच विषय प्रधान रूप में जिस ग्रन्थ में वर्णित हों, उन्हें पुराण कहते हैं। मत्स्य पुराण में पुराण का लक्षण—

सर्गश्चप्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्।।[61]

विष्णु पुराण और ब्रह्माण्ड पुराण में भी यही श्लोक मिलता है। पुराण का यह लक्षण वर्तमान सभी पुराणों में घटता है।

संहिताओं,[62] ब्राह्मणों,[63] आरण्यकों,[64] उपनिषदों,[65] सूक्तग्रन्थों,[66] स्मृतिग्रन्थों,[67] रामायण,[68] महाभारत,[69] व्याकरण,[70] दर्शनशास्त्र,[71] ज्योतिष,[72] नीतिशास्त्र,[73] आदि ग्रन्थों में "पुराण" को सम्मान प्राप्त हुआ है।

(सं. वि.) प्राचीन पुराना; (पुं.) शिव, महादेव, प्राचीन आख्यान, पुरानी कथा, हिन्दुओं का धर्म सम्बन्धी प्राचीन ग्रन्थ जिसमें संसार की सृष्टि, लय प्राचीन ऋषि-मुनियों और राजाओं की कथाएँ हैं, परम्परागत कथा संग्रह (पुराण अट्ठारह हैं) इसमें विष्णु, ब्रह्माण्ड, मत्स्यादि, महापुराणों में सृष्टि तत्त्व, पुनः, सृष्टि और लय देव और पितरों की वंशावली, मन्वन्तर का अधिकार तथा सूर्य और चन्द्रवंशीय राजाओं का संक्षिप्त वर्णन पाया जाता है।[74]

जैनाचार्यों ने भी संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में व्यापक परिशीलन किया है। इन्होंने समय समय पर जैन धर्म की मान्यताओं, परम्पराओं एवं आदर्शों को समक्ष रखते हुए अनेक पुराणों का सर्जन किया है। जिस प्रकार सनातन धर्म में पुराणों और उपपुराणों का विभाग किया गया है, वैसा जैन समाज में उपलब्ध नहीं होता है।[75]

पुराण के पर्यायवाची

आदिपुराण ऋषियों द्वारा संकलित होने से आर्ष, सत्यार्थ का निरूपक होने से सूक्त तथा धर्म का प्ररूपक होने के कारण धर्मशास्त्र माना जाता है। "इति इह आसीत्" यहां ऐसा हुआ-ऐसी अनेक कथाओं का इसमें निरूपण होने से ऋषिगण उसे "इतिहास" इतिवृत्त और ऐतिह्य भी मानते हैं।

ऋषि प्रणीतमार्षंस्यात् सूक्तं सूनृतशासनात्।
धर्मानुशासनाच्चेदं धर्मशास्त्रमिति स्मृतम्।।

इतिहास इतीष्टं तद् इतिहासीदिति श्रुतेः।
इति वृत्तमथेतिह्यमाम्नायञ्चामनन्ति तत्।।[76]

ग्रन्थकार आदिपुराण ग्रन्थ रचने से पूर्व सर्वप्रथम नाभिराजा के पुत्र वृषभ चिन्ह से सहित ऋषभदेव प्रभु को बार-बार नमस्कार करके चित्त को एकाग्र करते हुए उनकी स्तुति करते हैं। फिर दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ से लेकर महावीर स्वामी तक तेईस तीर्थंकारों को भी नमस्कार करते है। इसके पश्चात् केवल ज्ञानी गणधर प्रभु की स्तुति करते हैं। वे अपने देव, गुरु शास्त्र के स्तवन द्वारा मंगलमय कार्य का शुभ आरम्भ करते है। वे त्रेसठ श्लाका पुरुषों का जीवन चरित्र वर्णित करने के लिए पुराण लिखूंगा। ऐसी भावना करते है।[77]

आदिपुराण में पुराण का लक्षण

जो ग्रन्थ अति प्राचीनकाल से हमें देखने को मिल रहा हो और समाज में अत्यन्त प्रतिष्ठा को प्राप्त करें, उसे पुराण कहते हैं।[78]

आदिपुराण में महापुराण की परिभाषा

जिस पुराण में महापुरुषों के जीवन का विस्तृत वर्णन हो तीर्थंकर आदि महापुरुषों ने जिनका उपदेश दिया हो। जिसके पढ़ने से महाकल्याण की प्राप्ति होती है। वह महापुराण कहलाता है।[79] प्राचीन आचार्यों, कवियों महर्षियों द्वारा इसका प्रचार-प्रसार हुआ है। इसलिए इसकी प्राचीनता पुराणता प्रसिद्ध ही है। इसकी महत्ता इसके माहात्म्य से ही जानी जा सकती है। इसलिए इसे महापुराण कहते हैं।

आदिपुराण तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों आदि महापुरुषों से सम्बन्धित होने तथा महान् फल-स्वर्ग मोक्षादि कल्याणों का कारण होने से महर्षि लोग इसे महापुराण कहते हैं।[80]

आदिपुराण महाकाव्य का लक्षण

जो ग्रन्थ पुरातनकालीन इतिहास से सम्बन्ध रखने वाला हो, जिसमें तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि महापुरुषों के चरित्र का वर्णन किया गया हो तथा पुरुषार्थ त्रय (धर्म, अर्थ, काम) के फल को दिखाने वाला हो उसे महाकाव्य कहते हैं।[81]

चौबीस तीर्थंकरों का संकेत

कुछ आचार्य ऐसा भी कहते हैं कि तीर्थंकरों के पुराणों में चक्रवर्ती आदि के पुराणों का भी संग्रह हो जाता है। इसलिए पुराण चौबीस ही समझने चाहिए। उनके नाम इस प्रकार हैं–

1. वृषभ नाथ का, 2. अजित नाथ का, 3. सम्भव नाथ का 4 अभिनन्दन नाथ का, 5. सुमति नाथ का, 6. पद्म प्रभु का, 7. सुपार्श्व नाथ का, 8. चन्द्र प्रभ का, 9. पुष्पदन्त का, 10. शीतल नाथ का, 11. श्रेयांस नाथ का, 12. वासुपूज्य का, 13. विमल नाथ का, 14. अनन्त नाथ का, 15. धर्म नाथ का, 16. शान्ति नाथ का, 17. कुन्थु नाथ का, 18. अरनाथ का, 19. मल्लिनाथ का, 20. मुनिसुव्रतनाथ का, 21. नमिनाथ का, 22. नेमिनाथ का, 23. पार्श्व नाथ का, 24. सन्मति महावीर स्वामी का।[82]

इस प्रकार 24 तीर्थंकरों के ये 24 पुराण हैं। इनका जो समूह है, वही महापुराण कहलाता है।[83]

जैन और बुद्ध पुराण

वेद, वेदांग और पुराणों की भाँति जैन-धर्मावलम्बियों के भी वेद वेदांग और पुराण आदि हैं जो अपना स्वतन्त्र महत्त्व रखते हैं।

ब्राह्मण धर्म के नाम से जिस प्रकार अष्टादश महापुराणों तथा अनेक उपपुराणों का वर्णन हुआ है, वैसा जैन पुराणों में नहीं, फिर भी संख्या और विस्तार की दृष्टि से यदि विचार किया जाए तो जैन साहित्य में भी पुराणों की संख्या बहुत है। इसके अतिरिक्त आदिपुराण की प्रस्तावना में कुछ अन्य पुराणों की गणना भी की गई है जिनका नामोल्लेख[84] इस प्रकार है–

जैन पुराण

पुराण नाम	*रचयिता*	*रचना संवत*
1. आदिपुराण	जिनसेन	नवीं शती
आदिपुराण (कन्नड़)	कवि पंप	–
आदिपुराण	भट्टारक चन्द्रकीर्ति	18वीं शती
आदिपुराण	भट्टारक सकलकीर्ति	15वीं शती
आदिपुराण (अपभ्रंश)	महाकवि पुष्पदन्त	–
महापुराण	आचार्य मल्लिषेण	1104
2. अजित पुराण	अरुण मणि	1716
3. पद्म पुराण-पद्मचरित्र	रविषेण	705
पद्म पुराण	भ. सोमसेन	–
पद्म नाथ पुराण	भ. शुभचन्द्र	17वीं शती

	पुराण नाम	रचयिता	रचना संवत
	पद्म पुराण	भ. धर्मकीर्ति	1656
	पउम चरिय (अपभ्रंश)	चतुर्मुख देव	अनुपलब्ध
	पउम चरिय (अपभ्रंश)	स्वयंभूदेव	–
	पद्म पुराण (अपभ्रंश)	कवि रइधू	15-16वीं शती
	पद्म पुराण (अपभ्रंश)	भ. चन्द्रकीर्ति	17वीं शती
	पद्म पुराण (अपभ्रंश)	ब्रह्म जिनदास	15-16वीं शती
4.	चन्द्रप्रभ पुराण	कवि अगासदेव	–
5.	धर्मनाथ पुराण (क)	कवि बाहुबलि	–
6.	शान्तिनाथ पुराण	कवि असग	10वीं शती
7.	मल्लिनाथ पुराण	भ. सकलकीर्ति	15वीं शती
	मल्लिनाथ पुराण (कन्नड़)	कवि नागचन्द्र	1104
8.	मुनि सुव्रत पुराण	ब्रह्म कृष्णदास	15वीं शती
9.	नेमि नाथ पुराण	ब्र. नेमिदत्त	1575 के लगभग
10.	हरिवंश पुराण (अपभ्रंश)	स्वयंभूदेव	शक संवत् 705
	हरिवंश पुराण	पुन्नाटसंघीय जिनसेन	शक संवत् 705
	हरिवंश पुराण (अपभ्रंश)	चतुर्मुखदेव	(अनुपलब्ध)
	हरिवंश पुराण	ब्र.जिनदास	15-16वीं शती
	हरिवंश पुराण (अपभ्रंश)	भ. यशः कीर्ति	1507
	हरिवंश पुरण (अपभ्रंश)	भ. श्रुत कीर्ति	1552
	हरिवंश पुराण (अपभ्रंश)	कवि रइधू	15-16वीं शती
	हरिवंश पुराण (अपभ्रंश)	भ. धर्मकीर्ति	1671
	हरिवंश पुराण	कवि रामचन्द्र	1560 से पर्वरा[85]
11.	पार्श्वनाथ पुराण (अपभ्रंश)	पद्मकीर्ति	999
	पार्श्वनाथ पुराण (अपभ्रंश)	कवि रइधू	15-16वीं शती
	पार्श्वनाथ पुराण	चन्द्र कीर्ति	1654
	पार्श्वनाथ पुराण	वादिचन्द्र	1658
12.	महावीर पुराण	कवि असग	910
	महावीर पुराण	भ. सकलकीर्ति	15वीं शती
13.	उत्तर पुराण	गुणभद्र	10वीं शती
	उत्तर पुराण	भट्टारक सकलकीर्ति	–

पुराण नाम	रचयिता	रचना संवत
14. महापुराण (अपभ्रंश)	महाकवि पुष्पदन्त	–
15. पुराणसार	श्री चन्द्र	–
16. पाण्डवपुराण	भ. शुभचन्द्र	1608
पाण्डवपुराण (अपभ्रंश)	भ. यश: कीर्ति	1497
पाण्डव पुराण	भ. श्री भूषण	1657
पाण्डव पुराण	भ. वादिचन्द्र	1658
17. श्रीपुराण	भ. गुणभद्र	1659
18. वागर्थसंग्रह पुराण	कवि परमेष्ठी	आ. जिनसेन के महापुराण से प्राग्वती।
19. चामुण्ड पुराण (क)	चामुण्डराय	शक सं. 980
20. जयकुमार पुराण	ब्र. कामराज	1555
21. कर्णामृत पुराण	केशवसेन	1688[86]

आदिपुराण आचार्य जिनसेन और गुणभद्र की उस विशाल रचना का नाम है जो उनकी 47 पर्वों तक की रचना है। आदिपुराण में 11429 श्लोक हैं। जिनसेन ने 63 श्लाका पुरुषों के चरितों को बृहत्प्रमाण में लिखने की प्रतिज्ञा की थी; पर अत्यन्त वृद्ध होने के कारण वे केवल आदिपुराण के बयालीस पर्व और तेतालीसवें पर्व के तीन पद्य अर्थात् 10380 श्लोक प्रमाण रचकर स्वर्गवासी हो गये। इसके बाद उनके सुयोग्य शिष्य गुणभद्र ने शेष कृति को संक्षेप रूप में पूर्ण किया।

जिनसेन ने अपनी कृति को पुराण और महाकाव्य दोनों नामों से पुकारा है। वास्तव में यह न तो ब्राह्मणों के विष्णु पुराण आदि जैसा पुराण है और न शिशुपालवधादि के समान महाकाव्य के बाह्य लक्षणों से सम्पन्न एक पौराणिक महाकाव्य है।

आदिपुराण में मुख्य रूप से प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के दश पूर्वभवों और वर्तमान भव का तथा भरत चक्रवर्ती के चरित्र का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। उत्तरपुराण में दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ से लेकर चौबीसवें तीर्थंकर, 11 चक्रवर्ती, 9 बलभद्र, 9 नारायण और नौ प्रतिनारायण तथा उनके काल में होने वाले अन्य विशिष्ट पुरुषों के चरित वर्णित हैं।

विवेच्य विषय

आदिपुराण के विषय वस्तु की व्यापकता को दृष्टि में रखते हुए पन्नालाल जैन का कथन है कि जो अन्यत्र ग्रन्थों में प्रतिपादित है वह इसमें भी प्रतिपादित है और जो इसमें प्रतिपादित नहीं है वह अन्यत्र कहीं भी प्रतिपादित नहीं है।

महापुराण का सम्पूर्ण आख्यान महाराज श्रेणिक के प्रश्नों के उत्तर के रूप में गौतम गणधर के मुखारविन्द से प्रस्तुत हुआ है।

आदिपुराण के प्रथम दो पर्व प्रस्तावना के रूप में हैं जिनमें कवि, महाकवि, काव्य, महाकाव्य तथा महापुराण की परिभाषा देते हुए आदिपुराण की ऐतिहासिकता बतलायी है। तीसरे पर्व में उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी काल, भोगभूमि तथा कुलकरों आदि की उत्पत्ति एवं नामावली का वर्णन हुआ है। चौथे पर्व में अधोलोक, तिर्यक्लोक और ऊर्ध्वलोक के भेद से लोक के तीन भेदों का वर्णन किया गया है। पाँचवें से ग्यारहवें पर्वों में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के दस पूर्वभवों का विस्तार के साथ वर्णन है।[87]

आदिपुराण के अनुसार ऋषभदेव का जीव पहले भव में जयवर्मा, दूसरे में महाबल, तीसरे में ललितांगदेव, चौथे में राजा वज्रजंघ, पाँचवें में भोग-भूमि का आर्य, छठे में श्रीधर देव, सातवें में सुविधि, आठवें में अच्युतेन्द्र, नौवें में वज्रानाभि तथा दसवें भव में सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुआ और वहाँ से च्युत होकर सब इन्द्रों द्वारा वन्दनीय ऋषभदेव हुआ।[88]

श्वेताम्बर परम्परा में भगवान ऋषभदेव के तेरह पूर्व भवों का उल्लेख कल्पसूत्र में किया गया है। ऋषभदेव का जीव पहले भव में धन्ना सार्थवाह, दूसरे भव में उत्तर कुरु में मनुष्य, तीसरे भव में सौधर्म देवलोक में देव, चौथे भव में महाबल, पाँचवें भव में ललिताङ्ग देव, छठे भव में वज्रजंघ, सातवें में युगलिक, आठवें में सौधर्म कल्प में देव, नौवें में जीवानन्द वैद्य, दसवें भव में अच्युत देवलोक में, ग्यारहवें भव में वज्रनाभ, बारहवें भव में सर्वार्थसिद्ध में, तेरहवें भव में ऋषभदेव तीर्थंकर बनें।[89]

बारहवें से पन्द्रहवें पर्वों में ऋषभदेव के च्यवन, जन्म, बाल्यावस्था, यौवन, विवाह तथा भरत चक्रवर्ती के जन्म का सुन्दर व विशद् वर्णन हुआ है। सोलहवें पर्व में ऋषभदेव की रानियों से भरत बाहुबलि आदि अन्य पुत्रों एवं पुत्रियों अर्थात् सन्तानोत्पत्ति प्रज्ञा के लिए, असि, मषि, कृषि, वाणिज्य, सेवा और शिल्प इन छह आजीविकाओं का प्रतिपादन तथा क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र

इन तीन वर्णों की स्थापना का वर्णन है। सत्तरहवें पर्व में नृत्यरत नीलांजना अप्सरा की मृत्यु से ऋषभदेव के मन में नश्वर संसार के प्रति विरक्ति का भाव अर्थात् वैराग्य, दीक्षा, का वर्णन है। अट्ठारहवें पर्व में छः मास की तपस्या, उन्नीसवें पर्व में धरणेन्द्र द्वारा नमि, विनमि के लिए विजयार्ध की नगरियों का प्रदान करना, बीसवें पर्व में ऋषभदेव के एक वर्ष तक तपश्चरण धारण करने, हस्तिनापुर के महाराज श्रेयांस के यहाँ इक्षुरस का आहार लेने आदि का वर्णन किया है।

21 से 23 पर्वों के अन्तर्गत गौतम गणधर द्वारा ध्यान के विभिन्न भेदों ऋषभदेव के कैवल्य प्राप्ति एवं देवों द्वारा उनके प्रथम उपदेश के लिये समवसरण निर्माण व उसके स्वरूप का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है।

24वें, 25वें पर्वों में भरत द्वारा ऋषभदेव की 108 व सौधर्म इन्द्र द्वारा 1008 नामों से स्तवन तथा अष्टद्रव्य आदि से पूजन करने एवं उनके विहार की विस्तृत चर्चा हुई है।

26वें से लेकर 34वें पर्वों में भरत चक्रवर्ती के रत्नचक्र प्रकट होने, उनकी सेना के विभिन्न अंगों एवं अस्त्र-शस्त्रों के प्रकार तथा उनके दिग्विजय का विस्तार के साथ वर्णन हुआ है।

34वें से लेकर 36वें पर्वों में भरत और बाहुबली के मध्य नेत्र, जल और मल्ल-युद्ध, बाहुबलि का वैराग्य, वन में जाकर दीक्षा धारण करने और तपश्चर्या एवं मोक्ष प्राप्ति का वर्णन है।

37वें पर्व से लेकर 42 पर्वों में भरत द्वारा ब्राह्मण वर्ण की स्थापना, ब्राह्मणोचित, गर्भान्वय, दीक्षान्वय तथा कर्त्तन्वय आदि क्रियाओं एवं षोडश संस्कारों और हवन के योग्य मन्त्रों आदि का विस्तृत वर्णन है जो वैदिक परम्परा के प्रभाव की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

43 से 47 पर्वों में जिनसेन के शिष्य गुणभद्र द्वारा सर्वप्रथम अपने गुरु जिनसेन के प्रति श्रद्धा प्रदर्शित की गयी है। तदनन्तर जयकुमार व सुलोचना की रोचक कथा, जिसमें विवाह, विरक्ति व जयकुमार के ऋषभदेव के समवसरण में गणधर पद की प्राप्ति करने, भरत चक्रवती की दीक्षा, कैवल्य प्राप्ति एवं ऋषभदेव का अन्तिम बिहार, कैलाश पर्वत पर निर्वाण प्राप्ति की कथा दी गई है।[90]

सत्कथा के सात अङ्ग – द्रव्य, क्षेत्र, तीर्थ, काल, भाव, महाफल और प्रकृत सात अंगों वर्णन इस प्रकार है:[91]

1. **षड्द्रव्य** – जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल यह छह द्रव्य कहे जाते हैं।
2. **क्षेत्र** – ऊर्ध्व, मध्य और पाताल यह तीन लोक क्षेत्र कहे जाते हैं।
3. **तीर्थ** – तीर्थंकर देव के गुणों का चित्रण ही तीर्थ है।
4. **काल** – भूत, वर्तमान, भविष्यत यह तीन काल लोक में प्रसिद्ध हैं।
5. **भाव** – क्षायोपशमिक और क्षायिक ये दो जीव के भाव हैं।
6. **महाफल** – तत्त्वों का ज्ञान होना ही महाफल है।
7. **प्रकृत** – वर्णनीय कथावस्तु को प्रकृत कहते हैं।[92]

उपर्युक्त कहे हुए सात अंग जिस कथा में पाये जाये अर्थात् जिस कथा में वर्णित हो उसे सत्कथा कहते हैं। इन सातों का आदिपुराण में यथास्थान वर्णन किया गया है।[93]

पुराण में वर्णित विषय और उनका लक्षण

पुराण में लोक, देश, नगर, राज्य, तीर्थ, दान, तप, गति और फल। इन आठ विषयों का वर्णन अवश्य होता है[94]–

1. **लोकाख्यान** – लोक की व्युत्पत्ति बतलाना, प्रत्येक दिशा और उसके अन्तरालों की लम्बाई, चौड़ाई आदि बतलाना इनके सिवाय और भी अनेक बातों का विस्तार के साथ वर्णन करना लोकाख्यान कहलाता है।
2. **देशाख्यान** – लोक के किसी एक भाग के देश, पहाड़, द्वीप तथा समुद्र आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन करने को महापुरुषों ने देशाख्यान कहा है।[95]
3. **पुराख्यान** – भारतवर्ष आदि क्षेत्रों में राजधानी का वर्णन करना, पुराण जानने वाले आचार्यों के मत में पुराख्यान अर्थात् नगर वर्णन कहलाता है।
4. **राजाख्यान** – इस देश का यह भाग अमुक राजा के आधीन है अथवा यह नगर अमुक राजा का है इत्यादि वर्णन करना राजाख्यान कहा गया है।[96]
5. **तीर्थाख्यान** – जो इस अपार संसार समुन्द्र से पार करे उसे तीर्थ कहते हैं। ऐसा तीर्थ जिनेन्द्र भगवान का चरित्र ही हो सकता है अतः उसके कथन को तीर्थाख्यान कहते हैं।

6. **तपदानकथा** – जिस प्रकार तप और दान करने से जीवों को अनुपम फल की प्राप्ति होती हो उस प्रकार के तप और दान का कथन करना तपदान कथा कहलाती है।

7. **गत्याख्यान** – नरक तिर्यक्, मनुष्य, और देव आदि के भेद से गतियों के चार भेद माने गये हैं। उनके कथन को गत्याख्यान कहते हैं।

8. **फलाख्यान** – संसारी जीवों को जो पुण्य और पाप का फल प्राप्त होता है। उस फल को मोक्ष प्राप्ति पर्यन्त वर्णन करना फलाख्यान कहलाता है।[97]

आचार्य जिनसेन का व्यक्तित्व और कृतित्व

जिनसेन आचार्य वीरसेन के शिष्य थे। जयधवला टीका से ज्ञात होता है कि स्वामी जिनसेन बाल्यकाल से ही दीक्षित हो गए थे। सरस्वती के बड़े आराधक थे तथा कलेवर से हल्के और आकृति से भव्य नहीं थे। कुशाग्रबुद्धि ज्ञानाराधना और तपश्चर्या से इनका व्यक्तित्व महनीय हो गया था। निःसन्देह यह बात सत्य है कि जगत में गुणों का मान होता है। शरीर तथा अवस्था का नहीं। तभी तो जिनसेन मूलसंघ के पंचस्तूपान्वय के आचार्य बने। आचार्य जिनसेन ने नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए सम्पूर्ण आगमों का ज्ञान प्राप्त किया। सरलहृदयी जिनसेन निरन्तर स्वाध्याय एवं जैन सिद्धान्त के अनुसंधान में लगे रहते थे। वे स्वभाव से बड़े मधुरभाषी तथा सादगी के पुञ्ज थे। उन्होंने अपना सारा जीवन धर्म प्रचार-प्रसार के लिए अर्पित किया।[98]

जिनसेन सभी शास्त्रों के पण्डित थे, वे सिद्धान्त, छन्द, ज्योतिष, व्याकरण और प्रमाण शास्त्र में निपुण थे। जिनसेन अपने गुरु के सच्चे उत्तराधिकारी सिद्ध हुए। अपने साहित्यिक जीवन में जिनसेन का तीन स्थानों से सम्बन्ध था। चित्रकूट, बंकापुर और वाटग्राम। चित्रकूट में एलाचार्य का निवास था। जिनसे उनके गुरु वीरसेन ने सिद्धान्त ग्रन्थ पढ़े थे। चित्रकूट वर्तमान चित्तौड़ है। बाटग्राम में रहकर उनके गुरु वीरसेन ने धवला टीका लिखी थी। बाटग्राम का विद्वानों ने बड़ौदा के साथ साम्य स्थापित किया है। बंकापुर (धारवाड़) कर्नाटक में रहकर जिनसेन और गुणभद्र ने महापुराण की रचना की थी। तत्कालीन राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष जिनसेन का बड़ा भक्त था। उस समय अमोघवर्ष का राज्य केरल से गुजरात मालवा चित्रकूट तक फैला हुआ था। जिनसेन का सम्बन्ध चित्रकूटादि के साथ होने से तथा महाराज अमोघवर्ष द्वारा

सम्मानित होने से उनका जन्म स्थान का अनुमान महाराष्ट्र तथा कर्नाटक के सीमावर्ती प्रदेश में किया जा सकता है।[99]

संसार के अन्य ग्रन्थों में हमें अन्य विशेषताएँ भले ही मिल जायें परन्तु उनके द्वारा रचित आदिपुराण में जिस धार्मिकता, उदात्त एवं दिव्य भावनाओं और उच्चनैतिक आदर्शों का विशद वर्णन मिलता है; उसका अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। आदिपुराण प्राचीन जैन सभ्यता और संस्कृति का दर्पण है। संसार के किसी भी ग्रन्थ में काव्य और नैतिकता का इतना सुन्दर सम्मिश्रण नहीं हुआ है; जितना आदिपुराण में हुआ है।

जिनसेन के महनीय व्यक्तित्व को देखते हुए उनके प्रति सम्मानार्थ भगवन् जिनसेन भी कहा जाता है। उनके दादा गुरु आर्यनन्दि थे। जिनसेन के सतीर्थ दशरथ मुनि थे। जिनसेन और दशरथ मुनि के शिष्य गुणभद्र हुए। ये भी बहुत बड़े ग्रन्थ कर्त्ता हुए।[100]

आदिपुराण की उत्थानिका में जिनसेन ने अपने पूर्ववर्ती प्रसिद्ध कवियों और विद्वानों का उनके वैशिष्ट्य के साथ स्मरण किया है। (1) जिनसेन, (2) समन्त भद्र, (3) श्रीदत्त, (4) प्रभाचन्द्र, (5) शिवकोटि, (6) जराचार्य, (7) काणभिक्षु, (8) देव, देवनन्दि, (9) भट्टाकलंक, (10) श्रीपाल, (11) पात्रकेसरी, (12) वादिसिंह, (13) वीरसेन, (14) जयसेन, (15) कविपरमेश्वर।[101]

इस ग्रन्थ से इनके रचनाकाल का पता नहीं चलता फिर भी अन्य प्रमाणों से ज्ञात होता है कि ये हरिवंश पुराणकार द्वितीय जिनसेन के ग्रन्थ- कर्तृत्वकाल (शक सं. 705 सन् 783) में जीवित थे। उनकी ख्याति पार्श्वाभ्युदय रचयिता के रूप में फैली थी। उसके बाद वृद्धावस्था काल में ही आदिपुराण की रचना प्रारम्भ की थी। जिसे समाप्त करने के पूर्व ही वे दिवंगत हो गये थे। स्व. पं. नत्थूराम प्रेमी ने अनुमान किया है कि उनका जीवन 80 वर्ष के लगभग रहा होगा और वं शक. सं. 685 (सन् 763) में जन्मे होंगे। जिनसेन द्वितीय के काल (शक सं. 705) में वे 20-25 वर्ष के लगभग रहे होंगें। जयधवला की समाप्ति काल में 74 वर्ष और आदिपुराण के लगभग 10 हजार श्लोकों की रचना के समय 80 या उससे कुछ अधिक आयु के रहे होंगे।[102]

जिनसेन स्वामी

जिनसेन अपने गुरु के ही समान महान् विद्वान् और उनके सच्चे

उत्तराधिकारी सिद्ध हुए। गुणभद्र भदन्त ने ठीक ही कहा है कि जिस तरह हिमालय से गंगा का, सर्वज्ञ के मुँह से दिव्य ध्वनि का और उदयाचल से भास्कर का उदय होता है, उसी तरह वीरसेन से जिनसेन का उदय हुआ।[103]

ये सिद्धान्तों के ज्ञाता तो थे ही, कवि भी उच्च कोटि के थे। जयधवला टीका के शेष भाग के सिवाय उनके दो ग्रन्थ और भी उपलब्ध है, पार्श्वाभ्युदय काव्य और आदिपुराण।[104]

1. पार्श्वाभ्युदय

पार्श्वाभ्युदय काव्य की रचना जिनसेन स्वामी ने अपने स्वधर्मी विनयसेन की प्रेरणा से की थी और यह इनकी सबसे पहली रचना मालूम होती है।

यह 364 मन्दाक्रान्ता वृत्तों का एक खण्ड-काव्य है तथा संस्कृत साहित्य में अपने ढंग का अद्वितीय ग्रन्थ है।[105]

2. आदिपुराण

जिनसेन स्वामी ने सभी त्रेसठ श्लाका पुरुषों का चरित्र लिखने की इच्छा से महापुराण का प्रारम्भ किया था, परन्तु बीच में ही शरीरान्त हो जाने से उनकी वह इच्छा पूरी न हो सकी और महापुराण अधूरा रह गया। जिसको बाद में उनके शिष्य गुणभद्राचार्य ने पूर्णता प्रदान की है। महापुराण के दो भाग हैं–

1. आदिपुराण; 2. उत्तरपुराण।

आचार्य जिनसेन ने अपनी कृति को पुराण और महाकाव्य दोनों नामों से अभिहित किया है। वास्तव में यह न तो ब्राह्मणों के विष्णु पुराण आदि जैसा पुराण है और न शिशुपालवधादि के समान महाकाव्य के बाह्य लक्षणों से सम्पन्न एक पौराणिक महाकाव्य है।

आदिपुराण केवल पुराण ही नहीं है, उच्च कोटि का महाकाव्य भी है। गुणभद्र स्वामी ने उसकी प्रशंसा में कहा है कि यह सारे छन्दों और अलंकारों को लक्ष्य में रखकर लिखा गया है, इसकी रचना सूक्ष्म अर्थ और गूढ़ पदों वाली है। यह ग्रन्थ सुभाषितों का भी भंडार है।[107]

वर्धमान पुराण

वर्धमान पुराण को भी उन्हीं की रचना माना जाता है। जिनसेन द्वितीय ने अपने ग्रन्थ हरिवंश पुराण में इसका उल्लेख किया है; किन्तु इसका अन्यत्र कहीं उल्लेख नहीं मिलता है।[108]

गुणभद्राचार्य

गुणभद्राचार्य जिनसेन तथा दशरथ गुरु के शिष्य थे ये भी बहुत बड़े ग्रन्थकर्ता हुए हैं। इन्होंने आदिपुराण के अन्त के 1620 श्लोक रचकर उसे पूरा किया और फिर उसके बाद उत्तरपुराण की रचना की। जिसका परिमाण आठ हजार श्लोक है। केवल 8 हजार श्लोकों में ही शेष तेईस तीर्थंकरों और अन्य महापुरुषों का चरित लिख कर उन्होंने गुरु के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन किया।[109]

उत्तरपुराण यद्यपि संक्षिप्त है, उसमें कथा-भाग की अधिकता है, फिर भी उसमें कवित्व की कमी नहीं है और वह सब तरह से जिनसेन के शिष्य के अनुरूप है। महापुराण को पूरा करने के अतिरिक्त गुणभद्राचार्य ने कुछ स्वतन्त्र कृत्तियों की रचना भी की है।

2. आत्मानुशासन

यह 272 पद्यों का छोटा-सा ग्रन्थ अपने नाम के अनुरूप आत्मा पर अनुशासन प्राप्त करने के लिए बहुत ही उत्तम साधन है। इसकी रचनाशैली भर्तृहरि के वैराग्य शतक के ढंग की ओर बहुत ही प्रभावशालिनी है। इसका प्रचार भी खूब है।

3. जिनदत्तचरित

जिनदत्तचरित्त यह एक हिन्दी अनुवाद है। पं. श्री लाल जी काव्य तीर्थ ने जैन सिद्धराज प्रकाशिनी संस्था द्वारा प्रकाशित किया है। परन्तु न तो उक्त अनुवाद में श्लोकों के नम्बर दिये गये हैं और न कोई प्रशस्ति आदि ही दी है। जिससे मूल ग्रन्थ के सम्बन्ध में कुछ विचार किया जा सके। अनुवाद भी भावार्थ रूप में है। यह नवसर्गात्मक खण्ड काव्य है और सारा का सारा अनुष्टुप् श्लोकों में है। भावार्थ से जहाँ तक अनुमान किया जा सकता है रचना प्रौढ़ और सुन्दर है।[110]

वीरसेन स्वामी

वीरसेन स्वामी जिनसेन के गुरु थे, ये अपने समय के महान् मनीषी आचार्य थे। उन्होंने अपने को सिद्धान्त, छन्दस्, ज्योतिष, व्याकरण और प्रमाण शास्त्रों में निपुण कहा है।[111] जिनसेन ने उन्हें वादिमुख्य, लोकवित, वाग्मी और कवि[112] के अतिरिक्त श्रुतकेवली तुल्य[113] भी बतलाया है और कहा है कि

उनकी सर्वार्थगामिनी प्रज्ञा को देखकर बुद्धिमानों को सर्वज्ञ की सत्ता में कोई शंका नहीं रही थी।[114] सिद्धान्त समुद्र के जल में धोई हुई अपनी शुद्ध बुद्धि से वे प्रत्येक बुद्धों के साथ स्पर्धा करते थे।[115] गुणभद्र ने उन्हें तमाम वादियों को त्रस्त करने वाला[116] और उनके शरीर को ज्ञान और चारित्र की सामग्री से बना हुआ कहा है।[117] जिनसेन (द्वितीय) ने उन्हें कवि चक्रवर्ती कहा है।[118] उनके बनाये हुए तीन ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। जिनमें से दो उपलब्ध हैं–

सिद्धभूपद्धति टीका

उत्तरपुराण की प्रशस्ति में गुणभद्र स्वामी ने इस टीका का उल्लेख किया है। परन्तु यह टीका तथा मूलग्रन्थ जिसकी यह टीका है दोनों में यह भी कहा है कि सिद्धभूपद्धति ग्रन्थ, पद पद पर विषम या कठिन था।[119]

ग्रन्थ नाम से अनुमान किया जाता है कि गणित सम्बन्धी ग्रन्थ होगा और वीरसेन स्वामी बड़े भारी गणितज्ञ तो थे ही। जैसा कि उनकी धवला टीका से स्पष्टतः विदित होता है। इसलिए उनके द्वारा ऐसी टीका का लिखा जाना सर्वथा सम्भव है। परन्तु अभी तक यह ग्रन्थ कहीं प्राप्त नहीं हुआ है और न अन्यत्र कहीं इसका उल्लेख ही मिला है।[120]

धवला टीका

पूर्वों के अन्तर्गत महाकर्म प्रकृत्ति नाम का एक पाहुड़ था। जिसमें कृति, वेदनादि 24 अधिकार थे। पुष्पदन्त और भूतबलि मुनि ने आचार्य धरसेन के निकट इनका अध्ययन करके आदि के छह अधिकारों या खंडों पर सूत्र के रूप में रचना की थी। जिन्हें षट्खण्डागम कहते हैं। उनके नाम हैं – जीवस्थान, क्षुद्रकबन्ध, बन्धस्वामित्व, वेदना, वर्गणा और महाबन्ध। धवला टीका इनमें से आदि के 5 खण्डों की व्याख्या है। छठे महाबन्ध खण्ड के विषय में वीरसेन स्वामी ने लिखा है कि स्वयं भूतबलि ने महाबन्ध को विस्तार के साथ लिखा है। अत एव उसकी पुनरुक्ति करने की जरूरत नहीं मालूम होती और फिर पूर्व के 24 अधिकारों में से शेष के 18 अधिकारों की संक्षिप्त व्याख्या कर दी है। जिन पर भूतबलि के सूत्र नहीं हैं। इस भाग को उन्होंने चूलिका कहा है और इसे ही छठा खण्ड मानकर धवला को भी षड्खण्डागम कहा जाता है। यह पूरा ग्रन्थ 72 हजार श्लोक प्रमाण है इसमें संस्कृत और प्राकृत भाषा मिश्र है।[121]

जयधवला टीका

यह आचार्य गुणधर के कषाय प्राभृत सिद्धान्त की टीका है। इसमें 60

हजार श्लोक प्रमाण हैं। इसके प्रारम्भ की 20 हजार श्लोक प्रमाण टीका वीरसेन स्वामी द्वारा रचित है और शेष 40 हजार जिनसेन स्वामी द्वारा निर्मित है। 20 हजार टीका लिख चुकने पर गुरु का स्वर्गवास हो गया। तदनन्तर शिष्य ने उसे पूरा किया।[122]

जयधवला टीका को जिनसेन स्वामी ने ''वीरसेनीया टीका'' भी लिखी है, जो कि उनके गुरु के कर्तृत्व को प्रकट करती है। उसका एक तिहाई भाग तो गुरुकृत है ही, शेष भाग भी उन्हीं के आदेश और सूचनाओं के अनुसार लिखा गया है।

उक्त दोनों टीका ग्रन्थ राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष (प्रथम) के समय में रचे गये थे और अमोघवर्ष का एक नाम ''धवल'' या ''अतिशय धवल'' भी इसी का नाम था, इसलिए यह स्पष्ट रूप से अनुमान होता है कि इनका नामकरण उन्हीं के नाम को चिरस्थायी करने के लिए किया गया होगा।

षड्खण्डागम के पाँच खण्ड टीका सहित 16 भागों में तथा छठा खण्ड सात भागों में प्रकाशित हो चुका है। कषाय पाहुड़ की टीका 16 भागों में प्रकाशित हो चुकी है।

इन तीन ग्रन्थों के अतिरिक्त वीरसेन स्वामी की और किसी रचना का परिज्ञान नहीं। सम्भव यही है कि इनकी कोई अन्य रचना नहीं होगी। क्योंकि पिछली दो टीकायें 92 हजार श्लोक परिमित हैं और एक मनुष्य के द्वारा इतनी रचना का होना कदापि और कथमपि न्यूनतम नहीं है।[123]

गुरु परम्परा

जिनसेन की गुरु परम्परा को निम्नांकित तालिका से स्पष्टतः समझा जा सकता है। (अगले पृष्ठ पर)

स्थान

जिनसेन व गुणभद्र कहाँ के रहने वाले थे, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता; क्योंकि इसका उल्लेख उनके किसी भी प्रशस्ति में उपलब्ध नहीं है। किन्तु इनसे सम्बद्ध तथा इनके निजी ग्रन्थों में बंकापुर (धारवाड़, कर्नाटक), वाटग्राम (बड़ौदा, गुजरात) तथा चित्रकूट का उल्लेख आता है। जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि ये सम्भवतः कर्नाटक प्रान्त के रहने वाले थे।[124] बंकापुर उस समय बनवास देश की राजधानी थी जो वर्तमान में कर्नाटक के धारवाड़ जिले में अब स्थित है। नाथूराम प्रेमी के अनुसार

वीरसेन और जिनसेन का विहार क्षेत्र कर्नाटक प्रान्त ही रहा होगा और इसी क्षेत्र में आदिपुराण की रचना हुई होगी।[125]

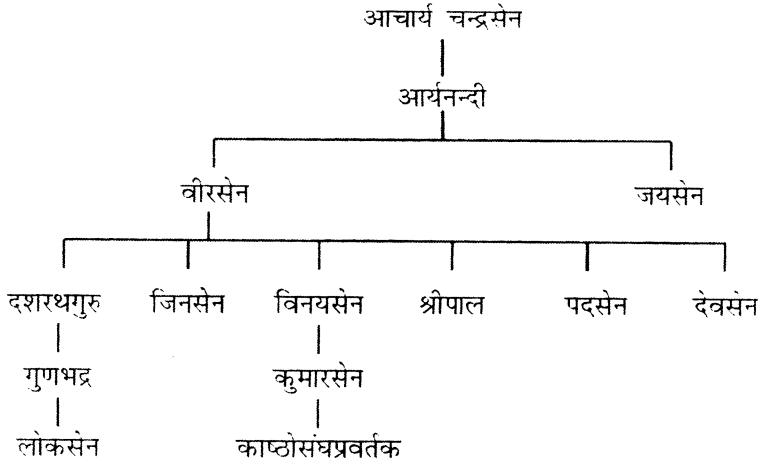

समय

हरिवंश पुराण की रचना के समय आदिपुराण के कर्त्ता जिनसेन द्वितीय विद्यमान थे और उन्होंने तब तक पार्श्व जिनेन्द्र स्तुति तथा वर्धमान पुराण नामक दो ग्रन्थों की रचना भी कर ली थी।[126] किन्तु जिनसेन की जयधवला टीका के अन्तिम भाग तथा महापुराण जैसी सुविस्तृत और महत्त्वपूर्ण कृतियों का हरिवंश पुराण के कर्त्ता जिनसेन प्रथम ने कोई उल्लेख नहीं किया है। जिससे यह तथ्य भी आभासित होता है कि महापुराण जिनसेन द्वितीय की परवर्ती काल की रचना थी। हरिवंशपुराण में वर्णित प्रारम्भिक रचनाओं के समय आदिपुराण के कर्त्ता की आयु कम से कम 25-30 वर्ष अवश्य रही होगी। हरिवंशपुराण के अन्त में दी गई प्रशस्ति में उसका रचनाकाल शक संवत् 705 (783 ई.) बताया गया है। हरिवंशपुराण की रचना आरम्भ करते समय आदिपुराण के कर्त्ता जिनसेन द्वितीय की आयु यदि 25 वर्ष रही होगी। तो उनका जन्म शकसंवत् 675 (753 ई.) के आसपास ही हुआ होगा।

जयधवला टीका की प्रशस्ति से यह ज्ञात होता है कि जिनसेन द्वितीय ने अपने गुरु की वीरसेनीया टीका शकसंवत् 759 (837 ई.) में पूर्ण की थी। इससे सिद्ध होता है कि जिनसेन द्वितीय 837 ई. तक विद्यमान थे। जिनसेन

द्वितीय से पार्श्वाभ्युदय से यह भी ज्ञात होता है कि वह राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष (प्रथम) के राज्यकाल (814 - 878 ई.) में थे। उसके दरबार में अनेक हिन्दू तथा जैन विद्वान् थे। जिसमें आदिपुराण के कर्त्ता जिनसेन भी एक थे।[127]

हीरालाल जैन ने इस सन्दर्भ में लिखा है कि अमोघवर्ष के उत्तराधिकारी कृष्ण द्वितीय (ल. 878 - 918 ई.) के काल में गुणभद्राचार्य ने उत्तरपुराण का लेखन-कार्य पूर्ण किया। पन्नालाल जैनानुसार गुणभद्र की आयु यदि गुरु जिनसेन के स्वर्गवास के समय 25 वर्ष मान ली जाए तो शक संवत् 740 (818 ई) के लगभग उनका जन्म हुआ होगा, परन्तु उत्तरपुराण कब समाप्त हुआ तथा गुणभद्राचार्य कब तक जीवित रहे, यह निर्णय करना कठिन अवश्य है।[128]

सन्दर्भ

1. जै. आ. सा. म. और मी. (आ. दे. मु.) पृ. 18
2. स्था. सू. भा., 1 (आ. आ. रा.) पृ. 9
3. तत्त्वार्थभाष्य, 1.20, श्रुतमाप्तवचनागम उपदेश ऐतिह्यमाम्नायः प्रवचनं जिनवचनमित्यनर्थान्तरम्।
4. अनु. द्वार सू., भा.। (ज्ञा. मु.), पृ. 105
5. स्था. सू. भा. I (आ. आ. रा.) अभि. पृ. 9-12
6. स्था.सू. - भा.। (आ.रा.रा.) पृ. 9-12
7. नन्दी. सू. (आ. आ. रा.) पृ. 36-41
8. अत्थं भासइ अरहा गंथं गंथन्ति गणहरा निउणं
   सासणस्य हियट्ठाय तओ सुत्तं पवत्तइ आ. नि. गा. 192
9. स्था. सू. भा. I अभि. पृ. 12
10. उपा. सू. (आ. आ. रा.) प्रस्ता. पृ. 21-27
11. वही
12. आ. पु. 34.133-146
13. विपाक सू. प्राक्कथन पृ. 50
14. वही
15. तत्त्वार्थ सूत्र 1-20 श्रुत सागरी वृत्ति
16. गो. सा. (जी. का.) गा. 356-357
17. गो. सा. (जी. का.) गा. 367-368
18. त.सू., (सु.ला.सं.), पृ. 9 (वि)
19. जै.द., (मो.ला. मे.), पृ. 93

20. जै.द., (मो.ला. मे.), पृ. 93-94
21. जै.ध. के प्र.आ., (सा. संघ), पृ. 319-321
22. जै.ध. के प्र.आ., (सा. संघ), पृ. 324
23. जै.ध. के प्र.आ., (सा. संघ), पृ. 324-325
24. जै.ध. के प्र.आ., (सा. संघ), पृ. 326, 327
25. वही, पृ. 327
26. वही, पृ. 328
27. जै.ध. के प्र.आ., (सा. संघ), पृ. 328
28. वही, पृ. 329
29. भा.द., ब. उपा., पृ. 151-152
30. वही, पृ. 152
31. भा.द., (ब.उपा.) पृ. 152
32. वही।
33. वही।
34. वही, पृ. 153
35. भा. द., (ब.उपा.), पृ. 153
36. वही, पृ. 153-154
37. वही, पृ. 154
38. भा.द., (ब.उपा.), पृ. 154
39. पाणिनी, 4.3.23
40. पा. 7.1.1
41. पा. 8.4.2
42. पा. 2.1.48
43. पा. 4.2.105
44. पुराणामान्युत्तरणि षट। पुराणं कस्मात्। पुरा नवभवति। नवानामान्युत्ताराणि षकेव। नवं कस्मात्। आनीतं भवति। - निरुक्त., 3.19.24
45. गीता., 8.9
46. यस्मात् पुरा ह्यमूच्चैतत् पुराणं तेन तत् स्मृतम्। निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते। ब्रह्माण्ड पु. 1.1.173
47. अमरकोश, 1.6.5. भानु जी दीक्षित टीका
48. सं.हि.को., (वा.शि.आ.), पृ. 623
49. श. कल्पद्रुम 111, पृ. 179

50. पुरा परम्परां वष्टि पुराणं तेनतत्स्मृतम (पद्म पुराण 52.53)
51. स्यात्प्रबन्धे पुरातीते संकट गामिके तथा (मेदिनी कोश 15)
52. पुराणं षोडषमणे, पुराणं प्रत्नशास्त्रयोः, (हेमचन्द्र कोश), पृ. 15, पं. 7
53. पुराणं ग्रन्थ भेदे च क्लीबेत्रिषु पुरातने। (नानार्थ रत्नमाला), पृ. 77
54. पुराणं पुरा वृत्तम्, नीलकण्ठ कृत महाभारत टीका, 1.5.2
55. ना.वि.श. सं., श्री.न.जो., पृ. 857
56. बृ.हि.को., पृ. 609
57. पं. गणेशदत्तशास्त्री पद्म चन्द्रकोष, पृ. 320, संस्करण 1925
58. पुरा परम्परा वृष्टि पुराणां तेन तत् स्मृतम्। —पद्मपुराण, 5.2.53
59. कौटिल्य अर्थशास्त्र, 1.5
60. भागवत पुराण, 12.7.9
61. मत्स्य पुराण, 53.64
62. अथर्ववेद 11.7.25; 11.8.7
63. (क) शतपथ ब्राह्मण, 11.5.6.8;
    (ख) गो.प. 1.2.10 (गोपथब्राह्मण)
64. तै.आ. पाठक 2, अनुवाक 9
65. छा. उ. 7.1.2
66. आश्वलायनगृह्यसूत्र, 3.4
67. मनु स्मृति 232
68. वा.रा. 1.9.1
69. म.भा.आ.प.
70. परपशाहिनके, 1.1.1
71. न्यायदर्शन, 4.1.62
72. सिद्धान्त शिरोमणि, 56
73. शुक्रनीति, 4.26.4
74. भा.आ.हि.श.को., (प.रा.पा.), पृ. 501
75. सं.सा.का.इ., (वा.गै.), पृ. 233
76. आ.पु., 1.24-25
77. आ.पु., 1.15-20
78. पुरातनं पुराणं स्यात् तन्महन्महदाश्रयात्।
    महद्भिरूपदिष्टत्वात् महाश्रेयोऽनुशासनात्।। — आ.पु., 1.21
79. कविं पुराणमाश्रित्य प्रसृतत्वात् पुराणता।

महत्त्वं स्वमहिम्नैव तस्येत्यन्यैर्निरुच्यते।। – आ.पु., 1.21

80. महापुरुषसम्बन्धि महाभ्युदयशासनम्।
महापुराणमाम्नातमत एतन्महर्षिभिः।। – आ.पु., 1.23

81. महापुराणसंबन्धि महानायकगोचरम्।
त्रिवर्गफल संदर्भ महाकाव्यं तदिष्यते।। – आ.पु., 1.99

82. तीर्थकर्तृपुराणेषु शेषाणामपि संग्रहात्।
चतुर्विंशतिरेवात्र पुराणानीति केचन।।

पुराणं वृषभस्याद्यं द्वितीयमजितेशिनः।
तृतीयं संभवस्येष्टं चतुर्थमभिनन्दने।।

पञ्चमं सुमतेः प्रोक्तं षष्ठं पद्मप्रभस्य च।
सप्तमं स्यातृसुपार्श्वस्य चन्द्रभासोऽष्टमं स्मृतम्।।

नवमं पुष्पदन्तस्य दशमं शीतलेशिनः।
श्रायसं च परं तस्माद् द्वादशं वासुपूज्यगम्।। – आ.पु., 2.127-130

त्रयोदशं च विमले ततोऽनन्तजितः परम्।
जिने पञ्चदशं धर्मे शान्तेः षोडशमीशितुः।।

कुन्थोः सप्तदशं ज्ञेयमरस्याष्टादशं मतम्।
मल्लेरेकोनविंशं स्याद् विंशं च मुनिसुव्रते।।

एकविंशं नमेर्भर्तुर्नेमेर्द्वाविंशमर्हतः।
पार्श्वेशस्य त्रयोविंशं चतुर्विंशं च सन्मतेः।। – आ.पु., 2.131-133

83. पुराणान्येवमेतानि चतुर्विंशतिरर्हताम्।
महापुराणमेतेषां समूहः परिभाष्यते।। – आ.पु., 2.134

84. सं.स.का.इ., (वा.ग.), पृ. 267-268

85. आ.पु., प्रस्ता., पृ. 8-12

86. वही

87. आ.पु. प्रस्ता. 12, आ. पु. 1-11 पर्व

88. जयवर्मा भवे पूर्वे द्वितीयेऽभून्महाबलः।
तृतीये ललिताङ्गाख्यो वज्रजङ्घश्चतुर्थके।।

पञ्चमे भोगभूजोऽभूत् षष्ठेऽयं श्रीधरोऽमरः।
सप्तमे सुविधिः क्ष्माभृद् अष्टमेऽच्युतनायकः।।

नवमे वज्रनाभीशो दशमेऽनुत्तरान्त्यजः।
ततोऽवतीर्य सर्वेन्द्रवन्दितो वृषभोऽभवत्।। – आ. पु., 47.357-359

89. कल्प सू. – (आ.दे.मुनि.) (वि) पृ. 248-254

90. आ. पु. प्रस्ता, पृ. 12, आ. पु. 4.39-40, आ.पु. 12.8 82, आ.पु., 12.103-118, 12.164-165, 14.106.158, 16.179-189, 17.4-201, 22.1-14, 22.77-316, 23.1-105, 25.100-217, पउमचरिय 4.4 एवं 5.12, उ.पु., प्रस्ता. पृ. 14.

91. द्रव्यं क्षेत्रं तथा तीर्थं कालो भावः फलं महत्।
प्रकृतं चेत्यमून्याहुः सप्ताङ्गानि कथामुखे।। – आ.पु., 1.122

92. द्रव्यं जीवादि षोढा स्यात्क्षेत्रं त्रिभुवनस्थितिः।
जिनेन्द्रचरितं तीर्थं कालस्त्रेधा प्रकीर्तितः।।

प्रकृतं स्यात् कथावस्तु फलं तत्त्वावबोधनम्।
भावः क्षयोपशमजस्तस्य स्यात्क्षायिकोऽथवा।। – आ.पु., 1.123-124

93. इत्यमूनि कथाङ्गानि यत्र सा सत्कथा मता।
यथावसरमेवैषां प्रपञ्चो दर्शयिष्यते।। – आ.पु., 1.125

94. लोको देशः पुरं राज्यं तीर्थं दानतपोऽन्वयम्।
पुराणेष्वष्टधाख्येयं गतयः फलमित्यपि।। – आ.पु., 4.3

95. लोकोद्देशनिरुक्त्यादिवर्णनं यत् सविस्तरम्।
लोकाख्यानं तदाम्नातं विशोधित दिगन्तरम्।।

तदेकदेशदेशाद्रिद्वीपाब्ध्यादि प्रपञ्चनम्।
देशाख्यानं तु तज्ज्ञेयं तज्ज्ञैः संज्ञानलोचनैः।। – आ.पु., 4.4-5

96. भरतादिषु वर्षेषु राजधानीप्ररूपणम्।
पुराख्यानमितीष्टं तत् पुरातनविदां मते।।

अमुष्मिन्नधिदेशोऽयं नगरचेति तत्पतेः।
आख्यानं यत्तदाख्यातं राज्याख्यानं जिनागमे।। – आ.पु., 4.6-7

97. संसाराब्धेरपारस्य तरणे तीर्थमिष्यते।
चेष्टितं जिननाथानां तस्योक्तिस्तीर्थसंकथा।।

यादृशं स्यात्तपोदानमनीदृशगुणोदयम्।
कथनं तादृशस्यास्य तपोदानकथोच्यते।।

नरकादिप्रभेदेन चतस्रो गतयो मताः।
तासां संकीर्त्तनं यद्धि गत्याख्यानं तदिष्यते।।

पुण्यपापफलावाप्तिर्जन्तूनां यादृशी भवेत्।
तदाख्यानं फलाख्यानं तञ्च निःश्रेयसावधि।। – आ.पु., 4-8-11

98. आ. पु. प्रस्ता. पृ. 17

99. जै.सा.का.बृ.इ., भा. 6 पृ. 134-135

100. वही।

101. वही।

102. जै.सा.का.बृ.इ., भा. 6, पृ. 132

103. जै.सा.का.बृ.इ., भा. 6 पृ. 134

104. वही।

105. वही, पृ. 136

106. जै.सा.का.बृ.इ., भा. 6, पृ. 136

107. वही

108. वही।

109. जै. सा. का. बृ. इ., पृ. 139; आ.पु., प्रस्ता. पृ. 28

110. वही।

111. सिद्धंत-छंद-जोइसु-''वायरण-पमाणसत्थणिउणेण।
भट्टारएण टीका लिहिएसा वीरसेणेण।।5।। – धवला

112. श्री वीरसेन इत्याप्य-भट्टारकपृथुप्रथः।
स. नः पुनातु पूतात्मा वादिवृन्दारको मुनिः।।55।।
लोकवित्त्वं कवित्वं च स्थितं भट्टारके द्वयं।
वाग्मिता वाग्मिनो यस्य वाचा वाचस्पतेरपि।।56।। आ.पु.

113. यं प्राहुः प्रस्युरद्बोधदीधतिप्रसरोदयं।
श्रुतकेवलिनं प्राज्ञाः प्रज्ञाश्रमणसत्तमम्।।21।।

114. यस्य नसर्गिकीं प्रज्ञां दृष्ट्वा सर्वार्थगामिनीं।
जाताः सर्वज्ञसद्भावे निरारेका मनीषिणः।।22।।

115. प्रसिद्धसिद्धसिद्धान्तवार्धिवाधौर्तशुद्धधीः।
सार्द्धं प्रत्येकबुदैर्यः स्पर्धते धीद्धबुद्धिभिः।।23।। ज. ध.

116. तत्र वित्रासिताशेष प्रवादिमदवारणः।
वीरसेनाग्रणीवीरसेन भट्टारको बभौ।।3।।

117. ज्ञानचारित्रसामग्रीमग्रहीदिव विग्रहम्।।4।। – उत्तरपुराण प्र.

118. जितात्म परलोकस्य कवीनां चक्रवर्तिनः।
वीरसेनगुरोः कीर्तिरकलंकावभासते।।3-6।। – हरिवंश पु.

119. सिद्धभूपद्धतिर्यस्य टीकां संवीक्ष्य भिक्षुभिः।
टीक्यते हेलयान्येषां विषमापि पदे पदे।।6।। – उत्तरपुराण प्र.

120. जै.सा.का.बृ.इ., भा. 6 पृ. 131

121. जै.सा.का.बृ.इ., भा. 6 पृ. 131

122. वही, पृ. 132

123. आ.पु., प्र., पृ. 17

124. आगत्य चित्रकूटाततः स भगवान् गुरोरनुज्ञानात् वाटग्रामे चात्रानतेन्द्रकृतजिनगृहे स्थित्वा।
– श्रु.अ. 179

125. आ.पु., प्र., पृ. 18

126. आ.पु., प्रस्ता., पृ. 20

127. वही पृ. 20-21

128. भा.सं. में जैन ध. का योगदान, (ही.ला.जै.), पृ. 38

द्वितीय अध्याय

आदिपुराण में तत्त्व विमर्श व जीव तत्त्व विषयक विचारधारायें

भारतीय दर्शन में तत्त्व शब्द एक महत्त्वपूर्ण शब्द है। तत्त्व शब्द तत् शब्द से त्व प्रत्यय लगाकर बनता है। इसका प्रयोग सभी दार्शनिक शास्त्रों और ग्रन्थों में हुआ है। क्योंकि प्रत्येक दर्शन के मूल में कोई न कोई तत्त्व माना गया है। अतः इसको सर्वत्र स्वीकार किया गया है। तस्य भावः तत्त्वम्।[1]

तत्त्व विमर्श

लौकिक दृष्टि से तत्त्व शब्द के अनेक अर्थ होते हैं-वास्तविक स्थिति, यथार्थता, सारवस्तु, सारांश, किन्तु दार्शनिक चिन्तकों ने तत्त्व के प्रस्तुत अर्थ को स्वीकार करते हुए भी परमार्थ, द्रव्य स्वभाव, पर-अपर, ध्येय, शुद्ध, परम के लिए भी तत्त्व शब्द का प्रयोग किया है।[2] वेदों में परमात्मा तथा ब्रह्म के लिए तत्त्व शब्द का उपयोग किया गया है।

सभी दर्शनों ने अपनी-अपनी दृष्टि से तत्त्वों का निरूपण किया है। सभी का यह मन्तव्य है-कि जीवन में तत्त्वों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जीवन और तत्त्व ये एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। तत्त्व से जीवन को अलग नहीं किया जा सकता और तत्त्व के अभाव में जीवन गतिशील नहीं हो सकता। जीवन में से तत्त्व को अलग करने का अर्थ है, आत्मा के अस्तित्त्व से इन्कार करना।

समस्त भारतीय दर्शन तत्त्व के आधार पर ही खड़े हुए हैं। आस्तिक दर्शनों में से प्रत्येक दर्शन ने अपनी-अपनी परम्परा और अपनी-अपनी कल्पना के अनुसार तत्त्व-मीमांसा और तत्त्व-विचार स्थिर किया है। भौतिकवादी **चार्वाक दर्शन** ने भी तत्त्व स्वीकार किये हैं। वह पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि ये चार तत्त्व मानता है। आकाश को नहीं। क्योंकि आकाश का ज्ञान प्रत्यक्ष से न होकर अनुमान से होता है।[3] **वैशेषिक दर्शन** में मूल छह तत्त्व माने हैं-द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय,[4] कालान्तर में इनके साथ

''अभाव'' नामक सातवाँ पदार्थ भी जोड़ दिया गया है। इस तरह सात पदार्थ है। **न्याय दर्शन** ने सोलह पदार्थ माने हैं - प्रमाण, प्रमेय, संशय आदि.....।[5] **सांख्य दर्शन** ने पच्चीस तत्व स्वीकार किये हैं। वे ये हैं - प्रकृति, महत्, अहंकार, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ..... आदि।[6] **योग दर्शन** – योगदर्शन सांख्य सम्मत तत्त्वों के अतिरिक्त ईश्वर समेत छब्बीस तत्त्व स्वीकार करता है।[7] **मीमांसादर्शन** वेदविहित कर्म को ''सत्'' तत्त्व मानता है।[8] वेदान्त दर्शन एक मात्र ब्रह्म को सत् या नित्य मानता है, और शेष सभी को असत् या अनित्य मानता है।[9] बौद्धदर्शन ने चार आर्य सत्य स्वीकार किये हैं - दुःख, दुःख समुदाय, दुःख निरोध और दुःख निरोध मार्ग ये चार आर्य सत्य अर्थात् तत्त्व हैं।[10] जैन दर्शन में तत्त्व की व्यवस्था दो प्रकार से की गई है–षड्द्रव्य रूप में तथा सप्त-तत्त्व या नव पदार्थ के रूप में। द्रव्य, तत्त्व और पदार्थ इन तीनों का एक ही अर्थ है।[11]

जैन दर्शन में विभिन्न स्थलों पर और विविध प्रसंगों पर सत्, सत्त्व, तत्त्व, तत्त्वार्थ, अर्थ, पदार्थ और द्रव्य - इन शब्दों का प्रचुर प्रयोग एक ही अर्थ में किया गया है। अतः ये शब्द एक दूसरे के पर्यायवाची रहे हैं।[12] आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में तत्त्वार्थ, सत् और द्रव्य शब्द का प्रयोग तत्त्व अर्थ में किया है।[13] अतः जैन दर्शन में जो तत्त्व हैं वह सत् है और जो सत् है वह द्रव्य है। केवल शब्दों में अन्तर है, भावों में कोई अन्तर नहीं है -आचार्य नेमिचन्द्र ने द्रव्य के दो भेदों का समुल्लेख किया हैं - जीव द्रव्य, अजीव द्रव्य। शेष सम्पूर्ण संसार इन दोनों का ही प्रपंच है, विस्तार हैं[14] सत् क्या है। बौद्ध दर्शन कहता है – ''यत् क्षणिकं तत् सत्'' इस विश्व में जो कुछ है वह सब क्षणिक है। बौद्ध दृष्टि से जो क्षणिक है वही सत् है, वही सत्य हैं[15] इसके विपरीत वेदान्त दर्शन का अभिमत है कि जो अप्रारूप्य, अनुत्पन्न, स्थिर एवं एक रूप है वही सत् है, शेष सभी कुछ मिथ्या है। बौद्धदर्शन इस प्रकार एकान्त क्षणिकवादी है और वेदान्त दर्शन एकान्त नित्यतावादी है। दोनों दो किनारों पर खड़े हैं।[16] जैनदर्शन इन दोनों एकान्तवादों को अस्वीकार करता है। वह परिणामि- नित्यवादी को मानता है। सत् क्या है, उत्पाद-व्यय और ध्रौव्ययुक्त है, वह सत् है, सत्य है, तत्त्व है और द्रव्य है।[17]

इसीलिये तत्त्वार्थ सूत्र वस्तु को उत्पाद-व्यय ध्रौव्य युक्त बतलाता है।[18] अर्थात् पदार्थ उत्पन्न होने तथा नाश होने वाला होता है, साथ ही साथ वह स्थिर होने वाला भी होता है - अर्थात् वह नित्यानित्य होता है। जो पदार्थ नित्य है वह उसी क्षण में अनित्य कैसे हो सकता है। क्या एक ही पदार्थ में नित्यता

तथा अनित्यता का एककालिक सम्बन्ध मानना विरुद्ध नहीं माना जा सकता। इसका उत्तर बड़े सुन्दर ढंग से दिया गया है। बिना किसी प्रकार के परिवर्तन हुए समान भाव से रहने वाली वस्तु को वह नित्य नहीं मानता। अपनी जाति से च्युत न होना ही नित्यत्व का लक्षण है। वस्तु के परिणाम होने पर भी जातिगत एकता विघटित नहीं होती, अतः उसे नित्य मानने में कोई विपत्ति नहीं होनी चाहिए। अनुभव इस परिणामनित्यता के सिद्धान्त की प्रामाणिकता सिद्ध करता है। स्वर्ण में कुण्डलत्व, अङ्गुलीयत्व आदि धर्म के उत्पन्न होने पर भी वह सुवर्णत्व जाति से च्युत नहीं होता। ''परिणामिनित्यता'' के सिद्धान्त में वेदान्तियों के कूटस्थनित्यता तथा सौगतों के ''परिणामवाद'' का समन्वय है। प्रपंच के नानात्व के भीतर विद्यमान एकत्व को जैन दर्शन अङ्गीकार करता है। वह कहता है जगत का नानात्व भी वास्तविक है, तथा एकत्व भी सत्य है।[19]

सतत् विद्यमान रहने वाले तथा वस्तुसत्ता के लिए नितान्त आवश्यक धर्मों को ''गुण'' कहते हैं तथा देशकाल जन्य परिणामशाली धर्म को ''पर्याय'' कहते हैं। गुण तथा पर्याय-विशिष्ट वस्तु को जैन न्याय के अनुसार द्रव्य कहते हैं।[20]

छान्दोग्योपनिषद् में आरुणि ने आत्मज श्वेतकेतु को ब्रह्मोपदेश देते हुए यह दृष्टान्त दिया था कि मिट्टी के एक पिण्ड को देखकर सभी मिट्टी के कार्यों को हम समझ लेते हैं कि ये मिट्टी के ही विकार हैं। इसके विकार केवल प्रातिभासिक या असत् हैं जबकि उपादान मिट्टी ही उस प्रसंग में एकमात्र सत्य है। इसी के आधार पर शंकर ने कार्य रूप सृष्टि को असत् तथा उपादान ब्रह्म को केवल सत् बताया है।[21] जबकि जैन दर्शन कार्य को भी सत् मानता है।

इसके विपरीत बौद्ध ने सारी वस्तुओं को परिवर्तनशील कहा। उनके अनुसार सत् कभी दृष्टिगत नहीं होता। सारे पदार्थ गुणों के समुच्चय हैं। ये गुण भी प्रतिक्षण परिवर्तनशील हैं, जिसका कोई आश्रय नहीं होता। इस प्रकार गुणों के आधार पर कहे जाने वाले द्रव्य को बौद्धों ने ''असत्'' की संज्ञा दी। वाचक उमास्वाति ने सत् अर्थात् नित्यत्व का स्वरूप बतलाने का प्रयास किया है। वह इस प्रकार है कि जो अपने भाव से (अपनी जाति से) च्युत न हो, वही नित्य है।[22] कुछ दर्शनों में नित्य की अवधारणा कूटस्थनित्य से है किन्तु जैन दर्शन इन सभी दर्शनों के विपरीत वस्तु को परिणामिनित्य मानता है। परिणामिनित्य से उसका तात्पर्य है कि प्रत्येक काल में पदार्थ अपनी जाति के साथ-साथ परिणमन भी करता है - अर्थात् उत्पाद व्यय भी करता है। इस प्रकार पदार्थ में

जाति की अपेक्षा से ध्रुवता तथा स्वभाव की अपेक्षा से उत्पाद एवं व्यय स्थित रहता है। अतएव सत् के उक्त लक्षण में न तो कोई दोष है न ही कोई विरोध।

''गुणपर्यायवद्द्रव्यम्'' (त.सू., 5.37) में प्रयुक्त गुण शब्द एवं पर्याय के निगूढार्थ में ही द्रव्य का लक्षण निहित है। अतएव उक्त दोनों शब्दों का स्पष्टीकरण यहाँ आवयश्क प्रतीत होता है। यहाँ गुण वस्तु का वह धर्म है जो उससे कभी पृथक् नहीं होता, साथ ही उसकी ध्रुवता को सुरक्षित रखता है। आलापपद्धति में कहा गया है कि जो द्रव्य को द्रव्यान्तरों से पृथक् करता है, वह गुण है।[23] इसके अतिरिक्त जो सम्पूर्ण द्रव्य में व्याप्त रहते हैं तथा निष्क्रिय रहते हैं उन्हें गुण कहते हैं।[24] यह गुण एक शक्ति विशेष है इसमें अन्य किसी शक्ति की स्थिति नहीं रहती इसीलिए इसे निष्क्रिय कहा गया है।

वैशेषिक दर्शन में यद्यपि गुण को द्रव्य से सर्वथा पृथक् माना गया है तथापि परिभाषा की दृष्टि से जैन सिद्धान्त के साथ उसका साम्य देखा जा सकता है। प्रशस्तपाद ने गुण के विषय में कहा है कि यह द्रव्य में रहते हैं या स्वयं निर्गुण व निष्क्रिय होते हैं।[25] इस प्रकार दोनों के सिद्धान्त में गुण को निष्क्रिय माना गया है।

गुण अन्वयी होते हैं[26] इसका तात्पर्य यह है। यह शक्ति के मौलिक स्वभाव का कभी व्यय अथवा नाश नहीं होता। तत्त्वार्थ सूत्र विवेचन में कहा गया है कि द्रव्य में परिणामजननशक्ति उसका गुण है। ये प्रत्येक द्रव्य में अनन्त होते हैं। समानजातीय द्रव्यों में गुण समान होते हैं किन्तु असमानजातीय द्रव्यों में ये समान और भिन्न दोनों होते हैं। यह द्रव्य अनन्तगुणों का अखण्डसमुदाय है।[27] दूसरे शब्दों में, द्रव्य की गुणरहित कोई सत्ता नहीं। ये गुण वस्तु, रूप, रस, गन्ध स्पर्शादि है। द्रव्य में सदैव वर्तमान रहने वाला गुण ही पर्याय का जनक भी है।

इसके अतिरिक्त पर्याय द्रव्य का एक ऐसा धर्म है जो निरन्तर बदलता रहता है, तथा उस वस्तु के स्वरूप में उसके फलस्वरूप कुछ न कुछ नूतनता और क्षीणतारूप परिवर्तन होता रहता है। पयार्य द्रव्य का एक अंश है जो द्रव्य के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं रहता। साथ ही द्रव्य भी कभी पर्यायरहित नहीं होता। पर्याय को प्रायः पर्यय, पर्यव आदि दूसरे अर्थों में भी कहा जाता है।[28]

तत्त्वार्थसूत्र में प्रस्तुत द्रव्य की दो परिभाषा ''उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तम्'' तथा ''गुणपर्यायवद्द्रव्यम्'' में पारस्परित साम्य होने पर भी पुनरावृत्ति दोष प्रायः प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि गुण एवं पर्याय में उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य

अन्तर्भूत हो सकता है किन्तु उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य में गुण एवं पर्याय समाहित नहीं हो सकता। वाचक उमास्वाति ने उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य के द्वारा सत् की परिभाषा की। इस सत् को एक परिधि में स्थिर कर पुनः सत् को ''द्रव्य'' कहा है। अर्थात् द्रव्य सत् स्वभाव वाला होता है। कालान्तर में इसी ''सल्लक्षण'' को अन्य जैनाचार्यों ने भी आगे बढ़ाया। यद्यपि द्रव्य अनेक हैं और उनकी विविधता के कारण भी युक्तियुक्त हैं। इस प्रकार इन सारे द्रव्यों को एक लक्षण में समाहित करने के उद्देश्य से उमास्वाति ने द्रव्य की उक्त परिभाषा की। इससे सद्रूप से सारे द्रव्य एक हो जाते हैं।

उमास्वाति ने प्रथम परिभाषा के द्वारा द्रव्य की व्यापकता दिखाई है कि सारे व्ययी एवं अव्ययी स्वभाव इस द्रव्य के हो सकते हैं, जबकि द्वितीय में द्रव्य को सीमा के अन्तर्गत बाँध दिया है कि इस लक्षण से अतिरिक्त लक्षण वाला पदार्थ द्रव्य नहीं हो सकता। गुण और पर्याय-रूप से ही द्रव्य अनुभव में आता है।

यही नहीं वैशेषिक दर्शन के साथ भी उक्त लक्षणों की आन्तरिक समता देखी जा सकती है। महर्षि कणाद के द्वारा प्रदत्त परिभाषा[29] में प्रयुक्त क्रिया एवं गुणवत् में स्पष्टतया गुण का उल्लेख किया गया है कि जो गुण का आश्रय हो, वह द्रव्य है। जबकि क्रिया को अवान्तर रूप से उत्पाद एवं व्यय की प्रक्रिया में समझा जा सकता है। इसीलिए द्रव्य का उक्त लक्षण व्यापक अर्थ के साथ-साथ अन्य पारम्परिक दर्शन की परिभाषा का भी अनुपालन करता है।

जैन दर्शन में प्राधान्येन जीव और अजीव इन दो तत्त्वों का निदर्शन किया गया है।[30] कुन्दकुन्दाचार्य ने तत्त्वों को दो वर्गों में बाँटा है–

(क) अन्तस्तत्त्व (आत्मा) तथा

(ख) बहिस्तत्त्व (जड़)

यह वर्गीकरण सूत्रात्मक एवं गूढ़ होने के कारण जन साधारण के लिए दुरुह था। इस दुरुरहता के निर्धारण के लिये कई शैलियाँ अपनाई गयी हैं।[31]

जिसमें चेतनता है वह चैतन्य रूप-संवेदनशील आत्मा है और चैतन्य रहित जिसे अनुभूति नहीं होती है वह जड़ है।

पदार्थ संख्या

ग्रन्थकार नौ पदार्थों और सात तत्त्वों पर विचार करने की प्रतिज्ञा करता

है।[32] जैन दर्शन में कहीं सात तो कहीं नौ पदार्थ गिनाने की परम्परा रही है। जो इस प्रकार है–

1. जीव, 2. अजीव, 3. पुण्य, 4. पाप, 5. आस्रव, 6. संवर, 7. बन्ध, 8. निर्जरा, 9. मोक्ष।

तत्त्वार्थ सूत्र में इन्हीं सात तत्त्वों की मान्यता है। वे इस प्रकार हैं–

1. जीव, 2. अजीव, 3. आस्रव, 4. संवर, 5. निर्जरा, 6. बन्ध, 7. मोक्ष।

आदिपुराण में सात पदार्थ भी कहे गये हैं - इस बात का उल्लेख कर ग्रन्थकार तत्त्वार्थ सूत्र को आदर दे रहा है।[33] अगर पुण्य और पाप का समावेश आस्रव या बन्ध तत्त्व में कर लिया जाये तो सात तत्त्व ही शेष रह जायेंगे। इस अन्तर्भाव को इस प्रकार समझना चाहिए। पुण्य और पाप दोनों ही आश्रव हैं। शुभ कर्मों का आत्मा में आना पुण्य आश्रव है और अशुभ कर्मों का आत्मा में आना पाप आश्रव है इसलिए पुण्य और पाप का समावेश आश्रव में हो जाता है।[34]

पुण्य-पाप दोनों द्रव्यभावरूप से दो-दो प्रकार के हैं। शुभ कर्मपुद्गल द्रव्यपुण्य और अशुभ कर्मपुद्गल द्रव्यपाप है। इसलिए द्रव्यरूप पुण्य तथा पाप बन्धतत्त्व में अन्तर्भूत हैं, क्योंकि आत्मसंबद्ध कर्मपुद्गल या आत्मा और कर्मपुद्गल का सम्बन्ध विशेष ही द्रव्य बन्धतत्त्व कहलाता है। द्रव्य-पुण्य का कारण शुभ अध्यवसाय जो भावपुण्य है और द्रव्यपाप का कारण अशुभ अध्यवसाय जो भावपाप कहलाता है, दोनों भी बन्धतत्त्व में अन्तर्भूत हैं, क्योंकि बन्ध का कारणभूत काषायिक अध्यवसाय-परिणाम ही भाव बन्ध कहलाता है।[35]

षड् द्रव्य

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल यह छह द्रव्य कहे गये हैं।[36]

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश, ये पाँच अस्तिकाय हैं, अर्थात् सत्स्वरूप होकर बहुप्रदेशी हैं। अपनी-अपनी पर्यायों सहित जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, आकाशिस्तकाय, धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय ये पाँच अस्तिकाय के रूप में प्रतिपादित हैं।[37]

अस्तिकाय का अर्थ होता है-प्रदेश बहुत्व। ''अस्ति'' और ''काय'' इन दो शब्दों के योग से अस्तिकाय बनता है अस्ति का अर्थ विद्यमान होना और काय का अर्थ है अनेक प्रदेशों का समूह। जहाँ अनेक प्रदेशों का समूह होता है वह अस्तिकाय कहा जाता है।[38] अब प्रदेश का अर्थ भी हमें समझना है।

पुद्गल का एक परमाणु जितना स्थान (आकाश) घेरता है, उसे प्रदेश कहते हैं।[39] यह एक प्रदेश का परिमाण है। इस प्रकार के अनेक प्रदेश जिस द्रव्य में पाए जाते हैं, वह द्रव्य अस्तिकाय कहा जाता है। प्रदेश का परिमाण एक प्रकार का नाप है। इस नाप से पुद्गल के अतिरिक्त अन्य पाँचों द्रव्य भी नापे जा सकते हैं। यद्यपि जीवादि अरूपी है, किन्तु उनकी स्थिति आकाश में हैं और आकाश स्वप्रतिष्ठित हैं। अतः उनका परिमाण समझने के लिए नापा जा सकता है। यह उचित है कि पुद्गल द्रव्य को छोड़कर शेष द्रव्यों का इन्द्रियों से ग्रहण नहीं हो सकता, किन्तु बुद्धि से उनका परिमाण नापा एवं समझा जा सकता है। धर्म, अधर्म, आकाश पुद्गल और जीव के अनेक प्रदेश होते हैं। अतः ये पाँचों द्रव्य अस्तिकाय कहे जाते हैं। इन प्रदेशों को अवयव भी कह सकते हैं। अनेक अवयव वाले द्रव्य अस्तिकाय हैं। अद्धासमय अर्थात काल के स्वतन्त्र निरन्वय प्रदेश होते हैं। वह अनेक प्रदेशों वाला एक अखण्ड द्रव्य नहीं हैं, अपितु उसके स्वतन्त्र अनेक प्रदेश हैं। प्रत्येक प्रदेश स्वतन्त्र-स्वतन्त्र रूप से अपना कार्य करता है। उनमें एक अवयवी की कल्पना नहीं की गई, अपितु स्वतन्त्र रूप से सारे काल प्रदेशों को भिन्न-भिन्न द्रव्य माना गया है। इस प्रकार ये काल द्रव्य एक द्रव्य न होकर अनेक द्रव्य हैं। लक्षण की समानता से सबको "काल" ऐसा एक नाम दे दिया गया। धर्मादि द्रव्यों के समान काल एक द्रव्य नहीं है। इसलिए काल को अनस्तिकाय कहा गया। अस्तिकाय और अनस्तिकाय का यही स्वरूप है।[40]

द्रव्य का अस्तिकाय और अनस्तिकाय रूप से इस प्रकार प्रदर्शित किया गया है–

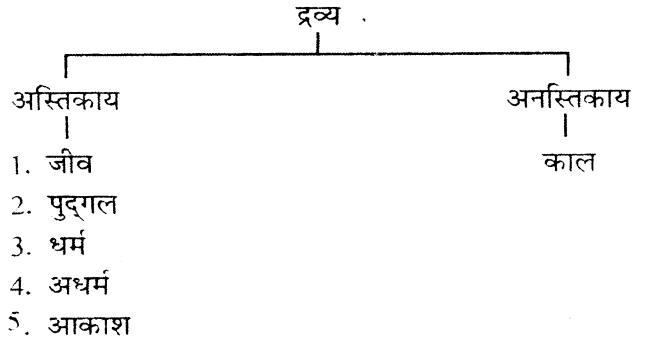

यह द्रव्य रूपी और अरूपी है–

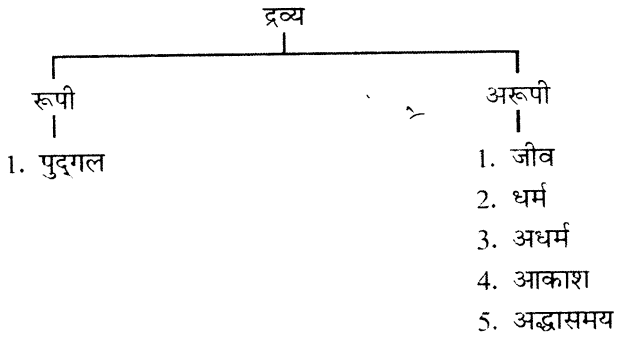

जीव द्रव्य

जैन दर्शन में सर्वप्रथम जीव तत्त्व का निर्देश है। क्योंकि जीव को आधार मानकरे ही अन्य तत्त्वों का माहात्म्य समझ में आ सकता है। अतः जीव तत्त्व का लक्षण और स्वरूप जानना अनिवार्य हो जाता है।

जीव का लक्षण अथवा स्वरूप

जीव का असाधारण गुण, जिसके कारण वह अन्य द्रव्यों से पृथक सिद्ध होता है, चेतना है।[41] चेतनावान् जीव अनन्त है, प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् जीव है, जीव का अपना कोई आकार नहीं है। तथापि वह जब जिस शरीर में होता है उसी के आकार का और उसी के बराबर होकर रहता है।[42] एक जीव के असंख्य प्रदेश अविभक्त अंश होते हैं, और वे प्रकाश की तरह संकोच-विस्तार विचारशील हैं। हाथी मरकर चिऊंटी के पदार्थ में जन्म लेता है, तो प्रदेश स्वभावतः सिकुड़कर चिऊँटी के शरीर में समा जाते हैं।

ज्ञाता,[43] द्रष्टा, उपयोगमय, प्रभु, कर्त्ता, भोक्ता, बद्ध और मुक्त यह सब जीव के विशेषण हैं। भगवान महावीर कहते हैं, ''हे गौतम। जीव[44] इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाना जा सकता, क्योंकि वह अमूर्त्त है। अमूर्त्त होने से वह नित्य भी है।''

''हे गौतम। जीव[45] न लम्बा है, न छोटा, न गोल, न तिकोना, न चौकोर, न परिमण्डल, न काला, न पीला, न नीला, न हरा, न रक्त और श्वेत है। सुगन्ध और दुर्गन्ध जीव का स्वरूप नहीं, न खट्टा-मीठा आदि कोई रस है उसमें। कोमल-कठोर आदि सभी स्पर्श उससे दूर हैं। वह उत्पाद और विनाश से परे

है, वह स्त्री नहीं, वह पुरुष नहीं, नपुंसक नहीं, वह अरूपी सत्ता है। वह बुद्धि से नहीं, अनुभूति से ग्राह्य होता है। तर्कगम्य नहीं, स्वसंवेदनगम्य है। उसका परिपूर्ण स्वरूप प्रकट करने में शब्द असमर्थ है।''

गौतम ज्ञान, दर्शन, चरित्र, तप, वीर्य, सामर्थ्य-उल्लास और उपयोग जीव के लक्षण है।[46] तत्त्वार्थ सूत्र में भी उपयोग को जीव का लक्षण माना गया है।[47] ''उपयुज्यते वस्तु परिच्छेदः प्रति व्यापर्यते जीवोऽनेनेति उपयोगः'' अर्थात् जिसके द्वारा जीव वस्तु के परिच्छेद अथवा ज्ञान के लिये व्यापार करता है वह उपयोग है, जिन पदार्थों में यह उपयोग शक्ति है वहाँ जीव व आत्मा विद्यमान है, और जहाँ इस उपयोग गुण का सर्वथा अभाव है, वहाँ जीव का अस्तित्त्व नहीं माना गया। उपयोग के अतिरिक्त उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, सत्त्व, प्रमेयत्वादि अनेक साधारण धर्म भी आत्मा में पाये जाते हैं। आत्मा का विशेष धर्म चेतना ही तत्त्वार्थकार के शब्दों में उपयोग है, अतः वही उसका लक्षण है। लक्षण में उन्हीं गुणों का समावेश होता है जो असाधारण होते हैं।[48]

उपयोग के भेद

उपयोग दो प्रकार का है - (1) ज्ञानोपयोग, और (2) दर्शनोपयोग।[49]

1. ज्ञानोपयोग – जो उपयोग साकार है अर्थात् विकल्पसहित पदार्थ को जानता है। वह ज्ञानोपयोग है। ज्ञानोपयोग वस्तु को भेदपूर्वक ग्रहण करता है इसलिए वह साकार सविकल्प उपयोग है। ज्ञानोपयोग के आठ भेद होते हैं–

1. मति ज्ञान 2. श्रुत ज्ञान 3. अवधिज्ञान 4. मनः पर्यव ज्ञान
5. केवल ज्ञान 6. मति अज्ञान 7. श्रुत अज्ञान 8. विभंग अज्ञान।[50]

1. **मतिज्ञान** – इन्द्रिय और मन से पैदा होने वाला जीव और अजीव विषयक ज्ञान मतिज्ञान है।[51]
2. **श्रुतज्ञान** – किसी आप्त के वचन सुनने से अथवा आप्तवाक्यों को पढ़ने से जो ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है।[52]
3. **अवधिज्ञान** – रूपी पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान अवधिज्ञान है। इस ज्ञान से रूपी द्रव्य ही जाने जाते हैं, अरूपी द्रव्य नहीं जाने जा सकते।[53]
4. **मनः पर्यवज्ञान** – मन की विविध पर्यायों का प्रत्यक्ष ज्ञान मनः पर्यवज्ञान है।[54]

5. **केवल ज्ञान** – ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। जो जीव अपनी स्वाभाविक अवस्था में होता है, उसका ज्ञान पूर्ण होता है। यही ज्ञान केवल ज्ञान है। इस ज्ञान में आत्मा को किसी अन्य कारण की आवश्यकता नहीं होती।[55]

तीन अज्ञान – 1. मति अज्ञान 2. श्रुत अज्ञान 3. विभंग अज्ञान

1. **मति अज्ञान** – मति विषयक मिथ्याज्ञान मति अज्ञान है।
2. **श्रुतअज्ञान** – श्रुत विषयक मिथ्याज्ञान का नाम श्रुताज्ञान है।
3. **विभंगअज्ञान** – अवधिविषयक मिथ्याज्ञान को विभंग अज्ञान कहा गया है।[56]

2. दर्शनोपयोग – जो अनाकार है, विकल्प रहित ज्ञान है वह दर्शनोपयोग है।[57] इसे निर्विकल्प उपयोग भी कहते हैं। घट-पटादि की व्यवस्था लिये हुए किसी वस्तु के भेद ग्रहण करने को आकार कहते हैं और सामान्य रूप ग्रहण करने को अनाकार कहते हैं।[58]

दर्शनोपयोग चार प्रकार का होता है –

1. चक्षु दर्शन 2. अचक्षु दर्शन 3. अवधि दर्शन 4. केवल दर्शन[59]

1. **चक्षु दर्शन** – चक्षुरिन्द्रिय से होने वाला निराकार और निर्विकल्पक दर्शन चक्षु दर्शन हैं।[60]
2. **अचक्षु दर्शन** – चक्षुरिन्द्रियातिरिक्त इन्द्रियों तथा मन से होने वाला जो दर्शन है वह अचक्षुदर्शन है।[61]
3. **अवधि दर्शन** – सीधा आत्मा से होने वाला रूपी पदार्थों का दर्शन अवधिदर्शन है।[62]
4. **केवल दर्शन** – स्वभाव दर्शन प्रत्यक्ष और पूर्ण होता है। स्वभावदर्शन आत्मा का स्वाभाविक उपयोग है। यह ज्ञान की तरह स्वाभाविक होता है इसे केवल दर्शन कहते हैं। इसमें आत्मा को किसी कारण की आवश्यकता नहीं होती।[63]

जिसमें चेतना शक्ति पायी जाती है, वह जीव है। यह जीव अनादिकाल से परिभ्रमण कर रहा है। इसके आरम्भ के विषय में हम कुछ नहीं कह सकते इसलिए इसे अनादिकाल से स्थित माना है।[64] इसका आदि और अन्त नहीं। यह ज्ञानोपयोग से सहित होने पर ज्ञाता है, दर्शनोपयोग से युक्त होने से द्रष्टा है,

स्वयं ही कर्मों को करने और भोगने वाला होने से कर्त्ता और भोक्ता भी है। अनेक गुणों से युक्त है। कर्मों का सर्वथा नाश हो जाने पर ऊर्ध्वगमन करना जीव का स्वभाव है। यह जीव परिणमनशील अर्थात् परिणमन करने वाला है दीपक के प्रकाश की तरह।[65]

जीव नित्य है

यह जीव नित्य है लेकिन नर-नारकादिपर्याय जुदी-जुदी है। जिस प्रकार मिट्टी नित्य है परन्तु पर्यायों की अपेक्षा उसका उत्पाद और विनाश होता रहता है उसी प्रकार यह जीव नित्य है अर्थात् द्रव्यत्व सामान्य की अपेक्षा जीव द्रव्य नित्य है और पर्यायों की अपेक्षा अनित्य है एक साथ दोनों अपेक्षाओं से यह जीव उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप है। जो पर्याय पहले नहीं थी उसका उत्पन्न होना उत्पाद कहलाता है किसी पर्याय का उत्पाद होकर नष्ट हो जाना व्यय कहलाता है और दोनों पर्यायों में तदवस्थ होकर रहना ध्रौव्य कहलाता है। यह आत्मा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तीनों लक्षणों से युक्त है वह जीव है।[66]

जीव अनुभूति गम्य है

जिस प्रकार दूसरे पदार्थ प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, वैसे जीव पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता। परन्तु जीव स्वानुभव-प्रमाण से जाना जा सकता है। मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, ऐसी संवेदना शरीर को नहीं हो सकती, क्योंकि वह तो पृथ्वी आदि पंचभूतों का बना हुआ है। यदि शरीर को आत्मा माना जाय तो मृत शरीर में भी ज्ञान का प्रकाश होना चाहिए। अगर मृत शरीर को भी सजीव शरीर माना जाये तो इच्छा, अनुभूति आदि गुण भी मृतक शरीर में होने चाहिए परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। इससे सिद्ध होता है कि इन गुणों का उपादान शरीर नहीं, कोई दूसरा ही तत्त्व है और उसी का नाम आत्मा है। शरीर पृथ्वी आदि भूतसमूह का बना होने से भौतिक है अर्थात् जड़ है। भौतिक शरीर से भिन्न जो भी चैतन्य रूप है वही जीव है।[67]

जीव के अनुभूतिगम्य सिद्ध होने पर भी भारतीय दर्शनों में इसका अनेक प्रकार से वर्णन मिलता है जिसे कि आदिपुराणकार ने अपने वैदुष्यपूर्ण ढंग से मत-मतान्तरों को प्रस्तुत कर अपना उपर्युक्त सिद्धान्त स्थिर किया है।

जीव चैतन्य स्वरूप है

चार्वाक मत का कहना है कि इस संसार में जीव नाम का कोई तत्त्व

नहीं। धर्मी के रहते हुए ही उसके धर्म का विचार किया जाता है अगर आत्मा नामक धर्मी का अस्तित्व सिद्ध नहीं तो धर्म का फल कैसे प्राप्त हो सकता है?[68] जिस प्रकार महुआ, जल, गुड़ आदि पदार्थों के मिला देने से उसमें मादक शक्ति उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि के संयोग से उसमें चेतना उत्पन्न हो जाती है।[69] पृथ्वी आदि तत्त्वों से बने शरीर से अलग चेतना नामक कोई पदार्थ नहीं। न ही शरीर से पृथक् उसकी उपलब्धि देखी जाती है। जो पदार्थ प्रत्यक्ष है, उनका अस्तित्व है जो प्रत्यक्ष नहीं उसका अस्तित्व भी नहीं होता। जैसे आकाश के फूल।[70] जीव भी ऐसा ही है। जब चेतना नामक पदार्थ नहीं तो पुण्य-पाप, परलोक आदि भी नहीं हो सकते। जीव भी पानी के बुलबुले के समान क्षण में विलीन हो जाता है।[71] जो व्यक्ति प्रत्यक्ष के सुख-आराम को छोड़कर परलोक सम्बन्धी सुख चाहते हैं। वे लोक और परलोक दोनों में दुःख भोगते हैं। परलोक के सुखों के लोभ में मूर्ख लोग इस लोक में सुखों को भी छोड़ देते हैं। परलोक की आकांक्षा करने वाले सामने आये स्वादिष्ट भोजन को छोड़कर पीछे पछताते हैं। परलोक की इच्छा करना मूर्खता है जो कुछ भी है इसी लोक अर्थात् प्रत्यक्ष संसार में देखे जाने वाले सुख से अधिक कुछ भी नहीं है।[72]

यह कहना कि आत्मा नहीं है यह बात मिथ्या है क्योंकि पृथ्वी आदि भूतचतुष्टय के अतिरिक्त ज्ञान-दर्शनरूप चैतन्य की भी प्रतीति होती है। शरीर और चैतन्य एक नहीं है क्योंकि चैतन्य चित् स्वरूप है, ज्ञान दर्शन रूप है। शरीर अचित्स्वरूप जड़ है।[73] चैतन्य का प्रतिभास तलवार के समान अन्तरंगरूप होता है और शरीर का प्रतिभास म्यान के समान बहिरंग रूप होता है। जिस प्रकार तलवार और म्यान के समान आत्मा और शरीर दोनों भिन्न-भिन्न हैं। यथार्थ में कार्यकारण भाव और गुण-गुणी भाव सजातीय पदार्थों में होता है विजातीय पदार्थों में नहीं। इसलिए दोनों की जातियाँ पृथक-पृथक हैं – एक चैतन्यरूप है, दूसरा जड़ रूप है।[74]

चैतन्य शरीर का विकार नहीं हो सकता क्योंकि भस्म आदि जो शरीर के विकार हैं उनमें विसदृश होता है यदि चैतन्य शरीर का विकार होता तो उसके भस्म आदि विकार भी चैतन्य होने चाहिएँ, परन्तु ऐसा होता नहीं। इससे स्पष्ट है चैतन्य शरीर का विकार नहीं।[75] शरीर के प्रत्येक अंगोपांग की रचना अलग-अलग भूत चतुष्टय से होती है तो शरीर के प्रत्येक अंगोपांग में पृथक्-पृथक् चैतन्य होने चाहिए। चैतन्य भूत चतुष्टय का कार्य है, परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। शरीर के सभी अंगोपांग में एक ही चैतन्य का प्रतिभास होता है।

जब शरीर के किसी एक अंग में कण्टकादि चुभ जाता है तब सारे शरीर में दु:ख का अनुभव होता है। इससे सिद्ध है कि सारे शरीर में एक चैतन्य विद्यमान हैं। यदि सब अंगोपांग में पृथक्-पृथक् चैतन्य होते तो कण्टकादि चुभने से दु:ख की संवेदना सम्पूर्ण शरीर को न होती। परन्तु ऐसा देखा या अनुभव नहीं होता।[76]

मूर्तिमान शरीर से चैतन्यजीव अमूर्तिमान है

यदि यह कहा जाये कि मूर्तिमान शरीर से मूर्तिरहित चैतन्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि मूर्तिमान और अमूर्तिमान पदार्थों में कार्यकारण भाव नहीं होता। मूर्तिमान पदार्थ से भी अमूर्तिमान पदार्थ की उत्पत्ति होती है - जैसे मूर्तिमान इन्द्रियाँ से अमूर्तिमान ज्ञान उत्पन्न होता देखा जाता है यह बात उचित नहीं है क्योंकि इन्द्रियों से उत्पन्न हुए ज्ञान को मूर्तिक ही मानते हैं। उसका कारण यह भी है कि आत्मा मूर्तिक कर्मों के साथ बन्ध को प्राप्त कर एक रूप हो गया है इसलिए कथंचित् मूर्तिक माना जाता है जबकि आत्मा भी कथंचित् मूर्तिक माना गया है तब इन्द्रियों से उत्पन्न हुए ज्ञान को भी मूर्ति मानना उचित है इससे विदित होता है कि मूर्तिक पदार्थों से अमूर्तिक पदार्थों की उत्पत्ति नहीं होती।[77]

पृथिवी आदि भूतचतुष्ट्य में जो शरीर के आकार परिणमन हुआ है वह भी किसी अन्य निमित्त से हुआ है यदि उस निमित्त पर विचार किया जाये तो कर्मसहित संसारी आत्मा को छोड़कर दूसरा कोई भी निमित्त नहीं हो सकता। कर्मसहित संसारी आत्मा ही पृथिवी आदि को शरीररूप परिणमन करता है, इससे शरीर और आत्मा की अलग सत्ता सिद्ध होती है। जिस प्रकार पानी का बुलबुला जल में उत्पन्न होकर उसी में नष्ट हो जाता है वैसे ही जीव शरीर के साथ उत्पन्न होकर उसी के साथ नष्ट हो जाता है यह मानना औचित्यपूर्ण नहीं। क्योंकि शरीर और आत्मा दोनों ही विलक्षण-विसदृश पदार्थ हैं। विसदृश पदार्थ से विसदृश पदार्थ की उत्पत्ति कभी भी नहीं हो सकती।[78]

शरीर से चैतन्य की उत्पत्ति होती है। इस सिद्धान्त को मानने पर प्रश्न उठता है कि शरीर चैतन्य की उत्पत्ति में उपादान कारण है अथवा सहकारी कारण। उपादान कारण तो हो ही नहीं सकता क्योंकि उपादेय-चैतन्य से शरीर विजातीय पदार्थ है। यदि कहें सहकारी कारण है यह इष्ट है। अगर कहें कि सूक्ष्म रूप से परिणत भूतचतुष्ट्य का समुदाय ही उपादान कारण है तो असत् है क्योंकि सूक्ष्म भूतचतुष्ट्य के संयोग द्वारा उत्पन्न हुए शरीर से वह चैतन्य

पृथक् ही प्रतिभासित होता है इसलिए जीवद्रव्य को ही चैतन्य का उपादान कारण मानना उचित है वही उसका सजातीय और सलक्षण है।[79]

गुड़, पुष्प, पानी आदि के संयोग से जो मादक शक्ति उत्पन्न होती है वे जड़ है, मूर्तिक है। तात्पर्य यह है कि प्रकृत में सिद्ध करना चाहते हैं विजातीय द्रव्य से विजातीय की उत्पत्ति और उदाहरण दे रहे हैं सजातीय द्रव्य से सजातीय की उत्पत्ति का। वास्तव में चार्वाक मत भूतपिशाचों से ग्रसित हुआ मालूम होता है। यदि ऐसा नहीं होता तो इस संसार को जीवरहित केवल पृथिवी, जल, तेज, वायु रूप ही कैसे कहता।[80] अगर पृथ्वी आदि भूतचतुष्ट्य में चैतन्य शक्ति पहले से ही अव्यक्त रूप से रहती है – यह कहना ठीक नहीं क्योंकि अचेतन पदार्थ में चेतनशक्ति नहीं पायी जाती, यह बात सर्वविदित है।[81]

उपर्युक्त विवरण से यह सिद्ध हुआ है कि जीव कोई भिन्न पदार्थ है, ज्ञान उसका लक्षण है। जिस प्रकार वर्तमान शरीर में जीव का अस्तित्व सिद्ध है उसी प्रकार पिछले और आगे के शरीर में उसका अस्तित्व सिद्ध होता है। जीवों का वर्तमान शरीर पिछले शरीर के बिना नहीं हो सकता। उसका प्रत्यक्ष कारण यह है कि वर्तमान शरीर में स्थित आत्मा में जो दुग्धपानादि क्रियाएँ देखी जाती हैं वे पूर्वभव का संस्कार ही है। यदि वर्तमान शरीर से पहले जीव का कोई शरीर न होता तो जीव में दुग्धपानादि में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इसके बाद भी कोई न कोई शरीर जीव धारण करेगा क्योंकि ऐन्द्रियिक ज्ञान सहित आत्मा बिना शरीर के नहीं रह सकता।[82]

जीव के अगले और पिछले शरीर से युक्त होने पर जीव का परलोक भी सिद्ध होता है। परलोकी आत्मा पुण्य-पाप के फल भी भोगता है। इसके अतिरिक्त जातिस्मरण ज्ञान से जीवन-मरण रूप आवागमन से और आप्तप्रणीत आगम से भी जीव का पृथक् अस्तित्व सिद्ध होता है।[83]

जिस प्रकार किसी यन्त्र में जो हलन-चलन होता है वह किसी अन्य चालक की प्रेरणा से होता है इसी प्रकार शरीर में भी तो यातायातरूपी हलन-चलन हो रहा है वह भी किसी चालक की प्रेरणा से ही हो रहा है, वह चालक आत्मा ही है। इसके अतिरिक्त शरीर में जो चेष्टाएँ हित-अहित विचार होते हैं यह जीव का अस्तित्व सिद्ध करते हैं।[84]

पृथ्वी आदि भूतचतुष्ट्य के संयोग से जीव उत्पन्न होता है तो भोजन पकाने के लिए आग पर रखी हुई बटलोई में भी जीव की उत्पत्ति हो जानी चाहिए क्योंकि वहाँ भी तो अग्नि, पानी, वायु, पृथ्वी रूप भूतचतुष्ट्य का संयोग होता है। इससे सिद्ध होता है कि भूतवादियों के मत में अनेक दोष हैं।[85]

चैतन्यस्वरूप जीव विज्ञानमात्र नहीं

जीव का अभाव सिद्ध करते हुए विज्ञानवादी कहते हैं कि जीव नाम का कोई भी पदार्थ नहीं है, न ही उसकी उपलब्धि होती है, यह समस्त संसार क्षणभंगुर है जो-जो इस लोक में क्षणिक है वे सभी ज्ञान के विकार हैं अगर ज्ञान के विकार नहीं तो नित्य होने चाहिए। इस संसार में कुछ भी नित्य नहीं है। इसलिए सभी ज्ञान के विकार हैं।[86] विज्ञान निरंश है अवान्तर भागों से रहित है बिना परम्परा उत्पन्न किये ही उसका नाश हो जाता है और वैद्य-वेदक तथा संवित्ति रूप से भिन्न प्रकाशित होता है अर्थात् वह स्वभावतः न तो किसी अन्य ज्ञान के द्वारा जाना जाता है और न किसी को जानता ही है, एक क्षण रहकर समूह नष्ट हो जाता है। वह ज्ञान नष्ट होने से पहले अपनी सांवृत्तिक सन्तान छोड़ जाता है जिससे पदार्थ का स्मरण होता रहता है। वह सन्तान अपने सन्तानी ज्ञान से भिन्न नहीं है।[87]

अब प्रश्न उठता है कि विज्ञान की सन्तान प्रतिसन्तान मान लेने से पदार्थ का स्मरण तो सिद्ध हो जायेगा परन्तु प्रत्यभिज्ञान सिद्ध नहीं हो सकेगा। क्योंकि प्रत्यभिज्ञान की सिद्धि के लिए पदार्थ को अनेक क्षणस्थायी मानना पड़ेगा जो बौद्धों को मान्य नहीं। पूर्व क्षण में अनुभूत पदार्थ का द्वितीयादि क्षण में प्रत्यक्ष होने पर जो जड़ रूप ज्ञान होता है उसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। क्षणभंगुर पदार्थ में जो प्रत्यभिज्ञान आदि होता है वह वास्तविक नहीं किन्तु भ्रान्त है। जिस प्रकार कटे हुए नाखून और बाल दुबारा बढ़ जाने पर ये वे ही नख केश हैं। इसी प्रकार का प्रत्यभिज्ञान भी भ्रान्त होता है।[88]

यदि यह कहें कि संसारी स्कन्ध दुःख कहे जाते हैं। वे स्कन्ध विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार और रूप के भेद से पाँच प्रकार के बताये गये हैं। पाँचों इन्द्रियों के शब्द आदि विषय, मन और धर्मायतन (शरीर) ये बारह आयतन हैं। जिस आत्मा और आत्मीय भाव से संसार में रुलाने वाले रागादि उत्पन्न होते हैं उसे समुदय सत्य कहते हैं। सब पदार्थ क्षणिक हैं। क्षणिक नैरात्म्यवाद भावना मार्ग सत्य है तथा इन स्कन्धों के नाश होने पर निरोध अर्थात् मोक्ष कहते हैं। विज्ञान की सन्तान से अतिरिक्त जीव नाम का कोई पदार्थ नहीं है जो कि परलोक रूप फल को भोगने वाले हैं।[89] तो विज्ञानवादियों का उपर्युक्त सिद्धान्त ठीक नहीं कहा जा सकता क्योंकि विज्ञान से ही विज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकती। कारण यह है कि साध्य और साधन दोनों एक हो जाते हैं– विज्ञान ही साध्य होता है और विज्ञान ही साधन होता है। ऐसी हालत में तत्त्व का निश्चय कैसे हो सकता है[90] एक बात यह है कि संसार में बाह्य पदार्थों

की सिद्धि वाक्यों के प्रयोग से ही होती है यदि वाक्यों का प्रयोग न किया जाये तो किसी भी पदार्थ की सिद्धि नहीं होगी और उस अवस्था में संसार का व्यवहार बन्द हो जायेगा। यदि वह वाक्य विज्ञान से भिन्न है तो वाक्यों का प्रयोग रहते हुए विज्ञानाद्वैत सिद्ध नहीं हो सकता। यदि यह कहें कि वे वाक्य भी विज्ञान ही हैं तो इस विज्ञानाद्वैत की सिद्धि किसके द्वारा की है? इसके अतिरिक्त यह बात विचारणीय है कि जब जीव को निरंश एवं निर्विभाग वाला माना जाय तो ग्राह्य आदि का भेदव्यवहार सिद्ध नहीं हो सकेगा। तात्पर्य यह है कि विज्ञान पदार्थों को जानता है इसलिए ग्राहक कहलाता है और पदार्थ ग्राह्य कहलाते हैं जब ग्राह्य पदार्थों की सत्ता ही स्वीकृत नहीं मानी जायेगी तो ज्ञान-ग्राहक किस प्रकार सिद्ध हो सकेगा। यदि ग्राह्य को स्वीकार करता है तो विज्ञान का अद्वैत नष्ट हो जाता है।[91] ज्ञान का प्रतिभास घट-घटादि विषयों के आकार से शून्य नहीं होता। अगर एक विज्ञान से दूसरे विज्ञान का ग्रहण होता है तो विज्ञान में निरालम्बनता का अभाव हुआ अर्थात् ग्राहक भाव सिद्ध हो गया जो कि विज्ञानाद्वैत का बाधक है। अगर एक विज्ञान दूसरे विज्ञान को ग्रहण नहीं करता तो फिर उस द्वितीय विज्ञान को जोकि अन्य सन्तान रूप है, सिद्ध करने के लिए क्या हेतु होगा? कदाचित् अनुमान से उसे सिद्ध करोगे तो घट-पट आदि बाह्य पदार्थों की स्थिति भी अवश्य सिद्ध हो जायेगी; क्योंकि जब साध्य-साधन रूप अनुमान लिया जाए तब विज्ञानाद्वैत कहाँ रहा। उसके अभाव में अनुमान के विषयभूत घट-पटादि पदार्थ भी अवश्य मानने पड़ेंगे।[92]

यदि यह संसार केवल विज्ञानमय ही है तो फिर समस्त वाक्य और ज्ञान मिथ्या हो जायेंगे, क्योंकि जब बाह्य घट-पटादि पदार्थ ही नहीं हैं तो ये वाक्य और ज्ञान सत्य है तथा ये असत्य यह सत्यासत्य व्यवस्था कैसे हो सकेगी। जब साधन आदि का प्रयोग करते हैं तब साधन से भिन्न साध्य भी मानना पड़ेगा और वह साध्य घट-पटादि बाह्य पदार्थ ही होंगे। इस तरह विज्ञान से अतिरिक्त बाह्य पदार्थों का भी सद्भावसिद्ध हो जाता है।[93] अतः जीव विज्ञानमय होते हुए भी उसे चैतन्य स्वरूप कहना ठीक है।

जीव शून्यात्मक नहीं

यदि कहा जाय की यह समस्त संसार शून्यरूप है। इसमें जो नर, पशुपक्षी घट-पट आदि पदार्थ दिखाई देते हैं वह सब मिथ्या है। भ्रान्ति से ही सत्य प्रतिभास होता है जिस प्रकार स्वप्न में हाथी आदि का मिथ्या आभास होता है।[94] इसलिए सारा जगत् मिथ्या है। यदि जगत मिथ्या है तो परलोक भी सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि यह सब गन्धर्वनगर की तरह असत्स्वरूप है। जो

व्यक्ति परलोक की इच्छा के लिए तप और अनेक अनुष्ठान करते हैं वे सब व्यर्थ हैं। जीव यथार्थज्ञान से रहित हैं। जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु में मरुभूमि पर दिखाई देने वाली सूर्य की चमकती किरणों को जल समझकर मृग व्यर्थ ही दौड़ता है उसी प्रकार ये भोग-अभिलाषी मनुष्य परलोक के सुखों को वास्तविक सुख समझकर व्यर्थ ही दौड़ा करते हैं। इसी प्रकार जीव नामक कोई पदार्थ नहीं।[95] यह सिद्धान्त भी व्यर्थ हैं क्योंकि तात्पर्य यह है कि यदि शून्यता प्रतिपादन वचन और विज्ञान को स्वीकार करते हैं तो वचन और विषयभूत-जीवादि समस्त पदार्थ भी स्वीकृति करने पड़ेंगे। इसलिए शून्यवाद नष्ट हो जायेगा यदि वचन तथा विज्ञान को स्वीकृत नहीं करते हैं तब शून्यवाद का समर्थन व मनन किसके द्वारा करेंगे। इसलिए जीव शरीर से पृथक् पदार्थ है तथा दया, संयम आदि लक्षण वाला धर्म भी अवश्य है।[96]

जीव की उपलब्धि में अनुपलब्धि हेतु नहीं

जीव का अभाव सिद्ध करने के लिए जो अनुपलब्धि हेतु दिये गये हैं वह असत् हेतु हैं क्योंकि उसमें हेतु सम्बन्धी अनेक दोष पाये जाते हैं। उपलब्धि पदार्थों के सद्भाव का कारण नहीं हो सकती क्योंकि अल्प ज्ञानियों को परमाणु आदि सूक्ष्म, राम, रावण आदि अन्तरित तथा मेरु आदि दूरवर्ती पदार्थों की जो उपलब्धि नहीं होती। परन्तु इन सबका सद्भाव माना जाता है इसलिए जीव का अभाव सिद्ध करने के लिए जो हेतु दिया है वह व्यभिचारी है। जिस प्रकार पिता, पितामह, प्रपितामह आदि के सद्भाव में सभी एक मत लगते हैं, उसी प्रकार जीव का भी सद्भाव स्वतः सिद्ध है। यदि जीव का अभाव है अनुपलब्धि होने से, तो ऐसे कितने ही सूक्ष्म पदार्थ है जिनका अस्तित्व तो हैं परन्तु उपलब्धि नहीं होती। जैसे जीव अर्थ को कहने वाले ''जीव'' शब्द और उसके ज्ञान का जीवज्ञान सद्भाव माना जाता है, उसी प्रकार उसके वाच्यभूत बाह्य जीव अर्थ के भी सद्भाव को मानने में क्या हानि है। क्योंकि जब ''जीव'' पदार्थ ही नहीं होता तो उसके वाचक शब्द कहाँ से आते और उनके सुनने से वैसा ज्ञान भी कैसे होता। जीव शब्द अभ्रान्त बाह्य पदार्थ की अपेक्षा रखता है क्योंकि वह संज्ञा वाचक शब्द है। जो-जो संज्ञावाचक शब्द होते हैं, वे किसी संज्ञा से अपना सम्बन्ध रखते हैं जैसे लौकिक घट आदि शब्द।

आत्मा के पर्याय

जीव, प्राणी, जन्तु, क्षेत्रज्ञ, पुरुष, पुमान्, आत्मा, अन्तरात्मा, ज्ञ और ज्ञानी आत्मा के पर्यायवाची कहे गये हैं[97]–

आत्मा जीव है – जो वर्तमान, भूतकाल, भविष्यत तीनों कालों में जीवित रहे उसे जीव कहते हैं और सिद्ध भगवान अपनी पूर्वपर्यायों में जीवित थे इसलिए वे भी जीव कहलाते हैं।[98]

आत्मा प्राणी है – पाँच इन्द्रिय, तीन बल, आयु और श्वासेच्छ्वास ये दस प्राणी जीव में विद्यमान हैं इसलिए प्राणी कहलाता है।[99]

आत्मा जन्तु है – जो बार-बार अनेक जन्म धारण करने वाले हों वह जन्तु हैं।[100]

आत्मा क्षेत्रज्ञ है – जो जीव को जानता है वह क्षेत्रज्ञ कहा जाता है।[101]

आत्मा पुरुष है – पुरु अर्थात् अच्छे-अच्छे भोगों में शयन या प्रवृत्ति करने से पुरुष कहा जाता हैं।[102]

आत्मा पुमान् है – जो अपनी आत्मा को पवित्र करता है इसलिए पुमान् भी कहा जाता है।[103]

आत्मा आत्मा है – जो जीव नर-नरकादि पर्यायों में अर्थात् निरन्तर गमन करता है इसलिए आत्मा कहा जाता है।[104]

आत्मा अन्तरात्मा है – ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के अन्तर्वर्ती होने से अन्तरात्मा भी कहा जाता है।[105]

आत्मा ज्ञ है – ज्ञानगुण से सहित होने से ज्ञ कहलाता है।[106]

आत्मा ज्ञानी है – ज्ञान गुण के कारण ज्ञानी भी कहा जाता है।[107]

जीव की अवस्थाएँ

जीव की दो अवस्थाएँ होती हैं –

1. संसारी जीव, 2. मुक्त जीव

1. ***संसारी जीव*** – नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव इन चार भेदों से युक्त संसाररूपी भंवर में परिभ्रमण करने वाला जीव संसारी जीव है।

संसारी जीव कर्मबद्ध होने के कारण अनेक योनियों में परिभ्रमण करती है।, कर्म करती है तथा उनका फल भोगती है, कुन्दकुन्दाचार्य की मान्यता है कि संसारी जीव अनादि काल से कर्मों से बद्ध है। इसी कारण संसारी जीव है तथा आत्मा वस्तुतः सिद्ध समान है। इसलिये इसे बद्ध भी कहा जाता है। चारों गतियों में परिवर्तन करते रहना इस जीव का संसारावास कहलाता है।[108]

वादि देवसूरि ने संसार आत्मा का जो स्वरूप बताया है उसमें आत्मा का पूर्णरूप आ जाता है वह रूप है–आत्मा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध है। वह चैतन्यस्वरूप है, परिणामी है, कर्त्ता है, साक्षात् भोक्ता है, स्वदेह परिमाण है, प्रत्येक शरीर में भिन्न है, पौदगलिक कर्मों से युक्त हैं।[109]

संसारी जीव सदेह सोपाधि होते हैं जिसे स्थूल अथवा सूक्ष्म शरीर के द्वारा जाना जाता है। इन्हें सन्देह भी कहते हैं। इन जीवों का ज्ञान एवं दर्शन कर्म पुद्गल से आच्छादित होने के कारण परिमित होता है।[110]

जीवत्व भव्यत्व, अभव्यत्व[111] से तीन भेद होते हैं। आदिपुराण में जीव के तीन भेद कहे गये हैं–

1. भव्य 2. अभव्य 3. मुक्त

1. भव्य

जिसे आगामी काल में सिद्धि प्राप्त हो सके अर्थात् आने वाले समय में संसार-सागर से पार हो जाये उसे भव्य कहते हैं।

भव्यजीव सुवर्ण-पाषाण के समान होता है अर्थात् जिस प्रकार निमित्त मिलने पर सुवर्ण-पाषाण आगे चलकर शुद्ध सुवर्ण रूप हो जाता है, उसी प्रकार भव्य जीव भी निमित्त मिलने पर शुद्ध सिद्ध स्वरूप हो जाता है।[112]

भव्य जीव अनादिकाल से शुद्धि अर्थात् सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र के द्वारा प्राप्त होने योग्य निर्मलता की शक्ति को धारण करता है। भव्य जीव अधिकतर दीक्षा धारण करके संयम और तप का आराधन तपस्या करके सिद्ध स्वरूप हो जाता है।[113]

2. अभव्य

जो जीव भव्यजीव से विपरीत है अर्थात् जिसे कभी भी सिद्धि की प्राप्ति न हो सके उसे अभव्य जीव कहते हैं। अभव्यजीव अन्धपाषाण के समान होता है अर्थात् जिस प्रकार अन्धपाषाण कभी भी सुवर्णरूप नहीं हो सकता उसी प्रकार अभव्य जीव को कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं होता।[114]

3. मुक्त

जो जीव कर्म बन्धन से छूट चुके हैं, जो कर्म कालिमा से रहित है। तीनों

लोकों का शिखर ही जिनका स्थान है। जिन्हें अनन्तसुख का अभ्युदय प्राप्त हुआ है ऐसे सिद्ध परमेष्ठी मुक्तजीव कहलाते हैं।[115]

समस्त कर्मों के बन्धन से मुक्त होना मोक्ष कहलाता है। मोक्ष अनन्तसुखों वाला है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यग्चारित्र मोक्ष के साधन कहे गये हैं।[116]

कर्म बन्धन टूटने से जिनका आत्मीय स्वरूप प्रकट हो जाता है, वे मुक्त आत्माएँ हैं। ऐसी आत्माओं के शरीर एवं शरीर जन्य क्रियाएँ नहीं होतीं। ये जन्म-मृत्यु आदि के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं इसलिये उन्हें सत्चित्-आनन्द कहा जाता है। मुक्त जीव उपाधि रहित होते हैं। इनके स्थूलसूक्ष्म आदि किसी प्रकार के शरीर नहीं होते।[117]

जिनके द्रव्य व भाव दोनों कर्म नष्ट हो गये हैं, वे मुक्त हैं।[118] अथवा शुद्ध चेतनात्मा या केवल ज्ञान अथवा केवलदर्शनोपयोग लक्षण वाला आत्मा मुक्त है।[119] जब आत्मा कर्ममल, कलंक और शरीर को अपने से सर्वथा पृथक् कर देता है तब उसके जो अचिन्त्य स्वाभाविक ज्ञानादि गुणरूप और अव्याबाध सुखरूप सर्वथा विलक्षण अवस्था उत्पन्न होती है, उसे मुक्त कहते हैं।

चौदह गुणस्थान

परिभाषा

ग्रन्थकार ने चौदह गुणस्थानों का एक स्थान पर वर्णन न करके भिन्न-2 दार्शनिक स्थलों पर, गुणस्थानों अर्थात् साधक के आन्तरिक परिणामों को उजागर किया है।[120]

मोह और मन, वचन, काय की प्रवृत्ति के कारण जीव के अन्तरंग परिणामों में प्रतिक्षण होने वाले उतार-चढ़ाव का नाम गुणस्थान है। परिणाम यद्यपि अनन्त है, परन्तु उत्कृष्ट मलिन परिणामों से लेकर उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामों तक तथा उससे ऊपर जघन्य वीतराग परिणाम से लेकर उत्कृष्ट वीतराग परिणाम तक की अनन्तों वृद्धियों के क्रम को वक्तव्य बनाने के लिए उनको चौदह श्रेणियों में विभाजित किया गया है। वे 14 गुणस्थान कहलाते हैं। साधक अपने अन्तरंग प्रबल पुरुषार्थ द्वारा अपने परिणामों को निर्मल एवं स्वच्छ बनाता है। जिनके कारण कर्मों व संस्कारों का उपशम, क्षय वा क्षयोपशम होता हुआ अन्त में जाकर सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाता है, वही उसकी मोक्ष है।

दर्शनमोहनीयादि कर्मों की उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि अवस्थाओं से उत्पन्न होने वाले जिन भावों से जीव लक्षित किये जाते हैं, उन्हें सर्वदर्शियों ने "गुणस्थान" इस संज्ञा से निर्देश किया है।[121]

गुण शब्द से अभिप्राय है - आत्म विकास का अंश। अर्थात् जैसे-जैसे आत्म विकास का अंश बढ़ते जाते हैं वैसे-वैसे गुणस्थान का उत्कर्ष माना गया है। यों तो गुणस्थान असंख्यात है, क्योंकि आत्मा की जितनी परिणतियाँ हैं, उतने ही उसके गुणस्थान होते हैं।[122] फिर भी उनको चौदह वर्गों में विभक्त किया गया है।

मोक्षरूपी प्रासाद पर पहुँचने के लिये यह चौदह पैडी (सोपान) वाली सीढ़ी है। पहली पैडी से जीव चढ़ने लगते हैं, कोई धीरे से तो कोई जल्दी से और यथाशक्ति आगे बढ़ने का प्रयत्न करते हैं। कोई चढ़ते-चढ़ते ध्यान न रखने से नीचे गिर जाते हैं और गिरते-गिरते पहली पैडी पर भी जा गिरते हैं। ग्यारहवीं पैडी तक पहुँचे हुए जीव को भी मोह का धक्का लगने से नीचे गिरना पड़ता है। इसीलिए ऊपर चढ़ने वाले जीव तनिक भी प्रमाद न करे, इस बात की चेतावनी आध्यात्मिक शास्त्रों (उत्तराध्ययन सूत्र) ने दी है। बारहवीं पैडी पर पहुँचने के बाद गिरने का किसी प्रकार का भय नहीं रहता। आठवीं, नौवीं पैडी पर मोह का क्षय प्रारम्भ हुआ कि फिर गिरने का भय सर्वथा दूर हो जाता है। ग्यारहवें गुणस्थान पर पहुँचे हुए जीव को भी नीचे गिरना पड़ता है, इसका कारण यह है कि उसने मोह का क्षय नहीं किन्तु उपशम किया होता है। परन्तु आठवें, नौवें गुणस्थान में मोह के उपशम के बदले क्षय की प्रक्रिया यदि शुरू की जाये तो फिर नीचे गिरना असम्भव हो जाता है।[123]

इन चौदह गुण श्रेणियों के नाम इस प्रकार हैं –

1. मिथ्यात्व गुणस्थान 2. सास्वादन गुणस्थान 3. मिश्र गुणस्थान
4. अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान 5. देश विरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान
6. प्रमत्त संयत गुणस्थान 7. अप्रमत्त संयत गुणस्थान 8. निवृत्ति बादर गुणस्थान 9. अनिवृत्ति बादर गुणस्थान 10. सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान 11. उपशान्त मोहनीय गुणस्थान 12. क्षीण मोहनीय गुणस्थान 13. सयोगी केवली गुणस्थान 14. अयोगी केवली गुणस्थान[124]

यह चौदह जीवसमास (गुणस्थान) है सिद्ध इन गुणस्थानों से रहित हैं।[125]

1. मिथ्यात्व गुणस्थान

आध्यात्मिक विकास की यह निम्नतम श्रेणी है। जहाँ मिथ्यात्व सर्वाधिक रहता है और सम्यकत्व का पूर्णतः अभाव रहता है।[126] इस अवस्था में व्यक्ति

मिथ्या प्रभाव के कारण मिथ्या दर्शन को ही सम्यग्दर्शन मानता है। मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से जिस जीव की दृष्टि (श्रद्धा) मिथ्या (विपरीत) हो जाती है उसे मिथ्यादृष्टि कहते हैं। जैसे धतूरे के बीज को खाने वाला मनुष्य सफेद वस्तु को भी पीली देखता है, वैसे ही मिथ्यात्वी मनुष्य की दृष्टि भी विपरीत हो जाती है, अर्थात् कुदेव को देव, कुगुरु को गुरु और कुधर्म को धर्म समझता है।[126A] इनमें मुक्ति प्राप्त करने की योग्यता रहती है। जिस प्रकार पित्त ज्वर से ग्रसित जीव को मीठा रस भी अच्छा नहीं लगता उसी प्रकार मिथ्यात्वी को यथार्थ धर्म रुचिकर नहीं होता।[127]

2. सास्वादन गुणस्थान

इस गुणस्थान में जीव को यथार्थ दर्शन का मात्र आस्वादन होता है। उसका चित्त सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के बीच आन्दोलन होता रहता है। जिस प्रकार पर्वत से गिरने पर और भूमि पर पहुँचने से पहले मध्य का जो काल है, वह न पर्वत पर ठहरने का काल है और न भूमि पर ठहरने का है, किन्तु अनुभयकाल है इसी प्रकार जिसने सम्यक्त्व का नाश कर दिया है, पर मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं किया है, उसको सास्वादन गुणस्थानवर्ती जीव कहते हैं। जिस प्रकार कोई व्यक्ति खीर खाकर वमन करे तो उसके मुँह में खी का स्वाद आता है, इसी प्रकार जीव को सम्यक्त्व का स्वाद रहता है। इस दृष्टि से इस गुणस्थान को सास्वादन गुणस्थान कहते हैं।[128]

3. मिश्र गुणस्थान

सम्यक्त्व एवं मिथ्यात्व इन दोनों के मिश्रण रूप आत्मा के विचित्र अध्वसाय का नाम मिश्र गुणस्थान है। दही व गुड़ के मिश्रित स्वाद के समान सम्यक् व मिथ्या रूप मिश्रित श्रद्धान व ज्ञान को धारण करने की अवस्था विशेष सम्यग्मिथ्यात्व या मिश्र गुणस्थान कहलाता है। सम्यकत्व से गिरते समय अथवा मिथ्यात्व से चढ़ते समय अन्तर्मुहूर्त के लिये इस अवस्था का वेदन होना सम्भव है। इस गुणस्थान में आयु कर्म का बन्ध नहीं होता और न मृत्यु होती है।[129]

4. अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान

हिंसादि सावद्य व्यापारों को छोड़ देने, अर्थात् पापकारी क्रियाओं से अलग हो जाने को विरति कहते हैं। चारित्र, व्रत विरति के ही नाम है जो सम्यग्दृष्टि होकर भी किसी प्रकार के व्रत को धारण नहीं कर सकता, वह

जीव अविरत सम्यग्दृष्टि है।[129A] इस चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दर्शन के साथ संयम बिल्कुल नहीं रहता क्योंकि यहाँ पर दूसरी अप्रत्याख्यावरण कषाय का उदय रहता है। इसीलिए इस गुणस्थान वाले जीव को असंयत सम्यग्दृष्टि भी कहते हैं।[130]

5. देशविरति गुणस्थान

सम्यग्दृष्टिपूर्वक गृहस्थ धर्म के व्रतों का यथायोग्य पालन करना "देश विरति" है। देश विरति शब्द का अर्थ है सर्वथा नहीं किन्तु देशतः अर्थात् अंशतः निश्चित रूप से पाप योग से विरत होना। देशविरति अर्थात् मर्यादित विरति। इस गुणस्थान वाला श्रावक व्रतों का पालन करता है। प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय के कारण जो जीव पाप जनक क्रियाओं से सर्वथा तो नहीं किन्तु अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय न होने के कारण आंशिक रूप से पापकारी क्रियाओं से अलग हो सकते हैं वे देश विरत कहलाते हैं। इनका स्वरूप विशेष देशविरत गुणस्थान है।[131B]

6. प्रमत्त संयत गुणस्थान[132]

यह गुणस्थान सिर्फ मनुष्यों को ही होता है। आगे के शेष सभी गुणस्थान केवल मनुष्यों में ही होते हैं। छठे गुणस्थान में मनुष्य सम्पूर्ण पाप क्रियाओं को छोड़ देता है। पाँचों पापों प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, पाँचों ज्ञान इन्द्रियों के विषयों से विरत हो जाता है। वह सकल संयमी साधक बन जाता है। पाँच महाव्रतधारी साधक का यही गुणस्थान है। परन्तु यहाँ सर्वविरति होने पर भी प्रमाद भाव रहता है।[133] कभी-कभी कर्त्तव्य, कार्य में आलस्य होना प्रमाद है। परन्तु जिस प्रकार उचित समय में उचित भोजन ग्रहण करना प्रमाद नहीं, उसी प्रकार कषाय यदि मन्द हो तो उसकी गणना प्रमाद में नहीं की जाती। कषाय जब तीव्र रूप धारण करें, तभी उन्हें प्रमाद रूप में गिना जाना चाहिए। कषायोदय सातवें गुणस्थान से उत्तरोत्तर मन्द ही होता जाता है। इसलिए वह प्रमाद नहीं कहा जाता है।[134]

7. अप्रमत्त संयत गुणस्थान

जो संयत (मुनि) विकथा, कषाय आदि प्रमादों को नहीं सेवन करते हैं वहीं अप्रमत्त दशा को प्राप्त होते हैं। छठे गुणस्थान में आत्मा को जो शान्ति और निराकुलता का अनुभव होता था उसमें प्रमाद बाधा पहुँचा देता था। आत्मा जब इस प्रमाद रूप बाधा को भी दूर कर देता है और आत्मिक स्वरूप की

अभिव्यक्ति के साधन रूप ध्यान, मनन, चिन्तन आदि में ही लीन रहता है, उस समय की अवस्था को अप्रमत्त संयत गुणस्थान कहते हैं। जब आत्मा सातवें गुणस्थान में होता है, तब बाह्य क्रियाओं से रहित होता है। बाह्य क्रिया करने पर सातवाँ गुणस्थान छूट कर छठा आ जाता है। इस प्रकार आत्मा कभी छठे और सातवें में आता-जाता रहता हैं। जिसने सब प्रमादों को क्षय कर दिया है, जो व्रतों से, गुणों से और शीलों से मण्डित है, जिसे अपूर्व आत्मज्ञान प्राप्त हो गया है परन्तु जो अभी तक क्षय नहीं हुआ है और जो ध्यान में लीन है, ऐसा आत्मा अप्रमत्त संयत कहलाता है।[135] यह अन्तर्मुहूर्त तक ही रहता है।[136] इस अवस्था में चलित होने पर थोड़े समय में पुनः प्रमत्तता आ जाती है। इस गुणस्थान में ज्ञानादि गुणों की ओर विशुद्धि हो जाती है। विकथादिप्रमाद नहीं रहते हैं। साधक ज्ञान ध्यान तप में लीन रहते हैं।[137]

8. निवृत्ति बादर गुणस्थान (अपूर्वकरण)[138]

सातवें गुणस्थान में प्रमाद का अभाव करके आत्मा अपनी शक्तियों को विशेष रूप से विकसित कर विशिष्ट अप्रमत्तता प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था में आत्मा में अद्‌भुत निर्मलता आ जाती है। शुक्ल ध्यान यहाँ से आरम्भ हो जाता है। इसी अवस्था को अपूर्वकरण गुणस्थान भी कहते हैं। इस अवस्था में मोहनीय कर्म की शेष प्रकृतियों का क्षपक अथवा उपशमन करने में उद्यत होता है। अहं का तो विसर्जन हो जाता है पर माया और लोभ के उदय होने की सम्भावना बनी रहती है।[139]

इस गुणस्थान से आत्मविकास के दो मार्ग हो जाते हैं। कोई आत्मा ऐसा होता है, जो मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का उपशम करता हुआ आगे बढ़ने लगता है। कुछ जीव मोहनीय कर्म के प्रभाव का क्षय करता हुआ मोह की शक्ति का समूल नाश करता हुआ आगे बढ़ता है। इस गुणस्थान से आगे बढ़ने वाले आत्मा दो श्रेणियों में विभक्त हो जाते हैं–

(क) उपशम श्रेणी (ख) क्षपक श्रेणी।

(क) **उपशम श्रेणी** – कर्मों के उदय को कुछ समय के लिए रोक देना उपशम कहलाता है। कर्मों के उदय के अभाव के कारण उतने समय के लिए जीव के परिणाम अत्यन्त शुद्ध हो जाते हैं, परन्तु अवधि पूरी हो जाने पर नियम से कर्म पुनः उदय में आ जाते हैं और जीव के परिणाम पुनः गिर जाते हैं। उपशम करण का सम्बन्ध केवल मोह कर्म व तज्जन्य परिणामों से ही है, ज्ञानादि भावों से नहीं, क्योंकि रागादि विकारों में क्षणिक उतार-चढ़ाव सम्भव

है। जैसे आग को राख से दबा दिया जाता है, थोड़ी देर बाद हवा का झोंका *लगने पर वह भड़क जाती है और सन्तापादि अपना कार्य करने लगते हैं। इसी* प्रकार उपशम श्रेणी वाला जीव मोह का उपशम करता है, उसे दबाता है, नष्ट नहीं करता। थोड़े समय पश्चात् मोहनीय कर्म फिर उदय में आ जाता है और वह आत्मा को आगे बढ़ने से रोकता ही नहीं वरन् नीचे गिरा देता है। ऐसा जीव ग्यारहवें गुणस्थान में जाकर उससे आगे नहीं बढ़ता।

(ख) **क्षपक श्रेणी** – क्षपक श्रेणी वाला जीव मोह कर्म की प्रकृतियों का क्षय करता हुआ आगे बढ़ता है, अतएव उसके पतित होने का अवसर नहीं आता। वह दसवें गुणस्थान से सीधा बारहवें गुणस्थान में जाता है और सदा के लिए अप्रतिपाती बन जाता है।[140]

9. अनिवृत्ति बादर गुणस्थान[141]

इस गुणस्थान में शुक्ल ध्यान की परम विशुद्धावस्था होने लगती है। आठवें गुणस्थान में अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियाँ, इन पन्द्रह प्रकृतियों का उपशम श्रेणी वाले ने उपशम किया था और क्षपक श्रेणी वाले ने क्षय किया था। इसके अनन्तर जब हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा इन छह नोकषायों का भी उपशम या क्षय हो जाता है, तब नौवाँ गुणस्थान प्राप्त होता है। इस गुणस्थान में संज्वलन का मंद उदय बना रहता है।

एक अन्तर्मुहूर्त में जितने समय होते हैं, नौवें गुणस्थान में अध्वसाय स्थान भी उतने ही हैं। यहाँ एक समयवर्ती नाना जीवों के परिणामों में पाई जाने वाली विशुद्धि में परस्पर भेद नहीं पाया जाता। अतएव इन परिणामों को अनिवृत्तिकरण गुणस्थान कहा जाता है।[142]

10. सूक्ष्मसम्पराय[143] गुणस्थान

मोहनीय कर्म का उपशम अथवा क्षय होते होते जब सम्पूर्ण (क्रोध, मान, माया, लोभ, कषाय रूप) मोहनीय कर्म उपशान्त अथवा क्षीण हो जाते हैं और सिर्फ एकमात्र लोभ का सूक्ष्म अंश अवशिष्ट रहता है, तब वह सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान कहलाता है।[144]

11. उपशान्त मोहनीय गुणस्थान

इसमें कषाय सम्पूर्ण रूप से उपशान्त हो जाते हैं किन्तु सत्ता में रहते हैं, उदय में नहीं आते। इससे जीव आगे नहीं बढ़ सकता। उसका निश्चित रूप से पतन होता है। पतन दो प्रकार से होता है –

(क) आयु क्षय से (ख) गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त पूरा होने से

(क) **आयु क्षय से** – यदि आयु क्षय से पतन होता है तो वह जीव अनुत्तर विमान में देव बनता है।

(ख) अगर गुणस्थान का समय पूरा होने पर उपशान्त मोहनीय कर्म उदय में आ जाता है तो कषायोदय से जीव पतित होकर नीचे के गुणस्थान में पहुँच जाता है।[145]

12. क्षीण मोहनीय गुणस्थान[146]

इसमें मोहनीय कर्म पूर्ण रूप से क्षय हो जाता है।[147] जिसने कषाय रूप चारित्र मोहनीय कर्म का क्षय करना आरम्भ कर दिया है, सम्पूर्ण मोह के क्षीण हो जाने को क्षीण मोहनीय गुणस्थान कहते हैं। ग्यारहवाँ और बारहवाँ गुणस्थान समभाव का है। दोनों में फर्क है। उपशान्त मोह के आत्मभाव की अपेक्षा क्षीण मोह का आत्मभाव अत्यन्त उत्कृष्ट होता है। इसी कारण उपशममोह का समभाव स्थायी नहीं रहने पाता, जबकि क्षीण मोह का समभाव पूर्णतया स्थायी होता है।

उपशम एवं क्षय में भेद यह है – पानी डालकर आग बुझा देने का नाम क्षय है। राख डालकर उसे ढँक देने का नाम उपशम है। भले ही मोह का सम्पूर्ण उपशम हुआ हो, परन्तु उसका पुनः प्रादुर्भाव हुए बिना नहीं रहता। बारहवें गुणस्थान में आत्मा चित्त योग की पराकाष्ठा रूप शुक्ल समाधि पर आरूढ़ होकर सम्पूर्ण मोहावरण आदि चारों घाती कर्मों का विध्वंस करके केवलज्ञान प्राप्त करता है।[148]

13. सयोगी केवली गुणस्थान[149]

केवलज्ञान प्राप्त होते ही सयोगी केवली गुणस्थान का आरम्भ होता है। इस गुणस्थान के नाम में जो सयोग शब्द रखा है, उसका अर्थ "योग वाला" होता है। योग वाला अर्थात् शरीरादि के व्यापार वाला। केवलज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् भी शरीरधारी के गमनागमन, बोलने आदि के व्यापार रहते ही हैं। देहादि की क्रिया रहने से शरीरधारी केवल सयोगी केवली कहलाता है।[150]

चारों घाती कर्मों के सम्पूर्ण क्षय से इस गुणस्थान की प्राप्ति होती है। वह जीव सर्वज्ञ, जिन बन जाता है। केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य प्रगट हो जाते हैं। वह जीवन्मुक्त परमात्मा होता है। तीनों लोक और तीनों काल उसके हस्तामलकवत् होते हैं वह लोकालोकदर्शी और ज्ञानी होता है।[151]

14. अयोगी केवली गुणस्थान

अयोगी का अर्थ है – देहादि के सब व्यापारों से रहित – सब प्रकार की क्रियाओं से विरत। इस गुणस्थान के उपान्त्य समय में बहत्तर और अन्तिम समय में तेरह कर्म प्रकृतियों का नाश होता है।[152]

इस गुणस्थान में केवली भगवान योगों का निरोध करके शैलेशी अवस्था प्राप्त करते हैं। केवली अयोगी होते ही शरीर रहित हो जाता है। इस गुणस्थान के बाद लेपरहित, शरीररहित, शुद्ध, अव्याबाध, रोग से रहित, सूक्ष्म, अव्यक्त, व्यक्त और मुक्त होते हुए लोक के अन्तिम भाग में जाकर विराजमान होते हैं। सिद्ध भगवान एक समय में लोकान्त भाग में पहुँच जाते हैं। वे सिद्धशिला में अवस्थित होकर शाश्वत आत्मिक आनन्द में निमग्न हो जाते हैं।[153]

चौदह मार्गणाएँ एवं आठ अनुयोग

चौदह मार्गणा – जीव के स्वरूप को सूक्ष्मता से जानने के लिए गुणस्थानों के साथ-साथ मार्गणा स्थान एवं अनुयोगों को जानना अति आवश्यक है। आदिपुराण में भी उनका नामोल्लेख हुआ है। इनका विस्तृत वर्णन इस प्रकार है।

मार्गणा का अर्थ – मार्गणा का अर्थ है - खोजना। चौदह गुणस्थान जिसमें या जिनके द्वारा खोजे जाते हैं, उन्हें मार्गणा कहते हैं।

मार्गणा का अर्थ होता है - अनुसन्धान, खोज, अन्वेषण, विचारणा, गवेषणा आदि। इसके फलितार्थ को हम आध्यात्मिक सर्वेक्षण कह सकते हैं। जैसे कि धवला में कहा गया है – जिन-प्रवचन-दृष्ट जीव जिन भावों के द्वारा, जिन विविध-पर्यायों अथवा अवस्थाओं में खोजे जाते हैं, उन्हें मार्गणा कहते हैं।[154] जीव की विविध स्वाभाविक-वैभाविक अवस्थाओं की जिनके माध्यम से मार्गणा की जाती है, ऐसी मार्गणाएँ चौदह कही गई हैं[155]–

1. गति 2. इन्द्रिय 3. काय 4. योग 5. वेद 6. कषाय 7. ज्ञान 8. संयम 9. दर्शन 10. लेश्या 11. सम्यक्त्व 12. भव्य 13. संज्ञी 14. आहारक[156]

1. गति

गति – गति शब्द की निरुक्ति – गम्यते इति गतिः, गमनं वा गतिः, और गम्यतेऽनेन सा गतिः।।

गतिनामकर्म के उदय से होने वाली जीव की पयार्य को अथवा चारों गतियों के गमन करने के कारण को गति कहते हैं। यह गतियाँ चार प्रकार की कही गई हैं :

(क) नरक गति (ख) तिर्यंच गति (ग) मनुष्य गति (घ) देवगति।[157]

(क) नरक गति – जो द्रव्य क्षेत्र काल भाव में स्वयं तथा परस्पर में प्रीति को प्राप्त नहीं होते उनको नारक (नारकी) कहते हैं।[158] शरीर और इन्द्रियों के विषयों में, उत्पत्ति शयन बिहार उठने बैठने आदि के स्थान में, भोजन आदि के समय में अथवा और भी अनेक अवस्थाओं में जो स्वयं अथवा परस्पर में प्रीति (सुख) को प्राप्त न हो, उसको नारक कहते हैं। नारक जिस स्थान में रहते हैं, उसे नरक गति कहते हैं।[159]

(ख) तिर्यञ्च गति – जो निकृष्ट अज्ञानी है, तिरछे गमन करते हैं, जिनके जीवन में अत्यधिक पाप की बहुलता पाई जाती है; उन्हें तिर्यंच कहते है।[160] तिर्यंचगति नामकर्म के उदय से होने वाली, जिस पर्याय से जीव तिर्यंच कहलाता है, उसे तिर्यंच गति कहते हैं। उपपाद जन्म वालों (देवों और नारकों) तथा मनुष्यों को छोड़कर शेष सब एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक तिर्यंचगति वाले हैं।[161]

(ग) मनुष्य गति – जो नित्य ही हेय-उपादेय, तत्त्व-अतत्त्व, आप्त-अनाप्त, धर्म-अधर्म आदि का विचार करें, और जो मन के द्वारा गुणदोषादि का विचार स्मरण आदि कर सकें, जो शिल्पकला आदि में भी कुशल हों, तथा युग के आदि में जो मनुओं से उत्पन्न हों, उनको मनुष्य कहते हैं। अर्थात् मनुष्य गति नामकर्म के उदय से जो ढाई द्वीप के क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले हैं उनको मनुष्य कहते हैं।[162]

(घ) देव गति – जो देव गति में होने वाले या पाये जाने वाले परिणामों से सदा सुखी रहते हैं, और जो अणिमा, महिमा आदि आठ गुणों (ऋद्धियों) के द्वारा सदा अप्रतिहतरूप से विहार (विचरण) करते हैं और जिनका रूप लावण्य यौवन आदि सदा प्रकाशमान रहता है, उनको परमागमों में देव कहा जाता है।[163]

2. इन्द्रिय पाँच

इन्द्रिय – श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, जो ज्ञान प्राप्ति में साधन हो वे इन्द्रिय हैं। आदि जिन साधनों से आत्मा को सदी-गर्मी, काले पीले तथा खट्टा-मीठा

आदि विषयों का ज्ञान होता है, वे इन्द्रिय कहलाती हैं।[164] इन इन्द्रियों की अपेक्षा से संसारी जीवों के पाँच भेद हैं :

(क) एकेन्द्रिय (ख) द्वीन्द्रिय (ग) त्रीन्द्रिय (घ) चतुरिन्द्रिय (ङ) पंचेन्द्रिय[165]

(क) ***एकेन्द्रिय*** – *जिन जीवों के एकेन्द्रिय जाति नामकर्म का उदय होता है और केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय पाई जाती है। उसे एकेन्द्रिय कहते हैं। जैसे-फल, फूलादि।*[166]

(ख) **द्वीन्द्रिय** – जिन जीवों के स्पर्शन और रसन ये दो इन्द्रियाँ हैं तथा द्वीन्द्रिय जाति नामकर्म का उदय है, उन जीवों को द्वीन्द्रिय कहते हैं।[167] जैसे-सीप, शंख आदि।

(ग) **त्रीन्द्रिय** – जिस जाति में त्रीन्द्रिय जाति नामकर्म के उदय से स्पर्शन, रसन और घ्राण यह तीन इन्द्रियाँ हों उसे त्रीन्द्रिय कहते हैं।[168] जैसे-जूँ, लीख आदि।

(घ) **चतुरिन्द्रिय** – चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्म के उदय से जिन जीवों के स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु यह चार इन्द्रियाँ होती हैं, वे जीव चतुरिन्द्रिय कहते हैं।[169] जैसे-मच्छर, मक्खी आदि।

(ङ) **पंचेन्द्रिय** – पंचेन्द्रिय जीवों के स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत यह पाँच इन्द्रियाँ[170] होती है और इन पाँच इन्द्रियों के होने में निमित्त पंचेन्द्रिय जाति नामकर्म है।[171] जैसे-मनुष्य पशु, पक्षी आदि।

3. काय छः

काय – जिसकी रचना और वृद्धि यथायोग्य औदारिक, वैक्रिय आदि पुद्गल-स्कन्धों से होती है तथा जो शरीर नामकर्म के उदय से निष्पन्न होता है। कायमार्गणा के छः भेद[172] होते हैं :–

(क) पृथ्वीकाय (ख) अप्काय (ग) तेजस्काय (घ) वायुकाय (ङ) वनस्पतिकाय (च) त्रसकाय[173]

(क) **पृथ्वीकायिक** – मृत्तिका, धातु आदि पृथ्वी ही जिनका शरीर है वे पृथ्वीकायिक हैं। इससे सिद्ध होता है कि पृथ्वी जीवात्मक है।[174]

(ख) **अपकायिक** – पानी ही जिन जीवों का शरीर है वे अपकायिक है। जैसे अण्डे में पानी संजीव है, वैसे ही पानी ही जीवात्मक है।[175]

(ग) **तेजस्कायिक** – अग्नि ही जिनका शरीर है वे तेजस् कायिक हैं। अग्नि और विद्युत इनका समावेश तेजस में हो जाता है।[176]

(घ) **वायुकायिक** – वायु ही जिन जीवों का शरीर है वे वायुकायिक कहलाते हैं। आगमों में वायु को सचित्त ही माना है। वायु के जीव को देखना चक्षु का विषय नहीं है तो भी चैतन्य रूप है।[177]

(ङ) **वनस्पतिकायिक** – जिस प्रकार जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त मनुष्य की दशा देखी जाती है। ठीक उसी प्रकार वनस्पति की हानि एवं वृद्धि देखी जाती है। वृद्धि और हानि जीव के होने पर ही हो सकती है। जड़ वस्तु में चय उपचय अर्थात् हानि एवं वृद्धि नहीं होती। अन्य प्राणियों की तरह वनस्पति भी नियत आयु के बल पर जीती है।[178]

प्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक सर जगदीश चन्द्र बोस ने वनस्पति का सजीव होना सिद्ध किया है। खेद है कि यह कार्य आगे नहीं बढ़ा, किन्तु एक समय आएगा जब विज्ञान, पृथ्वीकाय आदि की सजीवता पर भी अपनी स्वीकृति की मोहर लगाएगा। इस क्षेत्र में जैन दर्शन अब भी विज्ञान से आगे हैं।[179]

पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस, वायु और वनस्पति आदि ये पाँचों स्थावर जीव कहे जाते हैं। स्थावर का अभिप्राय है एक स्थान पर स्थिर रहने वाले जीव होते हैं। सभी स्थावर जीव एकेन्द्रिय होते हैं।[180]

(च) **त्रसकाय** – त्रस का अर्थ है - एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने वाले अथवा, हिलने, डुलने, चलने वाले, गति-गमन करने वाले जीव त्रस हैं।[181] द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों के त्रसनाम कर्म का उदय होता है, और वे अपने-अपने प्राप्त शरीर से स्वयं चल-फिर सकते हैं। हित में प्रवृत्ति और अहित से निवृत्तिरूप क्रिया भी कर सकते हैं।

त्रसनाम कर्म के उदय से जिन जीवों के सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष आदि स्पष्ट दिखाई देते हों, वे त्रस जीव हैं।[182]

4. योग

योग का अर्थ है प्रवृत्ति। मन, वचन और काय की क्रियाशीलता को ही योग कहते हैं।[183] वीर्य-शक्ति के जिस परिस्पन्द से आत्मिक प्रदेशों की हलचल से आत्मा की चिन्तन, वचन, गमन, भोजन आदि क्रियाएँ होती है, वह

योग है। तथा शरीर, भाषा और मनोवर्गणा के पुद्गलों की सहायता से होने वाला परिस्पन्द योग कहलाता है अथवा पुद्गल विपाकी शरीर नामकर्म के उदय से मन-वचन-काय युक्त जीवों की कर्मग्रहण करने की शक्ति को योग कहते हैं।[184]

योग तीन प्रकार का होता है –

(क) मनोयोग (ख) वचनयोग (ग) काययोग।

(क) **मनोयोग** – इस योग में मन की (मानसिक) प्रवृत्ति है।

(ख) **वचनयोग** – वचन की प्रवृत्ति को वचनयोग कहा जाता है।

(ग) **काययोग** – कायिक अथवा काय सम्बन्धी प्रवृत्ति को काय योग कहते हैं।[185]

वेद

जिससे इन्द्रियजन्य संयोगजन्य सुख का वेदन किया जाये अथवा वेदमोहनीय कर्म के उदय से ऐन्द्रिय-रमण करने या संभोगजन्यसुख की अभिलाषा को वेद[186] कहते हैं।

व्यक्ति में पाये जाने वाले स्त्रीत्व, पुरुषत्व व नपुंसकत्व के भाव वेद कहलाते हैं। ये दो प्रकार का है – भाव वेद और द्रव्य वेद। उपरोक्त भाव तो भाववेद है और शरीर में स्त्री, पुरुष व नपुंसक के अंगोपांग विशेष द्रव्यवेद है, द्रव्यवेद जन्मपर्यन्त नहीं बदलता पर भाववेद कषाय विशेष होने के कारण क्षणमात्र में बदल सकता है।[187] वेद तीन प्रकार के कहे गए हैं:

(क) स्त्री वेद (ख) पुरुष वेद (ग) नपुंसक वेद।

(क) **स्त्री वेद** – स्त्री वेद का अभिप्राय है पुरुष के साथ रमण करने की इच्छा होना।

(ख) **पुरुष वेद** – पुरुष वेद का अभिप्राय है स्त्री के साथ रमण करने की इच्छा होना।

(ग) **नपुंसक वेद** – पुरुष और स्त्री दोनों के साथ रमण करने की इच्छा करने वाला नपुंसक वेद होता है।[188]

6. कषाय

जिसके द्वारा सुख-दुःख जन्म-मरण रूप संसार की प्राप्ति हो, अथवा जो

आत्मा के शुद्ध स्वभाव को मलिन एवं कलुषित करता है, उसे कषाय कहा जाता है। अथवा जीव जिससे हिंसा आदि पापों में प्रवृत्त हों वह कषाय है। जिससे कर्मों का बन्ध हो, वह कषाय है क्योंकि कष का अर्थ है, भव, कर्म या संसार का जिससे भव बन्धन हो वही कषाय है।[189]

वीतराग भगवान के अतिरिक्त अन्य सभी जीवों में कषाय होते ही हैं। कषाय की एक प्रकृत्ति तो उदय में रहती है, और शेष तीनों प्रकृतियाँ सत्ता में अर्थात् सुप्तावस्था में रहती है। एक साथ दो, तीन या चार प्रकृतियों का उदय नहीं होता।[190] इन प्रकृतियों के आधार पर कषाय चार प्रकार के हैं–

(क) क्रोध (ख) मान (ग) माया (घ) लोभ[191]

(क) **क्रोध** – कोप, गुस्सा, रोष ये क्रोध के ही पर्यायवाची शब्द है। क्रोध मोहनीय कर्म के उदय से होने वाला कृत्य-अकृत्य के विवेक को हटाने वाला एवं प्रज्वलन स्वरूप आत्मा के परिणाम को क्रोध कहते हैं। कोपवश आत्मा किसी की बात को सहन नहीं करता और बिना विचारे अपने तथा पराये अनिष्ट के लिए प्रस्तुत हो जाता है। आत्मा की ऐसी परिणति को क्रोध कहा जाता है।[192]

(ख) **मान** – अभिमान, मद, अहंकार ये पर्यायान्तर नाम हैं। जाति-कुल आदि विशिष्ट गुणों के कारण आत्मा में जो अहंभाव जागृत होता है, उसे मान कहते हैं। अपने आपको बड़ा समझना, दूसरे को तुच्छ समझना, दूसरों की अवहेलना करना और दूसरों के गुणों को सहन न करना, ये सब मान के दुष्परिणाम हैं।[193]

(ग) **माया** – जीव में उत्पन्न होने वाले कपट आदि भावों को ही माया की संज्ञा दी गई है। माया अपने दोषों पर पर्दा डालती है, मैत्री भाव का नाश करती है और बुराईयों का आह्वान करती है।[194]

(घ) **लोभ** – लोभ, लालसा, तृष्णा इत्यादि लोभ की संज्ञाएँ हैं। खाने-कमाने में, भोग-विलास में अनावश्यक आसक्ति का होना, लोभ का कार्य है। लोभ सब गुणों का विनाशक है और अवगुणों का पोषक है।[195]

7. ज्ञान

सामान्य-विशेषात्मक वस्तु में से उसके विशेष अंश को जानने वाले आत्म-व्यापार को ज्ञान कहते हैं। अथवा जिसके द्वारा त्रिकालविषयक को जाना जा सके, वह ज्ञान है।[196] यह ज्ञान आठ प्रकार का कहा गया है –

(क) मतिज्ञान (ख) श्रुतज्ञान (ग) अवधिज्ञान (घ) मन:पर्यायज्ञान (ङ) केवलज्ञान (च) मति-अज्ञान (छ) श्रुत-अज्ञान (ज) विभङ्गज्ञान[197]

(क) **मतिज्ञान** – इन्द्रियों और मन के द्वारा यथायोग्यस्थान में अवस्थित वस्तु के होने वाले ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान प्राय: वर्तमानकालिक विषयों को जानता है। किसी भी स्थान पर विद्यमान वस्तु को इन्द्रिय और मन की सहायता से जानने वाला ज्ञान मतिज्ञान कहलाता है।[198]

(ख) **श्रुतज्ञान** – सुनकर प्राप्त होने वाले ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। जो ज्ञान श्रुतानुसारी होता है, या जिसमें शब्द और उसके अर्थ का सम्बन्ध भासित होता है, और जो मतिज्ञानपूर्वक इन्द्रिय और मन के निमित्त से होता है, वह श्रुतज्ञान है। जैसे-जल शब्द सुनकर, यह जानना कि यह शब्द "पानी" का बोधक है।[199]

(ग) **अवधिज्ञान** – अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम से होने वाला ज्ञान अवधिज्ञान कहलाता है। इसमें इन्द्रियों और मन की सहायता अपेक्षित नहीं होती। वह मूर्त एवं रूपी पदार्थों का प्रत्यक्ष अपने क्षयोपशम प्रमाण से कर सकता है, अमूर्तों का नहीं। इस ज्ञान की प्राप्ति चारों गतियों के जीवों को हो सकती है।[200]

(घ) **मन:पर्यवज्ञान** – इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना, अढ़ाई द्वीप की मर्यादा को लिए हुए संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को, दूर रहते हुए भी जान लेना मन:पर्यवज्ञान है। यह ज्ञान लब्धिधारी अप्रमत्त संयत में उत्पन्न होता है। इसका उद्‌भव सातवें गुणस्थान में हो सकता है उससे पूर्व नहीं। अन्य जीवों को यह ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता।[201]

(ङ) **केवलज्ञान** – संपूर्ण, निरावरण लोक-अलोक-प्रकाशी बिना किसी रुकावट के दूर-समीप, सूक्ष्म-स्थूल, रूपी-अरूपी सभी पदार्थों को हस्तामलक की तरह जानने के लिये समर्थ ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान सादि अनन्त है, इस ज्ञान को पाकर ही जीव परमपद को प्राप्त कर सकता है। यह ज्ञान अप्रमत्त संयत को ही होता है। क्षीणमोहनीय-गुणस्थान में चार घाति कर्मों को सर्वथा क्षय करके तेरहवें गुणस्थान के पहले समय में ही जीव केवलज्ञान से प्रकाशित हो उठता है।[202]

(च) **मति-अज्ञान** – मिथ्यात्व के उदय से तथा इन्द्रिय मन से होने वाले विपरीत उपयोग को मति-अज्ञान कहते हैं।

(छ) **श्रुत-अज्ञान** – मिथ्यादर्शन के उदय से सहचरित श्रुतज्ञान को अज्ञान कहते हैं। जैसे-चौर्यशास्त्र, कामशास्त्र, हिंसादि आपत्तिजनक पापकर्मों के विधायक या निर्देशक-प्रेरक तथा अयथार्थ तत्त्व-प्रतिपादक ग्रन्थ कुश्रुत कहलाते हैं, उनका ज्ञान-श्रुत-अज्ञान कहलाता है।

(ज) **अवधि-अज्ञान (विभंगज्ञान)** – रूपी पदार्थों के मर्यादित द्रव्यादिरूप से जानने वाले अवधिज्ञान को मिथ्यात्व के उदय से विपरीत रूप में जानना अवधि-अज्ञान या विभंगज्ञान है।

सम्यग्दृष्टि के ज्ञान को ज्ञान कहते हैं, क्योंकि वह प्रत्येक वस्तु को अनेकान्तदृष्टि से देखता है, उसका ज्ञान हेय-ज्ञेय-उपादेय की बुद्धि से युक्त होता है, किन्तु मिथ्यादृष्टि का ज्ञान व्यवहार में समीचीन होने पर भी वस्तु को एकान्त दृष्टि से जानने वाला, कदाग्रही तथा हेयोपादेय-विवेकरहित होता है। मन:पर्याय और केवल, ये दो ज्ञान सम्यक्त्व के सद्भाव में ही होते हैं, अतएव ये दोनों अज्ञानरूप नहीं होते।

मतिज्ञान आदि आठ प्रकार के ज्ञान साकार कहलाते हैं, क्योंकि वे वस्तु के प्रतिनियत आकार विशेष को ग्रहण करते हैं।[203]

8. संयम

अंहिसा, अचौर्य, सत्य, शील, अपरिग्रह इन पाँच महाव्रतों का धारण करना पाँच समितियों का पालन (ईर्या भाषा आदि) क्रोधादि चार कषायोंका निग्रह करना, मन, वचन, काया रूप दण्ड का त्याग पाँच इन्द्रियों (श्रोत, चक्षु) आदि पर विजय पान संयम कहलाता है।

सावद्य योगों से निवृत्ति अथवा जिसके द्वारा पाप व्यापार रूप आरम्भ-समारम्भों से आत्मा नियंत्रित किया जाए उसे संयम कहते हैं।[204] संयम सात प्रकार का होता है –

(क) सामायिक संयम (ख) छेदोपस्थापनीय संयम (ग) परिहार विशुद्धि संयम (घ) सूक्ष्म सम्पराय संयम (ङ) यथाख्यात संयम (च) देशविरति संयम (छ) अविरति संयम[205]

(क) **सामायिक संयम** – रागद्वेष के अभाव को समभाव कहते हैं, और जिस संयम (चारित्र साधना) से समभाव की प्राप्ति हो, वह सामायिक संयम है।[206]

मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यव चार ज्ञान के धारी केवल सामायिक चारित्र धारण करते हैं।[207]

सामायिक संयम के दो प्रकार हैं –

(1) इत्वर सामायिक

(2) यावत्कथित

(1) **इत्वर सामायिक** – इत्वर सामायिक वह है, जो अभ्यासार्थी (नवदीक्षित) शिष्यों को स्थिरता प्राप्त करने के लिये पहले पहल दिया जाता है।[208]

(2) **यावत्कथित** – यावत्कथित-सामायिक संयम वह है जो ग्रहण करके जीवनपर्यन्त पाला जाता है।[209]

(ख) **छेदोपस्थापनीय संयम** – पूर्व संयम पर्याय का छेद कर फिर से उपस्थापन (व्रतारोपण) करना पहले जितने समय तक संयम का पालन किया हो, उतने समय को व्यवहार में न गिनना और दुबारा (नये सिरे से) संयम ग्रहण करने के समय से दीक्षाकाल गिनना व छोटे-बड़े का व्यवहार करना - छेदोपस्थापनीय संयम है।[210]

यह संयम भरत और ऐरावत क्षेत्रों में प्रथम और चरम तीर्थंकरों के तीर्थ में ही होता है शेष बाईस तीर्थंकरों और महाविदेह क्षेत्र में विचरने वाले तीर्थंकरों के तीर्थ में यह संयम नहीं पाया जाता।[211]

(ग) **परिहारविशुद्धि संयम** – यदि किसी संयमी साधक द्वारा कोई संयम-विरुद्ध कार्य हो जाता है तो उसके दोष की निवृत्ति के लिये जो विशेष रूप से शुद्धिकरण की प्रक्रिया अपनाई जाती है, जिसमें आपवादिक स्थिति के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता है वह परिहार विशुद्धि-संयम कहलाता है।

यह कल्पस्थिति इस प्रकार प्रसिद्ध है-वे नव साधु जिनका अध्ययन कम से कम नौवें पूर्व की तीसरी वस्तुपर्यन्त हों, जो दीक्षा स्थविर हों, वे इस संयम को धारण कर सकते हैं। ऐसे संयमी आचार्य, उपाध्याय की शुभ आज्ञा को पाकर गच्छ से बाहर निकलकर 18 मासपर्यन्त विशेष विधि-विधान के अनुसार तप करते हैं, जैसे कि चार साधु छः मास तक तप करते हैं, चार साधु तपस्वियों की वैयावृत्य अर्थात् सेवा करते हैं और उनमें से एक वाचनाचार्य होकर ठहरता है। दूसरी बार की षाण्मासिक साधना में वैयावृत्त्य में संलग्न होते हैं। किन्तु वाचनाचार्य वही रखता है जो पहले था। तीसरे छः महीने में वाचनाचार्य बनता है और सात मुनिवर वैयावृत्य करते हैं। इस प्रकार यह संयम साधना 18 महीनों में पूर्ण होती है।[212]

(घ) **सूक्ष्मसंपराय संयम** – यहा सूक्ष्म शब्द से लोभ और संपराय शब्द से कषाय का ग्रहण किया जाता है। जब सूक्ष्म रूप से लोभ का उदय हो और शेष कषायों का उदय न हो, तब उसे सूक्ष्मसंपराय संयम कहते हैं। यह संयम दसवें गुणस्थान में होता है। ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान के अभिमुख संयमी के परिणाम विशुद्धयमान होते हैं; किन्तु दसवें गुणस्थान से प्रतिपाती होते हुए जब संयमी नौवें गुणस्थान के अभिमुख होता है, तब उसके भाव संक्लिश्यमान होते हैं।[213]

(ङ) **यथाख्यात संयम** – इसका शाब्दिक अर्थ है – जिसकी कथनी और करणी संतुलित हो, जैसे कहता है, वैसे ही करता है। इसके अधिकारी पूर्ण सत्यवादी, उत्तम संहनन वाला, छद्मस्थ और केवली दोनों ही होते हैं। इस संयम में कषायों का उदय नहीं होता। 11वें, 12वें, 13वें और 14वें गुणस्थान में ही यथाख्यात-संयम पाया जाता है। निर्वाण-प्राप्ति में सहायक यही मुख्य संयम है। इसकी आराधना से जीव आत्मविकास करते हुए अक्षय मोक्ष पद की प्राप्ति कर सकते हैं।

(च) **देशविरति संयम** – कर्मबन्धजनक आरम्भ-समारम्भ से किसी अंश में निवृत्ति होना, देशविरति-संयम है। इसके अधिकारी गृहस्थ है।[214]

(छ) **अविरति संयम** – किसी भी प्रकार के संयम का स्वीकार न करना अविरति संयम है। यह पहले गुणस्थान से चौथे गुणस्थान तक पाया जाता है।[215]

9. दर्शन चार

सामान्य-विशेषात्मक वस्तु-स्वरूप में से वस्तु के सामान्य अंश को जानने-देखने वाले चेतनाशक्ति के उपयोग या व्यापार को दर्शन कहते हैं। पदार्थों के आकार को विशेष रूप से न जानकर सामान्यरूप से जानना दर्शन है।[216]

दर्शन मार्गणा के चार भेद हैं –

(क) चक्षुदर्शन (ख) अचक्षुदर्शन (ग) अवधि दर्शन (घ) केवल दर्शन।

(क) **चक्षुदर्शन** – जीव को चक्षुरिन्द्रिय द्वारा पदार्थ के सामान्य अंश का बोध हो उसे चक्षुदर्शन कहते हैं।

(ख) **अचक्षुदर्शन** – अचक्षुदर्शन वह है, जिसमें चक्षु के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों और मन के द्वारा पदार्थ के सामान्य अंश का बोध हो।

(ग) **अवधिदर्शन** – जिसमें अवधिदर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से इन्द्रियों की सहायता के बिना अवधि-लब्धि वालों को जो रूपीद्रव्यविषयक सामान्य बोध होता है, वह अवधि दर्शन है।[217]

(घ) **केवलदर्शन** – सम्पूर्ण द्रव्य पर्यायों को सामान्यरूप से विषय करने वाले बोध को केवलदर्शन कहते हैं।[218]

10. लेश्या छः[219]

लेश्या शब्द लिश् धातु से बना है। लिश् का अर्थ है – चिपकना, संबद्ध होना अर्थात् जिसके द्वारा कर्म आत्मा के साथ चिपकते हैं या बन्धते हैं उसे लेश्या कहते हैं। लेश्या आत्मा का शुभ या अशुभ परिणाम है।[220]

जिसके द्वारा जीव पुण्य-पाप से अपने को लिप्त करता है और उनके अधीन करता है, उसको लेश्या कहते हैं।[221]

जो लिम्पन करती है, अर्थात् जो कर्मों से आत्मा को लिप्त करती है उसको लेश्या कहते हैं।[222]

जो जीव व कर्म का सम्बन्ध कराती है वह लेश्या कहलाती है।[223] अभिप्राय यह है कि मिथ्यात्व, असंयम कषाय और योग ये लेश्या हैं।

लेश्या दो प्रकार की होती है –

(क) द्रव्य लेश्या (ख) भाव लेश्या[224]।

(क) **द्रव्य लेश्या** – शरीर नामकर्म के उदय से उत्पन्न होने वाली द्रव्य लेश्या है।[225]

जो वर्ण नामकर्म के उदय से शरीर का वर्ण होता है अर्थात् शरीर के रंग को द्रव्य लेश्या कहते हैं।[226]

द्रव्य-लेश्या आगे छः प्रकार की होती है--

1. कृष्ण लेश्या 2. नील लेश्या 3. कापोत लेश्या 4. तेजो लेश्या 5. पद्म लेश्या 6. शुक्ल लेश्या[227]

1. **कृष्ण लेश्या** – यह लेश्या भौरे के समान वर्ण वाली होती है।

2. **नील लेश्या** – यह लेश्या नील की गोली या नील मणि या मयूरकण्ठ के समान रंग वाली होती है।

3. **कापोत लेश्या** – यह लेश्या कबूतर के समान रंग वाली होती है।

4. **तेजो लेश्या** – यह लेश्या तप्त स्वर्ण के समान वर्ण वाली होती है।

5. **पद्म लेश्या** – यह लेश्या पद्म के सदृश वर्ण वाली होती है।

6. **शुक्ल लेश्या** – यह लेश्या कास के फूल के समान श्वेत वर्ण वाली होती है।[228]

(ख) भाव लेश्या

मोहनीय कर्म के उदय और क्षयोपशम, उपशम अथवा क्षय से उत्पन्न हुआ जो भाव है वह भाव लेश्या है।[229]

कषाय के उदय से अनुरंजित योग (अनुरक्त) की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं।[230]

भाव लेश्या छः प्रकार की मानी गई है :

1. कृष्ण भाव लेश्या 2. नील भाव लेश्या 3. कापोत भाव लेश्या 4. पीत भाव लेश्या 5. पद्म भाव लेश्या 6. शुक्ल भाव लेश्या।

1. कृष्ण भाव लेश्या – काजल के सदृश कृष्ण वर्ण के कलुषित लेश्याजातीय पुद्गलों के सम्पर्क से आत्मा में ऐसे क्रूर, अति रौद्र परिणाम होते हैं। कृष्ण लेश्या का धारक जीव अत्यन्त क्रोधी होता है। दूसरों से वैर-विरोध रखता है – स्वभाव से झगड़ालू होता है। धर्म और दया का उनमें लेशमात्र नहीं होता।[231]

2. नील भाव लेश्या – नील लेश्या[232] के परिणाम से जीव में दयालुता नहीं होती, विवेक रहित हो, वे ईर्ष्या, असहिष्णुता माया से युक्त होते हैं दूसरों को ठगने में अतिदक्ष हो, धनधान्य के विषय में जिसकी अतितीव्र लालसा हो। ऐसे विचारों वाले नील लेश्या वाले होते हैं।[233]

3. कापोत भाव लेश्या – कापोत लेश्या के धारक जीव दूसरों पर रोष करते है। निन्दा करते है, स्वभाव से निर्दयी होते हैं, दूसरों को दुःख देना अथवा वैर रखना, अधिकतर शोकाकुलित रहना तथा भय ग्रस्त रहना, दूसरों के ऐश्वर्यादि को सहन न करना आदि लक्षणों से जो युक्त होते है। और कार्य करने में हमेशा कुटिल होते हैं।[234]

4. पीत भाव लेश्या या तेजो लेश्या – तेजो लेश्या वाले जीव अपने कर्त्तव्य अकर्त्तव्य को सेव्य असेव्य को समझने वाला हो सबके विषय में

समदर्शी हो, दया और दान में तत्पर हो मन, वचन, काय के विषय में कोमल परिणामी हों। तेजोलेश्या के पुद्गलों के संसर्ग से आत्मा में ऐसे परिणाम आ जाते हैं। जिनसे उनके स्वभाव में नम्रता, मृदुता ऋजुता आ जाती है और उसमें धर्म तथा धर्मस्थान में रुचि एवं दृढ़ता आ जाती है।[235]

5. पद्म भाव लेश्या – दान देने वाला हो, भद्रपरिणामी हो, उत्तम कार्य में कुशल, कष्टों को सहन करने वाला हो, गुरुजन की विनय-भक्ति से युक्त हो आदि लक्षणों से युक्त वाले पद्म लेश्या वाले अर्थात् हल्दी के समान रंग के लेश्यामान पुद्गलों से आत्मा में ऐसे परिणाम उत्पन्न होते हैं, जिनसे उनमें क्रोध, मान, माया, लोभ चारों कषाय अधिकतर मन्द हो जाते हैं, चित्त शान्त हो जाता है।[236]

6. शुक्ल भाव लेश्या – शुक्ल लेश्या[237] से आत्मा के परिणाम शुभ हो जाते हैं, जिससे आत्मा आर्त्त, रौद्रध्यान का त्यागकर, धर्मध्यान और शुक्लध्यान में रमण करने लगता है, ये पक्षपात से रहित होते हैं, सभी से समान-भाव रखते हैं। निदान को न बाँधना इष्ट से राग और अनिष्ट से द्वेष न करना, स्त्री, पुत्र, मित्र आदि में स्नेहरहित होना।

इन छह लेश्या में कृष्ण, नील, कापोत तीन लेश्याएँ अशुभ[238] और तेजो, पद्म, शुक्ल तीन लेश्याएँ शुभ होती हैं। देव व नारकियों में द्रव्य और भाव दोनों लेश्याएँ समान होती हैं पर अन्य जीवों में इन द्रव्य व भाव लेश्याओं की समानता का नियम नहीं है। द्रव्य लेश्या आयु पर्यन्त एक ही रहती है पर भाव लेश्या जीवों के परिणामों के अनुसार बराबर बदलती रहती है।[239]

11. भव्य

मोक्ष पाने की योग्यता-प्राप्ति को भव्य कहते हैं –

(क) भव्य (ख) अभव्य।

(क) **भव्य** – जो जीव मोक्ष जाने के योग्य होते हैं वे भव्य होते हैं।

(ख) **अभव्य** – जो जीव मोक्ष-प्राप्ति के सर्वथा अयोग्य हैं वे अभव्य कहलाते हैं।[240]

12. सम्यक्त्व

वीतराग-प्ररूपित पाँच अस्तिकाय, छह द्रव्य तथा नौ तत्त्वों (पदार्थों) पर

आज्ञापूर्वक या अधिगमन पूर्वक (प्रमाण-नय-निक्षेप द्वारा) श्रद्धा करना सम्यक्त्व है। अथवा मोक्ष के अविरोधी आत्मा के परिणाम को सम्यक्त्व कहते हैं। जीवादि तत्त्वभूत पदार्थों को वीतरागदेव ने जैसा कथन किया है, उसी प्रकार से विपरीताभिनिवेशरहित श्रद्धान करना सम्यक्त्व है।[241] वह प्रशम, संवेग, आदि पांच लक्षणों ये युक्त है।

सम्यक्त्व छह प्रकार का होता है –

(क) औपशमिक सम्यक्त्व (ख) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व (ग) क्षायिक सम्यक्त्व (घ) सास्वादन सम्यक्त्व (ङ) मिश्र सम्यक्त्व (च) मिथ्यात्व सम्यक्त्व।

(क) **औपशमिक सम्यक्त्व** – अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्ट्य और दर्शनमोह त्रिक इन सात प्रकृतियों के उपशम से प्राप्त होने वाले तत्त्व रुचि रूप आत्मपरिणाम को औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं,[242] और जिसकी आत्मा अनादिकाल से मिथ्यात्व से दूषित है वह पहले आत्मशुद्धि कर यह सम्यक्त्व प्राप्त करता है।[243]

(ख) **क्षायोपशमिक सम्यक्त्व** – अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्क और मिथ्यात्व मोहनीय तथा सम्यग्-मिथ्यात्म-मोहनीय; इन छह प्रकृतियों के उदय-भावी क्षय और इन्हीं के सदवस्था रूप उपशम से तथा देशघाती-स्पर्द्धक वाली सम्यक्त्व-प्रकृति के उदय में जो तत्त्वार्थ-श्रद्धान रूप आत्मपरिणाम होता है, वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है। इसे वेदक-सम्यक्त्व भी कहते हैं।[244]

(ग) **क्षायिक सम्यक्त्व** – अनन्तानुबन्धी-चतुष्क और दर्शन मोहनीयत्रिक, इन सात प्रकृतियों के क्षय से आत्मा में जो तत्त्वरुचि रूप परिणाम प्रगट होता है, वह क्षायिक सम्यक्त्व है।[245]

(घ) **सास्वादन सम्यक्त्व** – औपशमिक सम्यक्त्व का त्यागकर मिथ्यात्व के अभिमुख होने के समय जीव का जो परिणाम होता है, उसे सास्वादन सम्यक्त्व कहते हैं इस सम्यक्त्व के दौरान जीव के परिणाम निर्मल नहीं रहते, क्योंकि अनन्तानुबन्धी कषायों का उदय रहता है।[246]

(च) **मिथ्यात्व सम्यक्त्व** – मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म के उदय से होने वाला आत्मपरिणाम मिथ्यात्व है। इस परिणाम वाला जीव तत्त्वार्थ के प्रति श्रद्धान नहीं कर पाता। वह जड़-चेतन के भेद को भी नहीं जानता, मूढ़दृष्टि होता है, उसकी प्रवृत्ति आत्मोन्मुखी नहीं होती। हठाग्रह, कदाग्रह, पूर्वाग्रह आदि दोष इसी के फल है।[247]

13. संज्ञी

मन के सद्भाव के कारण जिन जीवों में शिक्षा ग्रहण करने व विशेष प्रकार से विचार, तर्क आदि करने की शक्ति है, वे संज्ञी कहलाते हैं, यद्यपि चींटी आदि क्षुद्र जन्तुओं में भी इष्ट पदार्थ की प्राप्ति प्रतिगमन और अनिष्ट पदार्थों से हटने की बुद्धि देखी जाती है पर उपरोक्त लक्षण के अभाव में वे संज्ञी नहीं कहे जा सकते।[248]

जीव संज्ञी दो प्रकार के होते है[249]–

(क) संज्ञी (ख) असंज्ञी।

(क) **संज्ञी** – जो जीव मनः पर्याप्ति वाले होते हैं वे संज्ञी कहलाते हैं।

(ख) **असंज्ञी** – जिन जीवों को द्रव्य मन की प्राप्ति नहीं हुई है, वे असंज्ञी कहे जाते हैं।[250]

14. आहारक

शरीर नामकर्म के उदय से शरीर, वचन और द्रव्य मनोरूप बनने योग्य नोकर्म वर्गणा का जो ग्रहण होता है, उसे आहार कहते हैं। ओज-आहार, लोम-आहार, कवलाहार आदि में से किसी न किसी आहार को ग्रहण करना आहारकत्व है।[251]

आहारक के दो प्रकार होते हैं –

(क) आहारक (ख) अनाहारक

(क) **आहारक** – जो जीव समय-समय में आहार ग्रहण कर रहे हैं, वे आहारक हैं।

(ख) **अनाहारक** – जो जीव विग्रह-गति से भवान्तर में जाते हुए, एक मोड़ या दो मोड़ करते हैं, वे एक या दो समय तक अनाहारक कहलाते हैं। जो जीव त्रसनाड़ी से मरकर पुनः त्रसनाड़ी में ही उत्पन्न होते हैं। वे एक या दो समय अनाहारक रहते हैं, किन्तु लोकनाड़ी में प्रविष्ट हुए एकेन्द्रिय जीवों की अनाहारक अवस्था तीन समय की ही होती है। तेरहवें गुणस्थान में समुद्घात के समय केवली तीन समय तक अनाहारक ही होती है। तेरहवें गुणस्थान में समुद्घात के समय केवली तीन समय तक अनाहारक रहते हैं।[252] चौदहवें गुणस्थान में तथा सिद्ध अवस्था में भी जीव अनाहारक होते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त चौदह मार्गणास्थानों में निम्नलिखित आदि अनुयोगों के द्वारा विशेष रूप से जीव का अन्वेषण करना चाहिए।[253]

अनुयोग

अनुयोगों व्याख्यानाम् विधि प्रतिषेधाव्याम अर्थ प्ररूपणम्।

विधि प्रतिषेध के द्वारा अर्थ की प्ररूपणा (व्याख्या) करना अनुयोग हैं।[254] अनुयोग का अर्थ है व्याख्या या विवेचन।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने अनुयोग की व्याख्या करते हुए लिखा है– श्रुत अर्थात् शब्द का उसके अर्थ के साथ योग वह अनुयोग है अथवा सूत्र का अपने अर्थ के सम्बन्ध में जो अनुरूप या अनुकूल व्यापार हो वह अनुयोग है।[255]

यह अनुयोग आठ[256] कहे गये हैं –

1. सत् 2. संख्या 3. क्षेत्र 4. स्पर्शन 5. काल 6. अन्तर 7. भाव 8. अल्पबहुत्व।

1. **सत्** – सत् का अभिप्राय सत्ता अथवा अस्तित्त्व या अवस्थिति है। यद्यपि सम्यक्त्व गुण सत्ता रूप से सभी जीवों में विद्यमान है पर उसका आविर्भाव केवल भव्य जीवों में हो सकता है, अभव्यों में नहीं।[257]

2. **संख्या** – संख्या का अभिप्राय यहाँ गिनती से है। गिनती की अपेक्षा से विचार करने पर भूतकाल में अनन्त जीवों ने सम्यक्त्व प्राप्त किया है और भविष्य में भी अनन्त जीव प्राप्त करेंगे। सम्यक्त्व की गिनती उसे पाने वाले की संख्या पर निर्भर है। इस दृष्टि से सम्यग्दर्शन संख्या में अनन्त है।[258]

3. **क्षेत्र** – सम्यग्दर्शन का क्षेत्र सम्पूर्ण लोकाकाश नहीं है किन्तु उसका असंख्यातवाँ भाग है। चाहे सम्यग्दर्शनी एक जीव को लेकर या अनन्त जीवों को लेकर विचार किया जाये तो भी सामान्यरूप से सम्यग्दर्शन का क्षेत्र लोक का असंख्यातवाँ भाग है।[259]

4. **स्पर्शन** – सम्यग्दर्शन का स्पर्शन-क्षेत्र लोक का असंख्यातवाँ भाग है अर्थात् निवास स्थान रूप आकार के चारों ओर के प्रदेशों को छूना स्पर्शन है। क्षेत्र में सिर्फ आधारभूत आकाश ही लिया जाता है और स्पर्शन में आधार क्षेत्र के चारों तरफ के आकाश प्रदेश जो आधेय के द्वारा स्पर्शन किया गया हो वे भी लिया जाता है।[260]

5. **काल** – (समय) काल की अपेक्षा सम्यग्दर्शन अनादि-अनन्त है। भूतकाल में ऐसा कोई समय नहीं था जब सम्यग्दर्शन का अस्तित्व न रहा हो। इसी तरह भविष्य में भी सम्यग्दर्शन रहेगा और वर्तमान में तो है ही।[261]

6. **अन्तर (विरहकाल)** – एक जीव की अपेक्षा सम्यग्दर्शन का विरहकाल कम से कम एक अन्तर्मुहूत (48 मिनट से कम समय) और अधिक से अधिक अपार्द्ध पुद्गल परावर्तन जितना समय है तथा अनेक जीवों की अपेक्षा से विचार किया जाये तो विरहकाल बिल्कुल भी नहीं होता है। विरहकाल का अभिप्राय है सम्यक्त्व का अभाव या जिस काल में जीव को सम्यक्त्व न हो।[262]

7. **भाव** – भाव का अभिप्राय है जीव के परिणाम। पदार्थों के परिणाम को भाव कहते हैं। चेतन के परिणाम को भाव कहा जाता है। भाव का अर्थ है – आत्मा की अवस्था या अन्तःकरण की परिणति ही भाव है।[263]

चेतन व अचेतन सभी द्रव्य के अनेकों स्वभाव ही भाव है। जीव द्रव्य की अपेक्षा उनके पाँच भाव है – औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक भाव। कर्मों के उदय से होने वाले रागादि भाव औदायिक। उनके उपशम से होने वाले सम्यक्त्व व चारित्र औपशमिक है। उनके क्षय से होने वाले केवलज्ञानादि क्षायिक हैं। उनके क्षयोपशम से होने वाले मतिज्ञानादि क्षायोपशमिक है और कर्मों के उदय आदि से निरपेक्ष चैतन्यत्व आदि भाव पारिणामिक हैं। एक जीव में एक समय में भिन्न-भिन्न गुणों की अपेक्षा भिन्न-भिन्न गुणस्थानों में यथायोग्य भाव पाये जाने सम्भव हैं,[264] यह प्रमुख रूप से तीन हैं –

(क) क्षायिक भाव (ख) क्षायोपशमिक भाव[265] (ग) औपशमिक भाव।

सम्यक्त्व भी इन्हीं तीन रूपों में पाया जाता है तथा इन तीन भावों से ही सम्यक्त्व की शुद्धता का ज्ञान किया जाता है। अतः भाव यहाँ सम्यक्दर्शन शुद्धि की तरतमता द्योतित करता है।[266] भावों के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार है –

(क) **क्षायिक भाव** – जीव के यह भाव कर्म के सर्वथा क्षय हो जाने से होते हैं। कर्मों के क्षय हो जाने से जीव के परिणाम अत्यन्त विशुद्ध और निर्मल हो जाते हैं। यह भाव जीव में सादि अपर्यवसित तक बने रहते हैं क्योंकि प्रतिपक्षी कर्म का सम्पूर्ण क्षय अथवा विनाश हो जाने पर भावों में मलिनता नहीं आती।[267]

(ख) **क्षायोपशमिक भाव** – यह भाव कर्म के क्षयोपशम से होते हैं। क्षयोपशम शब्द ''क्षय'' और उपशम दो शब्दों की सन्धि से बना है इसका

शास्त्रीय लक्षण है – वर्तमानकाल की अपेक्षा सर्वघाती कर्मों, दलिकों का उदयाभावी क्षय–झड़ जाना तथा भविष्यकाल की अपेक्षा सर्वघाती कर्म दलिकों का सदवस्थारूप उपशम अर्थात् राख से ढकी आग के भाँति सत्ता में तो रहे किन्तु उनका उदय न हो। इसकी विशेषता यह है कि जीव के परिणामों की शुद्धाशुद्ध दशा रहती है। कुछ मलिनता और अधिकतर स्वच्छभाव। इसमें मिश्रित दशा है इसलिए क्षायोपशमिक भाव के लिए मिश्र शब्द प्रयोग हुआ है।

(ग) **औपशमिक भाव** – औपशमिक भाव वह है - जो उपशम से पैदा हो - उपशम एक प्रकार की आत्मशुद्धि है, जो सत्तागम कर्म का उदय बिल्कुल रुक जाने पर वैसे ही होती है जैसे मल नीचे बैठ जाने पर जल में स्वच्छता आ जाती है।[268]

इसके अतिरिक्त औदयिक और पारिणामिक भाव भी कहे गये हैं –

(घ) **औदायिक भाव** – द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के निमित्त से होने वाले जीव का भाव "औदायिक भाव" कहलाता है। जैसे–मल के मिल जाने पर जल मलीन होता है वैसे ही औदायिक भाव एक प्रकार का आत्मिक कालुष्य है।[269]

(ङ) **पारिणामिक भाव** – पारिणामिक भाव द्रव्य का वह परिणाम है, जो सिर्फ द्रव्य के अस्तित्व से अपने आप हुआ करता है अर्थात् किसी भी द्रव्य का स्वाभाविक स्वरूप परिणमन ही पारिणामिक भाव कहलाता है।[270]

ये ही पाँच भाव[271] आत्म के स्वरूप हैं अर्थात् संसारी या मुक्त कोई भी आत्मा हो उसके सभी पर्याय उक्त पाँच भावों में से किसी न किसी भाव वाले अवश्य होंगे। ये सभी भाव जीव के जीवत्व गुण अर्थात् जिस गुण के कारण जीव जीवित रहता है, की अपेक्षा से बताये गये हैं। यद्यपि जीव में अस्तित्व, वस्तुत्व आदि अनेक गुण है; किन्तु जीवत्व गुण उसका असाधारण गुण है, यह अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाता; इसलिए यहाँ जीव के जीवत्व गुण की अपेक्षा उसके भावों का वर्णन हुआ है।[272]

8. **अल्पबहुत्व** – अल्पबहुत्व का अर्थ है न्यूनाधिकता, कम और अधिक होना। इस अपेक्षा से औपशमिक सम्यग्दर्शन सबसे कम, क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन इससे असंख्यात गुणा और क्षायिक सम्यग्दर्शन अनन्तगुणा होता हैं यह विचार सम्यक्त्वधारी जीवों की अपेक्षा से हैं। क्षायिक सम्यग्दर्शन अनन्तगुणा होने का कारण यह है कि यह जीव के सिद्ध अवस्था में भी रहता है। सिद्ध जीव अनन्त है। दूसरे शब्दों में क्षायिक सम्यग्दर्शन शाश्वत है, एक बार होने के बाद सदा रहता है।[273]

जीव के औदारिकादि शरीर

जीव के पाँच शरीर

शरीर

जीवात्मा के साथ अनादि काल से सम्बन्ध बनाये हुए अनेक प्रकार के शरीरों का नामोल्लेख तो मिलता है। जो विशेष नामकर्म के उदय से प्राप्त होकर गलते हैं, वे शरीर हैं।[274]

शरीर, शील और स्वभाव ये एकार्थवाचीशब्द है। अनन्तानतपुद्गलों के समवाय का नाम शरीर है।[275]

जिसके उदय से आत्मा के शरीर की रचना होती है वह शरीर नामकर्म है।[276]

जिस कर्म के उदय से आहार वर्गणा के पुद्गल स्कन्ध तथा तैजस और कार्मण वर्गणा के पुद्गल स्कन्ध शरीर योग्य परिणामों के द्वारा परिणत होते हुए जीव के साथ सम्बद्ध होते हैं उस कर्मस्कन्ध की शरीर संज्ञा है।[277]

शरीर के भेद

संसारी जीवों के शरीर पाँच प्रकार के होते हैं–

(1) औदारिक शरीर (2) वैक्रिय शरीर (3) आहारक शरीर (4) तेजस् शरीर (5) कार्मण शरीर[278]

1. औदारिक शरीर

उदार, उराल, उरल, ओराल ओदारिय प्राकृत के इन शब्दों का संस्कृत रूप औदारिक बनता है। उदार शब्द का अर्थ है सर्वश्रेष्ठ! सर्वश्रेष्ठ पुद्गलों से बना हुआ शरीर औदारिक कहलाता है। तीर्थंकर चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव तथा गणधरों के शरीर इसी कोटि के होते हैं। उराल का अर्थ-विशाल, जो शरीर अन्य शरीरों की अपेक्षा विशाल परिणाम वाला हो उसे भी औदारिक कहते हैं। मच्छ और महोराग का शरीर। यह शरीर मनुष्यों और तिर्यंचों का होता है। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी तिर्यंचों के शरीर औदारिक ही होते हैं। जो शरीर माँस-हड्डी, रुधिर, स्नायु, शिरा आदि वाला हो वह ओराल कहलाता है। ओराल का संस्कृत रूप भी औदारिक बनता है।[279]

(2) वैक्रिय शरीर

अपनी इच्छा के अनुसार एक होते हुए भी अनेक रूप धारण करने वाला अनेक रूप होकर भी एक रूप धारण करने वाला, छोटे शरीर से बड़ा बनकर प्रकट होने वाला और बड़े से छोटा बन जांने वाला, दृश्य होकर अदृश्य और अदृश्य होकर दृश्य हो जाने वाला, बिना किसी आश्रय के आकाश में गमन कर सकने का सामर्थ्य रखने वाला, इस प्रकार की अन्य विशिष्ट क्रियाएँ करने वाला शरीर ही वैक्रिय शरीर कहलाता है। नारकी और देव वैक्रिय शरीर वाले होते हैं।[280]

कई मनुष्य और तिर्यञ्चों को भी लब्धि प्रत्यय वैक्रियशरीर प्राप्त हो सकते हैं, परन्तु वैक्रिय लब्धि के प्रयोग की शक्ति उन्हीं तिर्यञ्च या मनुष्यों को प्राप्त हो सकती है जिन्होंने पूर्वभव में या इस भव में विशेष संयम, तप और शुभ अनुष्ठान किया हो।[281]

आदिपुराण में वर्णित अणिमा, महिमा आदि गुणों से प्रंशसनीय वैक्रियिक शरीर को धारण करने वाला अहमिन्द्र का वर्णन है।[282]

(3) आहारक शरीर

आहारक शरीर साधक को आहारक ऋद्धि से उत्पन्न होता है।[283] वह शरीर स्वर्ण के समान दैदीप्यमान होता है। सूक्ष्म पदार्थ का ज्ञान करने के लिए या असंयम को दूर करने की इच्छा से प्रमत्त संयत जिस शरीर की रचना करता है, वह आहारक शरीर है। जिसने आहारक शरीर नामकर्म का बन्ध किया हुआ हो उसी को वह शरीर प्राप्त होता है। इसका उदय योगजन्य लब्धियों से सम्पन्न, चौदह पूर्वधर प्रमत्त संयत को एक जन्म में अधिक से अधिक तीन बार प्राप्त हो सकता है। चौदह पूर्वधर मुनि किसी अन्य क्षेत्र में विराजित तीर्थंकर भगवान के पास भेजने के लिये आहारक लब्धि से अति विशुद्ध स्फटिक रत्न के सदृश एक हाथ का एक छोटा शरीर निकालते है वह आहारक शरीर कहलाता है।[284]

छठे गुणस्थानवर्ती मुनि अपने को सन्देह होने पर जिस शरीर के द्वारा केवली भगवान के पास जाकर सूक्ष्मपदार्थो का आहरण करता है, उसे आहारक शरीर कहते हैं।[285]

(4) तैजस शरीर

तैजस पुद्गलों के द्वारा बना हुआ शरीर तैजस शरीर कहलाता है। प्राणियों

के शरीर में रही हुई उष्णता से इसका अस्तित्त्व सिद्ध होता है। आहार का पाचन इसी शरीर से होता है, ऐसे शरीर का तापमान कभी बढ़ता है तो कभी घटता है और कभी अपने स्तर पर रहता है यह सब तैजस शरीर का कार्य है। तैजस समुद्घात भी इस शरीर के होने पर ही होता है।[286] स्थूल शरीर में दीप्ति विशेष का कारणभूत एक अत्यन्त सूक्ष्म शरीर प्रत्येक जीव में होता है, जिसे तैजस शरीर कहते हैं। इसके अतिरिक्त तप व ऋद्धि विशेष के द्वारा भी दायें व बायें कन्धे से कोई विशेष प्रकार का प्रज्वलित पुतला उत्पन्न किया जाता है, उसे तैजस समुद्घात कहते हैं।[287]

शरीर स्कन्ध के पद्मराग मणि के समान वर्ण का नाम तेज है तथा शरीर से निकली हुई रश्मि कला का नाम प्रभा है। इससे जो हुआ है, वह तैजस शरीर है। तेज और प्रभागुण से युक्त तैजस शरीर है।[288]

तैजस शरीर के कारण शरीर में तेज, ओज ऊर्जा रहती है तथा पचन-पाचनादि क्रियाएँ भी इसी शरीर के कारण होती है। शरीरस्थ तेजस शक्ति का कारण भी यही है।[289] अष्ट कर्मों से रहित होकर जब जीव मुक्त होता है तब औदारिक, तैजस, कार्मण तीनों शरीरों का नाश करके अनन्त गुणों को प्राप्त करके अनन्त सुखों को प्राप्त करता है।[290]

(5) कार्मण शरीर

जीव के प्रदेशों के साथ बन्धे अष्ट कर्मों के सूक्ष्म पुद्गल स्कन्ध के संग्रह का नाम कार्मण शरीर है। बाहरी स्थूल शरीर की मृत्यु हो जाने पर भी इसकी मृत्यु नहीं होती। विग्रहगति में जीवों के मात्र कार्मणशरीर का सद्भाव होने के कारण कार्मण काययोग माना जाता है और उस अवस्था में आहार वर्गणा के पुद्गलों का ग्रहण नहीं होता इसलिए विग्रह गति में जीव अनाहारक होता है।[291]

उपर्युक्त पाँच प्रकार के शरीरों में से हम अपनी इन्द्रियों से केवल औदारिक शरीर का ज्ञान कर सकते हैं। शेष शरीर इतने सूक्ष्म है कि हमारी इन्द्रियाँ उनका ग्रहण नहीं कर सकती। वीतराग केवली ही उन सूक्ष्म शरीरों का प्रत्यक्ष कर सकते हैं इनकी सूक्ष्मता का क्रम इस प्रकार है – औदारिक से वैक्रिय सूक्ष्म है, वैक्रिय से आहारक सूक्ष्म है, आहारक से तैजस सूक्ष्म है और तैजस से कार्मण सूक्ष्म है।[292] तैजस और कार्मण शरीर का किसी से भी प्रतिघात नहीं होता। वे लोकाकाश में अपनी शक्ति के अनुसार कहीं भी जा सकते हैं। उनके लिए किसी भी प्रकार का बाह्य बन्धन नहीं है। ये दोनों शरीर

संसारी आत्मा से अनादिकाल से सम्बन्धित है। प्रत्येक जीव के साथ कम से कम ये दो शरीर तो रहते ही है। जन्मान्तर के समय ये दो शरीर ही होते हैं। जन्मान्तर के अतिरिक्त जीव में अधिक से अधिक एक साथ चार शरीर हो सकते हैं।[293]

जीव के जब तीन शरीर होते हैं तो पहले तैजस, कार्मण और औदारिक, या दूसरे तैजस, कार्मण, वैक्रिय। पहला प्रकार मनुष्य तिर्यंचों में और दूसरा प्रकार देव-नारकों में जन्म से लेकर मरणपर्यन्त पाया जाता है। जब चार होते हैं – तो तैजस, कार्मण, औदारिक और वैक्रिय; या तैजस, कार्मण, औदारिक और आहारक। पाँच शरीर एक साथ नहीं होते, क्योंकि वैक्रिय लब्धि और आहारक लब्धि का प्रयोग एक साथ नहीं हो सकता। वैक्रिय लब्धि के प्रयोग के समय नियमत: प्रमत्त दशा होती है, किन्तु आहारक के विषय में यह बात नहीं है। आहारक लब्धि का प्रयोग तो प्रमत्त, दशा में होता है, किन्तु आहारक शरीर बना लेने के बाद शुद्ध अध्यवसाय होने के कारण अप्रमत्तावस्था रहती है। अत: एक साथ इन दो शरीरों का रहना सम्भव नहीं। शक्ति रूप से एक साथ पाँचों शरीर रह सकते हैं, क्योंकि आहारक-लब्धि और वैक्रिय का साथ रहना सम्भव है, किन्तु उनका प्रयोग एक साथ नहीं हो सकता; अत: पाँचों शरीर अभिव्यक्ति रूप से एक साथ नहीं रह सकते।[294]

समीक्षा

जैन साहित्य कर्म द्रव्य को अधिकृत करके बहुत ही परिवृद्ध (विस्तृत) हुआ है। वहाँ आत्म तत्त्व की अनदेखी की हो ऐसी बात नहीं है। सम्पूर्ण भारतीय दर्शन आत्म तत्त्व के विचारों से भरा पड़ा है। अनात्मवादी चार्वाक दर्शन ने भी आत्मतत्त्व नामक कोई तत्त्व नहीं है, यह बात नहीं, अपितु उसके स्वरूप के विषय में मत उपलब्ध है। अभिप्राय यह है कि भारतीय दर्शनों ने आत्म तत्त्व के अस्तित्व के विषय में भ्रान्ति नहीं है। अपितु उसका क्या स्वरूप है, इस विषय में ही विसंवाद है।

समस्त भारतीय साहित्य में आत्मा का स्वरूप चैतन्य माना गया है। वह ज्ञान स्वरूप "उपयोग" वाला है।

आत्मा में चैतन्य नामक गुण औपाधिक नहीं है। चैतन्य आत्मा का साधन है अथवा आत्म इससे ज्ञान प्राप्त करता है। यह तथ्य होने पर भी चैतन्य आत्मा का करण नहीं है। जिस प्रकार सर्प स्वयं को लपेटने में कर्त्ता भी है तो करण भी है। उसी प्रकार चैतन्य स्वरूप होता हुआ भी चैतन्य से ज्ञान ग्रहण करता

है। इसलिए आत्मा ज्ञाता होने से कर्त्ता है और स्वयं से जानता है। इसलिए करण भी है। इस प्रकार चैतन्य स्वरूप आत्मा सिद्ध हो जाता है।

चैतन्य स्वरूप आत्मा में सुख-दु:ख मोह आदि भाव उत्पन्न होते हैं, और ये भाव चैतन्य पूर्वक ही सम्भव है। इसलिए आत्मा परिणमनशील कहा जाता है।

आत्मा किसी अनात्मवस्तु से पैदा नहीं होता और न ही वह अनात्मवस्तु (जड़) के रूप में पैदा होता है। इसीलिए ये आत्मा नित्य भी कहलाता है। इस प्रकार आत्मा में सुख-दु:ख होते हैं। सुख-दु:ख की अपेक्षा की दृष्टि से परिणामी है और न ही किसी से पैदा होता है और न ही किसी को पैदा करता है इसलिए नित्य है। मोक्ष अवस्था तक इसमें निरन्तर परिणमन होता रहता है। इसलिए अनित्य है।

न्याय वैशेषिक, सांख्ययोग, पूर्व मीमांसा के समान जैन दर्शन जीव को तत्त्व रूप में एक मानता है। लेकिन व्यक्ति रूप में अनेक मानता है और वह जीव स्वतन्त्र होते हुए भी मोक्ष से पूर्व कार्मण शरीरों से बद्ध होने के कारण परतन्त्र होते हैं। क्योंकि जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध होता है।

सुख-दु:ख आदि का अनुभव क्रिया के बिना संभव नहीं और जो क्रिया है वह कर्त्ता के बिना संभव नहीं। इसलिए सभी क्रियाओं का कर्त्ता आत्मा होता है। आत्मा में सभी भोग होते हैं। इसीलिए आत्मा भोक्ता भी होता है। आत्मा का कर्त्तापन या भोक्तापन व्यावहारिक नय से मान्य है। निश्चय नय से तो वह न कर्त्ता है और न ही भोक्ता है क्योंकि कार्मण पुद्गलों के छूट जाने पर कोई इच्छाएँ नहीं रहतीं।

''आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व मान कर भी उसे स्वदेह परिमाण मानना''। इसकी ही विशेषता है। जैन दर्शन के अतिरिक्त कोई ऐसा दर्शन नहीं है जो आत्मा को शरीर परिमाण मानता हो। जितने परिमाण में हमारा शरीर है उतने ही परिमाण में हमारी आत्मा है। शरीर से बाहर आत्मा का अस्तित्व किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकता। जहाँ पर जिस वस्तु के गुण उपलब्ध होते हैं, वह वस्तु वहीं पर होती है। कुम्भ वहीं है, जहाँ कुम्भ के गुण रूपादि उपलब्ध है। आत्मा का अस्तित्व भी इसी प्रकार वहीं मानना चाहिए। जहाँ आत्मा के गुण, ज्ञान, स्मृति आदि उपलब्ध हो, ये सारे गुण यद्यपि भौतिक शरीर के नहीं हैं तथापि उपलब्ध वहीं होते हैं जहाँ शरीर होता है, अत: यह मानना ठीक नहीं कि आत्मा सर्वव्यापक है।

उपर्युक्त जीव के स्वरूप को जानने के लिए चौदह मार्गणाओं का अत्यधिक महत्त्व है क्योंकि इस विद्या के बिना जीव के स्वरूप का निश्चय नहीं हो सकता और न ही चौदह गुणस्थानों में अन्तिम गुणस्थान की प्राप्ति हो सकती है। इनके साथ ही जीव के पाँच शरीरों को जानना भी आवश्यक है।

सन्दर्भ

1. पाणिनि अष्टाध्यायी।
2. बृहद्नय चक्र 4.
3. सर्व.द.सं., पृ. 4
4. सर्व.द.सं., पृ. 398
5. सर्व.द.सं., पृ. 449-483
6. वही, पृ. 617-628
7. वही, पृ. 653
8. जै.द.स्व और विश्ले., (दे.मु.) पृ. 68
9. वे.सा.
10. सर्व.द.सं., पृ. 88
11. जै.द.स्व और विश्ले., (दे.मु.) पृ. 68
12. जै.द.स्व.और विश्ले., (दे.मु.), पृ. 68-69
13. वही।
14. वही।
15. वही।
16. वही।
17. वही।
18. उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्। – त.सू., 5.29
19. भ.द., (बल.उपा.) पृ. 163-165
20. गुणपर्यायवद् द्रव्यम्। त.सू., 5.37
21. वेदान्तिनः सतो वितर्तः कार्यजातं न तु वस्तुसदिति। – स.द.सं., पृ. 118
22. तद्भावाव्ययं नित्यम्। त.सू., 5.30
23. गुण्यते पृथक्क्रियते द्रव्यं द्रव्यान्तरापैस्तेगुणाः। – आ.पु., पृ. 6
24. द्रव्याश्रयाः निर्गुणाः गुणाः। – त.सू., 5.40
25. गुणादीनां पञ्चनामपि निर्गुणत्व निष्क्रियत्वे। – प्र.पा.भा., पृ. 7

26. त.सू. (सि.पं.फू.) 5.37, पृ. 182 (वि.)
27. त.सू. (पं. सु.ला. संघवी) 5.37, पृ. 142 (वि.)
28. पर्यवः पर्ययः पर्याय इत्यनर्थान्तरम्। – स.म., 23.272
29. क्रियागुणवत्समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्। – वै.सू. 1.1.5, पृ. 32-40
30. पदार्थस्तु द्विधा ज्ञेयो जीवाजीवविभागतः। – आ.पु. 24.127
31. जीवमजीव दव्वं। – द्र सं.।
32. अहं ममास्रवो बन्धः संवरो निर्जरा क्षयः
कर्मणामिति तत्त्वार्था ध्येयाः सप्त नवांथ वा।। – आ.पु. 21.108
33. जीवाजीवास्रव बन्ध संवर निर्जरा मोक्षास्तत्त्वम्। – त. सू. 1.4
34. जै.द. (न्या. वि.मु.) पृ. 5
35. शुभः पुण्यास्याऽशुभः पापस्य। – त.सू. 6.3-4;
पुण्यं पापास्रवस्तथा। – उत्तरा.सू., 28.14
36. द्रव्यं जीवादि षोढ़ा। – आ.पु., 1.123; 2.118; 21.109; 24.85; 25.222
37. आ.पु., 3.5 (टीका); 3.9(टीका)
पञ्चास्तिकायभेदेन तत्त्वं पञ्चधा स्मृतम्।
ते जीवपुद्गलाकाशधर्माधर्माः सपर्ययाः।। – आ.पु., 24.90
38. द्रव्य संग्रह, गा. 24
39. वही, गा. 27
40. जै.द. (मो.ला.मे) प्र. 148-150
41. चेतना लक्षणो जीवः। – आ.पु. 24.92
42. प्रदेशसंहार-विसर्गाभ्यां, प्रदीपवत्। – त.सू., 5.16
43. उत्तरा. सू. 28.11
44. उत्तरा. सू., *14.19*
45. आ.सू., अ. 1
46. आ.सू., अ. 1
47. उपयोगो लक्षणम्। – त.सू. 2.8
48. तत्त्वार्थाधिगमभाष्यम्, 2.8
49. द्वेधा तस्योपयोगः स्याज्ज्ञानदर्शनभेदतः। – आ.पु., 24.100
50. ज्ञानमष्टतयं ज्ञेयं दर्शनं च चतुष्टयम्।
साकारं ज्ञानमुद्दिष्ट मनाकारं च दर्शनम्।। – आ.पु., 24.101
51. जै.द. (मो.ल.मे.) पृ. 160
52. वही।

53. जै.द. (मो.ल.मे.), पृ. 160
54. वही।
55. वही।
56. वही।
57. आ.पु. 24.101
58. भेदग्रहणमाकारः प्रतिकर्मव्यवस्थया।
सामान्यमात्रनिर्भासादनाकारं तु दर्शनम्।। – आ.पु. 24.102
59. जै.द. (मो.ल.मे.), पृ. 162
60. वही।
61. वही।
62. वही।
63. वही।
64. चेतना लक्षणो जीवः सोऽनादि निधन स्थितिः।
ज्ञाता द्रष्टा च कर्त्ता च भोक्ता देह प्रमाणकः।। – आ.पु., 24.92
65. गुणवान् कर्मनिर्मुक्तावूर्ध्व व्रज्यास्वभावकः।
परिणन्तोपसंहार विसर्पाभ्यां प्रदीपवत्।। – आ.पु., 24.93
66. शाश्वतोऽयं भवेज्जीवः पर्यायस्तु पृथक्-पृथक्।
मृदद्रव्यस्येव पर्यायैस्तस्योत्पत्ति विपत्तयः।।
अभूत्वाभाव उत्पादो भूत्वा चाभवनं व्ययः।
ध्रौव्यं तु तादवस्थ्यं स्यादेवमात्मा त्रिलक्षणः।। – आ.पु. 24.109-110, 127
67. जै.द., न्या.वि.श्री, पृ. 5
68. सति धर्मिणि धर्मस्य घटते देव चिन्तनम्।
स एव तावन्नास्त्यात्मा कुतो धर्मफलं भजेत्।। – आ.पु., 5.29
69. पृथिव्यप्पवनाग्नीनां संघातादिह चेतना।
प्रादुर्भवति मद्याङ्गसंगमान्मदशक्तिवत्।। – आ.पु., 5.30
70. ततो न चेतना कायतत्त्वात् पृथगिहास्ति नः।
तस्यास्तद्व्यति रेकेणानुपलब्धेः खपुष्पवत्।। – आ.पु. 5.31
71. ततो न धर्मः पापं वा परलोकश्च कस्यचित्।
जलबुद्बुदवज्जीवा विलीयन्ते तनुक्षयात्।। – आ.पु. 5.32
तस्माद् दृष्टसुख त्यक्त्वा परलोकसुखार्थिनः।
व्यर्थक्लेशा भवन्त्येते लोकद्वयसुखाच्च्युताः।।
तदेषां परलोकार्था समीहा क्रोष्टु रामिषम्।
त्यक्त्वा मुखागतं मोहान् मीनाशोत्पतनायते।। – आ.पु. 5.33-34

72. पिण्डत्यागाल्लिहन्तीम हस्तं प्रेत्यसुखेप्सया।
विप्रलब्धाः समुत्सृष्टदृष्टभोगा विचेतसः।। – आ.पु. 5.35

73. भूतवादिन् मृषा वक्ति स भवानात्मशून्यताम्।
भूतेभ्यो व्यतिरिक्तस्य चैतन्यस्य प्रतीतितः।। – आ.पु., 5.50

74. कायात्मकं न चैतन्यं न कायश्चेतनात्मकः।
मिथो विरुद्धधर्मत्वात् तयोश्चिदचिदात्मनोः।।
कायचैतन्ययोर्नैक्यं विरोधिगुणयोगतः।
तयोरन्तर्बहीरूपनिर्भासाच्चासिकोशवत्।। – आ.पु. 5.51-52

75. न भूतकार्यं चैतन्यं घटते तद्गुणोऽपि वा।
ततो जात्यन्तरीभावात्तद्विभागेन तद्ग्रहात्।।
न विकारोऽपि देहस्य संविद्भवितुमर्हति।
भस्मादि तद्विकारेभ्यो वैधर्म्यान्मूर्त्यनन्वयात्।। – आ.पु., 5.53-54

76. सर्वाङ्गीणैक चैतन्यप्रतिभासादबाधितात्।
प्रत्यङ्गप्रविभक्तेभ्यो भेतृभ्यः संविदो मिदा।। – आ.पु. 5.56

77. कथं मूर्तिमतो देहाच्चेतन्यमतदात्मकम्।
स्याद्धेतुफलभावो हि न मूर्त्तामूर्त्तयोः क्वचित्।।
अमूर्त्तमक्षविज्ञानं मूर्त्तादक्षकदम्बकात्।
दृष्टमुत्पद्यमानं चैन्नास्य मूर्त्तत्वसङ्गरात्।।
बन्धं प्रत्येकतां बिभ्रदात्मा मूर्त्तेन कर्मणा।
मूर्त्तः कथंचिदाक्षोऽपि बोधः स्यान्मूर्तिमानतः।। – आ.पु. 5.57-59,

78. कायाकारेण भूतानां परिणामोऽन्यहेतुकः।
कर्मसारथिमात्मानं व्यतिरिच्य स कोऽपरः।।
अभूत्वा भवनाद्देहे भूत्वा च भवनात् पुनः।
जलबुदबुद्वज्जीवं मा मंस्थास्तद्विलक्षणम्।। – आ.पु. 5.60-61

79. शरीरं किमुपादानं संविदः सहकारि वा।
नोपादानमुपादेयाद् विजातीयत्वदर्शनात्।। – आ.पु. 5.62
सहकारीति चेदिष्टमुपादानं तु मृग्यताम्।
सूक्ष्मभूतसमाहारस्तदुपादानमित्यसत्।। – आ.पु. 5.63
ततो भूतमयाद् देहाद् व्यतिभिन्नं स्वलक्षणम्।
जीवद्रव्यमुपादानं चैतन्यस्येति गृह्यताम्।। – आ.पु. 5.64

80. एतेनैव प्रतिक्षिप्तं मदिराङ्गनिदर्शनम्।
मदिराङ्गेष्वविरोधिन्या मदशक्तेर्विभावनात्।।
सत्यं भूतोपसृष्टोऽयं भूतवादीकुतोऽन्यथा।
भूतमात्रमिदं विश्वमभूतं प्रतिपादयेत्।। – आ.पु., 5.65-66

81. पृथिव्यादिष्वनुद्भूतं चैतन्यं पूर्वमस्ति चेत्।
नाचेतनेषु चैतन्यशक्तेर्व्यक्तमनन्वयात्।। - आ.पु., 5.67

82. आद्यन्तौ देहिनां देहौ न विना भवतस्तनू।
पूर्वोत्तरे संविदधिष्ठानत्वान्मध्यदेहवत्।। - आ.पु., 5.68

83. तौ देहौ यत्र तं विद्धि परलोकमसंशयम।
तद्वांश्च परलोकी स्यात् प्रेत्यभावफलोपभुक्।। - आ.पु., 5.69

84. जात्यनुस्मरणाज्जीवगतातविनिश्चयात्।
आप्तोक्तिसंभवाच्चैव जीवास्तित्वविनिश्चयः।।

अन्यप्रेरितमेतस्य शरीरस्य विचेष्टितम्।

हिताहिताभिसंधा नाद्यन्त्रस्येव विचेष्टितम्।। - आ.पु., 5.70-71

85. चैतन्यं भूतसंयोगाद् यदि चेत्थं प्रजायते।
पिठरे रन्धनायाधिश्रिते स्यात्तत्समुद्भवः।।

इत्यादिभूतवादीष्टमतदूषणसंभवात्।
मूर्खप्रलपितं तस्य मतमित्यवधीर्यताम्।। - आ.पु. 5.72-73,

86. जीवावादिन्न ते कश्चिज्जीवोऽस्त्यनुपलब्धितः।
विज्ञप्तिमात्रमेवेदं क्षणभङ्गि यतो जगत्।। - आ. पु., 5.38

87. निरंशं तच्च विज्ञानं निरन्वयविनश्वरम्।
वेद्यवेदकसंवित्तिभागैर्भिन्नं प्रकाशते।।

सन्तानावस्थितेस्तस्य स्मृत्याद्यपि घटामटेत्।
संवृत्या स च सन्तानः सन्तानिभ्यो न भिद्यते।। - आ.पु. 5.39-40

88. प्रत्यभिज्ञादिकं भ्रान्तं वस्तुनि क्षणनश्वरे।
यथा लूनपुनर्जातनखकेशादिषु क्वचित्।। - आ.पु., 5.41

89. ततो विज्ञानसन्तान व्यतिरिक्तो न कश्चन।
जीवसंज्ञः पदार्थोऽस्ति प्रेत्यभावफलोपभुक्।।

तदमुत्रात्मनो दुःखजिहासार्थं प्रयस्यतः।
टिट्टिभस्येव भीतिस्ते गगनादापतिष्यतः।। - आ.पु. 5.42-43

90. विज्ञप्तिमात्रसंसिद्धिर्न विज्ञानादिहास्ति ते।
साध्यसाधनयोरैक्यात् कुतस्तत्त्व विनिश्चितिः।। - आ.पु. 5.74

91. विज्ञानव्यतिरिक्तस्य वाक्यस्येह प्रयोगतः।
बहिरर्थस्य संसिद्धिर्विज्ञानं तद्वचोऽपि चेत्।।

किं केन साधितं तत्स्यान्मूर्खविज्ञप्तिमात्रकम्।
कुतो ग्राह्यादिभेदोऽपि विज्ञानैक्ये निरंशके।। - आ.पु. 5.75-76

92. विज्ञप्तिर्विषयाकारशून्या न प्रतिभासते।
प्रकाश्येन विना सिद्ध्यते क्वचित् किन्नु प्रकाशकम्।।

विज्ञप्त्या परसंवित्तेर्ग्रहः स्याद् वा न वा तव।
तद्ग्रहे सर्वविज्ञाननिरालम्बनताक्षतिः।।

तद्ग्रहेऽन्यसंतानसाधने का गतिस्तव।
अनुमानेन तत्सिद्धौ ननु बाह्यार्थसंस्थितिः।। – आ.पु., 5.77-79,

93. विश्वं विज्ञप्तिमात्रं चेद् वाग्विज्ञानं मृषाखिलम्।
भवेद् बाह्यार्थशून्यत्वात् कुतः सत्येतरस्थितिः।।

ततोऽस्ति बहिरर्थोऽपि साधनादिप्रयोगतः।
तस्माद् विज्ञप्तिवादोऽयं बालालपितपेलवः।। – आ.पु., 5.80-81,

94. शून्यमेवजगद्विश्वमिदं मिथ्यावभासते।
भ्रान्तेः स्वप्नेन्द्रजालादौ हस्त्यादिप्रतिभासवत्।। – आ.पु., 5.45

95. ततः कुतोऽस्ति वो जीवः परलोकः कुतोऽस्ति वा।
असत्सर्वमिदं यस्माद् गन्धर्वनगरादिवत्।।

अतोऽमी परलोकार्थं तपोऽनुष्ठानतत्पराः।
वृथैव क्लेशमायान्ति परमार्थानभिज्ञकाः।।

घर्मारम्भे यथा यद्वद् दृष्ट्वा मरुमरीचिकाः।
जलाशयानुधावन्ति तद्वद्भोगार्थिनोऽप्यमी।। – आ.पु., 5.46-48

96. वाग्विज्ञानं समस्तीदमिति हन्त हतो भवान्।
तद्वत्कृत्यस्नस्य संसिद्धेरन्यथा शून्यता कुतः।।

तदस्या लपितं शून्यमुन्मत्त विरुतोपमम्।
ततोऽस्ति जीवो धर्मश्च दयासंयम लक्षणः।। – आ.पु., 5.83-84

97. जीवः प्राणी च जन्तुश्च क्षेत्रज्ञः पुरुषस्तथा।
पुमानात्मान्तरात्मा च ज्ञो ज्ञानीत्यस्य पर्ययाः।। – आ.पु., 24.103

98. यतो जीवत्यजीवीच जीविष्यति च जन्मसु।
ततो जीवोऽयमाम्नातः सिद्धः स्ताद्भूतपूर्वतः।। – आ.पु., 24.104

99. प्राणा दशास्य सन्तीति प्राणीजन्तुश्च जन्मभाक्।
क्षेत्रं स्वरूपमस्य स्यात्ज्ज्ञानात् स तथोच्यते।। – आ.पु., 24.105

100. वही।

101. वही।

102. पुरुषः पुरु भोगेषु शयनात् परिभाषितः। – आ.पु., 24.106

103. पुनात्यात्मानमिति च पुमानिति निगद्यते। – आ.पु., 24.106

104. भवेष्वतति सातत्याद् एतीत्यात्मा निरुच्यते। – आ.पु., 24.107

105. सोऽन्तरात्माष्टकर्मान्तर्वर्तित्वादभिलप्यते। – आ.पु., 24.107

106. ज्ञः स्याज्ज्ञानगुणोपेतो ज्ञानी च तत एव सः।
पर्यायशब्दैरेभिस्तु निर्णयोऽन्यैश्च तद्विधैः।। – आ.पु., 24.108

107. वही।

108. संसारश्चैव मोक्षश्च तस्यावस्थाद्वयं मतम्।
संसारश्चतु रङ्गेऽस्मिन् भवावर्ते विवर्तनम्।। – आ.पु., 24.115;
संसारिणो मुक्ताश्चा – त.सू. 2.10; पंचास्ति. 10;
संसारावास एषोऽस्य चतुर्गतिविवर्त्तनम्। – आ.पु., 42.93; त.सू. 2.10 टीका

109. नि.सा. 49

110. प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार, 7.55-56

111. जीवभव्याभव्यत्वादीनि च। – त.सू. 2.7

112. भव्याभव्यो तथा मुक्त इति जीवस्त्रिधोदितः।
भविष्यत्सिद्धिको भव्यः सुवर्णोपलसंनिभः।। – आ.पु., 24.128

113. योऽनादिकाल संबन्धि शुद्धि समन्वयात्।
भव्यात्मनिर्विशेषोऽपि दीक्षा योगपराङ्मुख।। – आ.पु., 4.88

114. अभव्यस्तद्विपक्षः स्यादन्धपाषाणसंनिभः।
मुक्तिकारणसामग्री न तस्यास्ति कदाचन।। – आ.पु., 24.129

115. कर्मबन्धन-निर्मुक्तस्त्रिलोकशिखरालयः।
सिद्धो निरञ्जनः प्रोक्तः प्राप्तानन्तसुखोदयः।। – आ.पु., 24.130

116. निःशेषकर्मनिर्मोक्षो मोक्षोऽनन्तसुखात्मकः।
सम्यग् विशेषणज्ञानदृष्टि चारित्रसाधनः।। – आ.पु., 24.116

117. आत्मबन्धयोर्द्विधाकरण मोक्षः। – स.सा. 288
निरस्तद्रव्यभाबन्धाः मुक्ताः। – रा.वा. 2.10.2

118. शुद्धचेतनात्मका मुक्ता .... केवलज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणामुक्ताः।
– पं.का.ता.वृ. 109.174.13

119. पञ्चास्ति. 28

120. आ.पु. 11.90, 92, 111; 20.230; 243, 259, 262; 21.10, 37 183; 47.187, 198, 248; जै.द. (न्या.वि.श्री) पृ. 77-78

121. जै.सि. को. भा.2, पृ. 245

122. पं. सं. 1.3

123. जै.द. (न्या.वि.श्री), पृ. 78

124. जै.द. (न्या.वि.श्री.), पृ. 79

125. गो.सा. (जी.का.) गा. 9-10

126. जै.द. (न्या.वि.श्री.) पृ. 78-79

126A. कर्मग्र.भा. 2, (दे.सू.) पृ. 11

127. मिथ्यात्वं विदन् जीवी विपरीतदर्शनो भवति।
न च धर्म रोचते हि, मधुरं खलु रसं यथा ज्वरितः।। — गो.सा.(जी.का.)गा.17

128. सम्यक्त्वरत्नपर्वतशिखरात् मिथ्यात्व भूमि समभिमुखः। त.सू. 1.8 (वि.)
नाशितसम्यक्त्वः सः सासननामा मन्तव्यः।। — गो.सा. (जी.का.) गा. 20

129. दधिगुडमिव व्यामिश्रं, पृथग्भावं नैव कुर्त शक्यम्।
एवं मिश्रकभावः, सम्यग्मिथ्यात्वमिति ज्ञातव्यम्।। — गो.सा. (जी.का.)गा. 22-24

129A. कर्म.ग्र.भा. 2, (दे.सू.) पृ. 23

130. सम्यक्त्वदेशघातेरुदयाद्वेदकं भवेत्सम्यक्त्वम्।
चलं मलिनमगाढं, तन्नित्यं कर्मक्षपणहेतु।। — गो.सा. (जी.का.) गा. 25

सप्तानामुपशमतः उपशमसम्यक्त्वं क्षयात्तु क्षायिकं च।
द्वितीयकषायोदयादसंयतं भवति सम्यक्त्वं च।। — गो.सा. (जी.का.) गा. 26

131. त.सू. (के.मु.) 1.8 टीका; जै.द. (न्या.वि.श्री.) पृ. 85

131B. कर्म ग्र.भा. 2, (दे.सू.) पृ. 25

132. आ.पु., 21.37

133. त.सू. (के.मु.) 1.8 टीका

134. जै.द. (न्या.वि.श्री.) पृ. 85

135. कर्म ग्र.भा. 2, (दे.सू.) पृ. 27; नि.प्र., 18.17 (भाष्य) (श्री.शो.भा., न्या.ती.) पृ. 684

136. आ.पु., 11.92

137. त.सू. (के.मु.) 1.8 टीका

138. आ.पु. 20.243

139. नि.प्र. (श्री शो.भा.न्या.ती.) 18.17 भाष्य, पृ. 685

140. आ.पु. 11.90

141. नि.पु. (शो.भा.न्या.वि.) 18.17 भाष्य, पृ. 87

142. आ.पु. 20.260

143. त.सू. (के.मु.) 1.8 टीका;
नि.प्र. (शो.भा.न्या.ती.) 18.17 भाष्य पृ. 688

144. त.सू. (के.मु.), 1.8 टीका

145. आ.पु. 20.262

146. त.सू. (के.मु.) 1.8 टीका

147. जै.द. (न्या.वि.श्री), पृ. 87-88

148. आ.पु. 47.187

149. जै.द. (न्या.वि.श्री.) पृ. 88

150. आ.पु. 44.187;
घातिकर्मत्रय हत्वा सम्प्राप्तनवकेवलः।
सयोगस्थानमाक्रम्य वियोगो वीतकल्मषः।। – आ.पु., 47.248; त.सू. 1.8 वि.

151. त.सू. (के.मु.) 1.8 टीका

152. जै.द. (न्या.वि.श्री) पृ. 84; त.सू. 1.8 वि.
त्रयोदशास्य प्रक्षीणाः कर्माशाश्चरमे क्षणे।
द्वासप्ततिंरुमान्ते स्युरयोगपरमेष्ठिनः।। – आ.पु., 21.198

153. जै.द. (न्या.वि.श्री.) पृ. 94; त.सू. 1.8 वि.; आ.पु. 21.198

154. कर्म वि.भा. 5, (दे.मु.) पृ. 199; टिप्पण संख्या-1
(क) कर्म ग्र. (भा.4) पृ. 11
(ख) धवला, 1.1.1.2
(ग) षट्खण्ड 13.5.5.38
(घ) यकाभिः यासु वः जीवाः मृग्येत सा मार्गणाः। – गो.सा. (जी.का.) गा. 141

155. तस्येमे मार्गणोपाया गत्यादय उदाहृताः।
चतुर्दशगुणस्थानैः सोऽत्र मृग्यः सदादिभिः।। – आ.पु., 24.94

156. गतीन्द्रिये च कायश्च योगवेदकषायकाः।
ज्ञानसंयमदृग्लेश्या भव्यसम्यक्त्वसञ्ज्ञिनः।।

सममाहारकेण स्युः मार्गणस्थानकानि वै।
सोऽन्वेष्य स्तेषु सतसङ्ख्याद्यनुयोगैर्विशेषतः।। – आ.पु., 24.95-96

157. गो.सा. (जी.का.) गा. 146 (भावार्थ)

158. गत्युदयजपर्यायः चतुर्गतिगमनस्य हेतुर्वा हि गतिः।
नारकतिर्यग्मानुषदेवगतिरिति च भवेत् चतुर्धा।। – गो.सा. (जी.का.) गा. 146

159. न रमन्ते यतो नित्यं द्रव्ये क्षेत्रे च कालभावे च।
अन्योन्यैश्च यस्मात्तस्मात्ते नारता भणिताः।। – गो.सा.(जी.का.)गा.147भावार्थ

160. तिरोञ्चन्ति कुटिलभावं सुविबृतसंज्ञा निकृष्टमज्ञानाः।
अत्यन्तपापबहुलास्तस्मात्तैरश्चका भणिताः।। – गो.सा. (जी.का.) गा. 148

161. कर्म. वि. (भा. 5) आ.दे.मु. पृ. 206

162. मन्यन्ते यतो नित्यं मनसा निपुणा मनसोत्कटा यस्मात्।
मनूदभवाश्च सर्वे तस्मात्ते मानुषा भणिताः।। – गो.सा. (जी.का.) गा. 149

163. दीव्यन्ति यतो नित्यं गुणैरष्टाभिर्दिव्यभावैः।
भासमानदिव्यकायाः तस्मात्ते वर्णिता देवाः।। – गो.सा. (जी.का.) गा. 151

164. कर्म. ग्र. (दे.सू.) भा. 4. पृ. 100

165. वही, पृ. 107

166. वही।

167. कर्म. ग्र. (दे.सू.) भा. 4, पृ. 107

168. वही, पृ. 108

169. वही।

170. मृदुपाणितले स्पर्श रसगन्धौ मुखाम्बुजे।
शब्दमालपिते तस्याः तनौ रूपं निरुपयन्।। – आ.पु., 8.11; 36.130

171. कर्म. ग्र. (दे.सु.) भा. 4, पृ. 108

172. जात्यविनाभावित्रसस्थावरोदयजो भवेत् कायः।
स जिनमते भणितः पृथ्वीकायादिषड्भेदः।। – गो.सा. (जी.का.) गा. 181

173. स्था.सू., 1.1.53 (विवेचनिका); कर्म ग्र. (दे.सू.) भा. 4, पृ. 108

174. वही।

175. वही।

176. वही।

177. वही।

178. वही

179. जै.ध. (सु.मु.) पृ. 78

180. त.सू. (के.मु.) 2.14 (वि.); कर्म ग्र. (दे.सू.) भा. 4, पृ. 109

181. कर्म.ग्र. (भा. 4) पृ. 109; त.सू. (के.मु.) 2.14 वि.

182. वही।

183. कर्म.ग्र. (भा.4) स्वो. वृ.पृ. 127

184. पुद्गलविपाकिदेहोदयेन मनोवचनःकाययुक्तस्य।
जीवस्य या हि शक्तिः कर्मागमकारणं योगः।।
मनोवचनयोः प्रवृत्तयः सत्यासत्योभयानुभयार्थेषु।
तन्नाम भवति तदा तैस्तु योगात् हि तद्योगाः।।
– गो.सा.(जी.का.)गा. 216-217

185. त.सू. (के.मु. 7.1) विवेचन

186. कर्म.ग्र. (दे.सू.) भा. 4, स्वो.टी, पृ. 101

187. जै.सि.को. भा. 3, पृ. 583; कर्म ग्र. (दे.सू.) भा. 4, पृ. 101

188. कर्म ग्र. (दे.सू.) भा. 4, पृ. 113

189. सुखदुःखसुबहुसस्यं कर्मक्षेत्रं कृषति जीवस्य।
संसारदूरमर्यादं तेन कषाय इतीमं ब्रुवन्ति।। – गो.सा.(जी.का.)गा. 282;
कर्म. ग्र. (दे.सू.) भा. 4, पृ. 113;

स्था.सू. 4.1.15 (विवेचनिका)

190. स्था.सू. 4.1.15 (विवेचनिका)

191. कषायवैरिणस्तीव्रान् क्रोधादीन् विनिवर्तयन् – आ.पु. 21.92

192. स्था.सू. 1.1.50 विवेचनिका।

193. वही।

194. वही।

195. स्था.सू. 1.1.50 विवेचनिका

196. (क) जानाति त्रिकालविषयान् द्रव्यगुणान् पर्यायांश्च बहुभेदान्।

– गो.सा. (जी.का.) गा. 299

(ख) सामान्य-विशेषात्मके वस्तुति विशेषग्रहणात्मको बोध इत्यर्थः।

–कर्म.ग्र. भा. 4, स्वो.टी., पृ. 127

197. कर्म.वि. (आ.दे.मु.), भा. 5, पृ. 210

198. कर्म.ग्र. (दे.सू.) भा. 4, पृ. 129

199. स्था.सू. 5.3.78 (वि.); कर्म ग्र. (दे.सू.) भा. 4, पृ. 117

200. वही।

201. वही।

202. स्था.सू. 5.3.78 (वि.); कर्म ग्र.(दे.सू.) भा. 4, पृ. 117

203. वही।

204. कर्म.ग्र. (भा.4) स्वो.टी. पृ. 127;

व्रतसमितिकषायाणां दण्डानां तथेन्द्रियाणां पंचानाम्।
धारणपालननिग्रहत्यागजयः संयमो भणितः।। – गो.सा. (जी. का.) गा. 465;
कर्म. ग्र. (दे.सू.) भा. 4, पृ. 102

205. कर्म.वि. भा. 5 (आ.दे.मु.) पृ. 212; कर्म ग्र. (दे.सू.) भा. 4, पृ. 120

206. वही।

207. अप्रतिक्रमणे धर्मे जिनाः सामायिकाह्वये।
चरन्त्येकयमे प्रायरचतुर्ज्ञानविलोचनाः।। – आ.पु. 20.171

208. कर्म वि. (भा. 5), पृ. 212; कर्म ग्र. (दे.सू.) भा. 4 पृ. 120

209. कर्म.ग्र. (भा. 4), स्वो.टी. पृ. 130;
पंचाशक प्रकरण 17, आ.हरि.वृत्ति पृ. 790; कर्म ग्र. (दे.सू.) भा. 4 पृ. 120

210. कर्म.ग्र. (पं.सु.ला) भा.4, गा.12, वि;
कर्म.ग्र. (भा. 4), स्वो.टी. पृ. 130; कर्म ग्र. (दे.सू.) भा. 4 पृ. 120

211. स्था.सू. 5.2.43 (वि.)

212. स्था.सू. 5.2.43 (वि.)

213. वही।

214. पं.सं. 1.33;
कर्म. ग्र. - भा. 4, स्वो.टी.पृ. 137; कर्म ग्र. (दे.सू.) भा. 4 पृ. 126

215. पं.सं. 1.33;
कर्म.ग्र. - (दे.सू.) भा. 4, पृ. 129

216. वही, पृ. 127;
स्याद् मं., 1.10.22;
यत् सामान्यं ग्रहणं भावनां नैव कृत्वाकारम्।
अविशेष्यार्थान् दर्शनमिति भण्यते समये।। – गो.सा. (जी.का.) गा. 482

217. कर्म वि. (दे.मु.) भा. 5, पृ. 216; कर्म ग्र. (दे.सू.) भा. 4 पृ. 129

218. पं. सं. 139;
कर्म.ग्र. (दे.सू.) भा. 4, पृ. 137;
भावानां सामान्य-विशेषकानां स्वरूपमात्रं यत्।
वर्णनहीनग्रहणं जीवेन च दर्शनं भवति।। – गो.सा (जी.का.) गा. 483

219. आ.पु. 11.109

220. नि.प्र. 12.1 (भाष्य)

221. लिंपत्यात्मीकरोति एतया निजापुण्यपुण्यं च।
जीव इति भवति लेश्या लेश्यागुणज्ञायकाख्याता।। – गो.सा. (जी.का.) गा. 489

222. ध. 1.1, 1, 4.149.6; जै.सि.को. (भा. 3)

223. ध. 8.3.273; 356.4; जै.सि.को. (भा. 3) पृ. 436 कर्म ग्र. (दे.सू.) भा. 4 पृ. 103

224. स.सि. 2.6.159.10; जै.सि.को. (भा. 3) पृ. 436 कर्म ग्र. (दे.सू.) भा. 4 पृ. 103

225. शरीर नामोदया पादिता द्रव्य लेश्या। – रा.वा. 9.7.11.604.13

226. वर्णोदयेन जनितः शरीरवर्णस्तु द्रव्यतो लेश्या।
सा षोढा कृष्णादिः अनेकभेदा स्वभेदेन।। – गो.सा. (जी.का.) गा. 494

227. कृष्णा नीला कापोता तेजः पद्मा च शुक्ललेश्या च।
लेश्यानां निर्देशाः षट् चैव भवन्ति नियमेन।। – गो.सा. (जी.का.) गा. 493

228. पं.सं. प्रा. 1.183-184; ध. 16.1-2.485

229. जै.सि.को. (भा. 3), पृ. 436

230. गो.सा. (जी.का.) गा. 490

231. स.सि.-2.6.159.12; द्र.सं. 13.38 (टीका); पं.सं. प्रा. 1.144-145;
चण्डो न मुञ्चति वैरं भण्डनशीलश्च धर्मदयारहितः।
दुष्टो न चेति वशं लक्षणमेतत्तु कृष्णस्य।। – गो.सा. (जी.का.) गा. 509,

232. आ.पु. 18.9

233. मन्दो बुद्धिविहीनो निर्विज्ञानी च विषयलोलश्च।
मानी मायी च तथा आलस्यश्चैव भेद्यश्च।।

निन्दा वञ्चनबहुलो धनधान्ये भवति तीव्रसंज्ञश्च।
लक्षलमेतद् भणितं समासतो नीललेश्यस्य।। – गो.सा. (जी.का.) गा. 510-511

234. रुष्यति निन्दति अन्यं दुष्यति बहुशश्च शोकभयबहुलः।
असूयति परिभवति परं प्रशंसति आत्मानं बहुशः।।

न च प्रत्येति परं स आत्मानमिव परमपि मन्यमानः।
तुष्यति अभिष्टुवतो न च जानाति हानिवृद्धी वा।।

मरणं प्रार्थयते रणे ददाति सुबहुकमपि स्तूयमानस्तु।
न गणयति कार्याकार्यं लक्षणमेतत्तु कापोतस्य।। –गो.सा.(जी.का.)गा. 512-514

235. पंच. सं. 1.150;
रा.वा. 4.22.10.239.29;
जानाति कार्याकार्यं सेव्यमसेव्यं च सर्वसमदर्शी।
दयादानरतश्च मृदुः लक्षणमेतत्तु तेजसः।। – गो.सा. (जी.का.) गा. 515

236. पंच. सं., 1.151;
त्यागी भद्रः सुकरः उद्युक्तकर्मा च क्षमते बहुकमपि।
साधुगुरुपूजनरतो लक्षणमेतत्तु पद्मस्य।। – गो.सा. (जी.का) गा. 516

रा.वा. 4.22.10; 239.31

237. आ.पु. 11.141; 20.231;

पंच सं. 1.152;

न च करोति पक्षपातं नापि च निदानं समश्च सर्वेषाम्।
न स्तः च रागद्वेषौ स्नेहीऽपि च शुक्ललेश्यस्य।। – गो.सा. (जी.का.) गा. 517

238. आ.पु. 18.9

239. जै.सि.को. (भा. 3) पृ. 434

240. स्था.सू. 2.2.45

241. (क) षट्पञ्चनवविधानामर्थानां जिनवरोपदिष्टानाम्।
आज्ञया अधिगमेन च श्रद्धानं भवति सम्यक्त्वम्।। – गो.सा. (जी.का.) गा. 561

(ख) कर्म. ग्र. (भा. 4), स्वो.टी. पृ. 127; कर्म ग्र. (दे.सू.) भा. 4 पृ. 103; पंच संग्रह 165

242. (क) कर्म ग्र. (दे.सू.) भा. 4, गा. 13; वि.पृ. 134-137

243. शमाद् दर्शनमोहस्य सम्यक्त्वादानमादितः।
जन्तोरनादिमिथ्यात्वकलङ्ककलि लात्मनः।। – आ.पु., 9.117

244. गो.सा. (जी.का.) गा. 646; आ. पु. 14.183; 25.95; कर्म ग्र. (दे.सू.) भा. 4 पृ. 133-134

245. (क) कर्म ग्र. (दे.सू.) भा.4, गा. 13 वि. पृ. 134-137
(ख) कर्म ग्र. (प.सु.ला.) भा. 4, गा. 13 वि. (प.सु.) पृ. 66-67
(ग) पं.सं. 1365

246. कर्म ग्र.(दे.सू.) भा. 4, गा. 13-14; पं. सं. 1365

247. जै.सि.को. (भा. 4) पृ. 722; कर्म ग्र. (दे.सू.) भा. 4, गा. 14

248. स्था.सू. 2.2.45 (वि.)

249. कर्म.ग्र. (दे.सू.) भा. 4, गा.14

250. कर्म. ग्र. भा. 4, स्वो. टी. पृ.128

251. कर्म ग्र. (दे.सू.) भा.4 गा. 13-14

252. स्था.सू. 2.2.45 (वि.)

253. आ.पु. 24.95-96

254. वि.भा.वृ. (म.आ.हे.) पृ. 1

255. जै.आ.सा.म. और मी. (आ.दे.मु.) पृ. 330

256. सत्सङ्ख्या क्षेत्रसंस्पर्श काल भावान्तरैरयम्।
बहुत्वाल्पत्वतश्चात्मा मृग्यः स्यात् स्मृतिचक्षुषाम्।। – आ.पु. 24.97;
सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तर भावाल्पबहुत्वैश्च। – त.सू. (के.मु.) 1.8 (वि.)

257. वही।

258. त.सू. (के.मु.) 1.8 (वि.)

259. वही।

260. वही।

261. वही।

262. वही।

263. भावः चित्परिणामः - गो.सा. (जी.का.) गा. 165 (भावार्थ)

264. जै.सि.को. (भा. 3), पृ. 229

265. भावः क्षयोपशमजस्तस्य स्यात्क्षायिकोऽथवा। – आ.पु. 1.123

266. त.सू. (के.मु.) 1.8 (वि.)

267. त.सू. (के.मु.) 2.1 (वि.)

268. वही।

269. वही।

270. वही।

271. तस्यौपशमिको भाव: क्षायिको मिश्र एव च।
स्व तत्त्वमुदयोत्थश्च पारिणामिक इत्यपि।। – आ.पु. 24.99
272. त.सू. (सु.ला.सं.) 1.8 (टी.)
273. त.सू. (के.मु.) 1.8 (वि.)
274. न्या.द. 3.2.6, 3.2.19
275. स.सि. 9.36.191.4
276. जै.सि.को. भा. 3, पृ. 527
277. स.सि. 8.11.389.6
278. औदारिक वैक्रियाऽहारक तैजस कार्मणानि शरीराणि। – त.सू. 2.37
279. स्था.सू. 5.1.8 वि.;
त.सू. (के.मु.) 2.37 वि.
280. स्था. सू. 5.1.8 (वि.)
281. स्था.सू. 5.1.8 (वि.)
282. आणिमादिगुणै: श्लाघ्यां दधद्वैक्रियिकीं तनुम्- आ.पु. 11.134
283. आहारक शरीरं यन्निरलंकारभास्वरम्। – आ.पु. 11.158
284. स.सि. 2.36.191.7; स्था. सू. 5.8 (वि.)
285. ध. 1.1, 1, 56.164.294
286. स्था.सू. 5.1.8 (वि.); जै.सि.को. भा. 2, पृ. 393
287. वही
288. ध. 14.5, 6, 240.327.13
289. त.सू. (के.मु.) 2.37 (टीका)
290. आ.पु. 47.249
291. जै.सि.को, (भा. 2) पृ. 75
292. परं परं सूक्ष्मम्। – त.सू. 2.38
293. अप्रतीघाते। अनादि सम्बन्धे च। – त.सू. 2.41-42;
सर्वस्य। तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्या चतुर्भ्य:। – त.सू. 2.43-44
294. जै.द. (मो.ला.मे.) पृ. 194

तृतीय अध्याय

आदिपुराण में नरक-स्वर्ग विमर्श

नरक एवं स्वर्ग

आकाश एक अखण्ड द्रव्य है। धर्म एवं अधर्म द्रव्यों के कारण लोक एवं आलोक रूप से आकाश द्रव्य विभक्त हो जाता है। इन्हीं दो तत्त्वों (द्रव्यों) के कारण यह लोकाकाश अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्व लोक इन तीन भागों में विभक्त हो जाता है।

अधस्तिर्यगुपर्याख्यैस्त्राभिर्भेदैः समन्वितः। — *आ.पु. 4.40*

अधोलोक का आकार स्वभाव से वेत्रासन के समान है। नीचे से विस्तृत और ऊपर सकड़ा हुआ है। मध्यम लोक झल्लरी के समान सब ओर फैला हुआ है और ऊर्ध्वलोक मृदंग के समान बीच में चौड़ा और दोनों भागों में सकड़ा है अथवा दोनों पाँव फैलाकर और कमर पर दोनों हाथ रखकर खड़े हुए पुरुष का जैसा आकार होता है, लोक का भी वैसा ही आकार मानते हैं। यह लोक तालवृक्ष के आकार वाला है।[1] आदिपुराण में वर्णित जीव पाप कर्मों का फल भोगने के लिए जिस गति (योनि) में पैदा होता है उस स्थान का क्या कहा जाता है? क्या-क्या दुःख भोगे जाते हैं। उस अधोलोक का विस्तृत वर्णन इस प्रकार है।

नरक और उसके प्रकार

नरक (अधोलोक)

अतीत के अशुभ योगों में पापाचरण करने वाले जीव अपने ही कृतपापों के फल भोगने के लिए अधोवर्ती लोकों के जिन-स्थानों में उत्पन्न होते हैं वे नरक कहलाते हैं।

प्रचुर रूप से पाप कर्मों के फलस्वरूप अनेकों प्रकार के असह्य दुःखों को भोगने वाले जीव विशेष नारकी कहलाते हैं। उनकी गति को नरक गति

कहते हैं और उनके रहने का स्थान नरक कहलाता है। जो शीत, ऊष्ण, दुर्गन्धि आदि असंख्य दु:खों की तीव्रता का केन्द्र होता है, वहाँ पर जीव बिलों अर्थात् सुरंगों में उत्पन्न होते हैं, वे वही निवास करते हैं और परस्पर में एक- दूसरे को मारने-काटने आदि के द्वारा दु:ख भोगते रहते हैं।[2]

यथार्थ में जीव द्वारा किये गये दुष्कृत्यों अर्थात बुरे कर्मों का जहाँ फल भोगा जाता है, उस फल भोगने वाले स्थान का नाम ही नरक है।[3] अथवा धर्मशास्त्र के अनुसार नरक वह स्थान है जहाँ पापियों अर्थात् घोर पाप कर्म करने वाली आत्माओं को अपने द्वारा किये अशुभ परिणामों का फल भोगने के लिए जाना पड़ता है, वह नरक है।

जो जीवों को शीत, ऊष्ण (गर्मी-सर्दी) आदि तीव्र वेदनाओं अर्थात् घोर यातनाओं से आकुल व्याकुल कर दें, वह स्थान को नरक की संज्ञा दी जाती है। अथवा पापी जीवों को अत्यान्तिक दु:खों की प्राप्ति कराने वाला स्थान ही नरक है।[4]

नरकों की संख्या

मध्यलोक के नीचे का प्रदेश अधोलोक कहलाता है इसमें क्रमश: नीचे नीचे सात पृथ्वियाँ हैं जो सात नरकों के नाम से जानी जाती है। ये भूमियाँ एक दूसरे से नीचे हैं। परन्तु एक-दूसरे से सटी हुई नहीं है। नरकों को पृथ्वियाँ या भूमियाँ भी कहा जाता है। सात नरकों के नामोल्लेख इस प्रकार कहे गये हैं-

1. रत्नप्रभा 2. शर्कराप्रभा 3. बालुकाप्रभा 4. पङ्कप्रभा 5. धूमप्रभा 6. तम: प्रभा 7. महातम: प्रभा।[5]

उक्त प्रकार के सातों नरक क्रमश: धम्मा, वंशा, शिला, अंजना, अरिष्टा, मधवी और माधवी नामों से भी विख्यात है।[6]

1. रत्नप्रभा

विविधरत्नों की प्रधानता के कारण इस पृथ्वी को रत्नप्रभा कहा जाता है। रत्नप्रभा पृथ्वी काले रंग वाले भयंकर रत्नों से व्याप्त होने के कारण इस पृथ्वी का नाम रत्नप्रभा पड़ा[7] अथवा जिसकी प्रभाव चित्र आदि रत्नों की प्रभा के समान है, वह रत्नप्रभा भूमि है।[8]

रत्नप्रभा के तीन काण्ड (भाग) हैं-

1. खर भाग 2. पंक भाग 3. अब्बहुल भाग।

1. खर भाग या खर काण्ड – खर काण्ड में अनेक प्रकार के नुकीले भयंकर रत्न हैं। इसलिए इसका नाम खर भाग पड़ा। इसकी मोटाई 16,000 योजन है।

2. पंक बहुल भाग – पंक बहुल काण्ड में अत्यधिक कीचड़ है। इसलिए इसका नाम पंक बहुल भाग पड़ा। इसकी मोटाई 84000 योजन है।

3. अप् बहुल भाग – इसका नाम अब्बहुल भाग भी है। इस काण्ड में दुर्गन्धित जल की अधिकता है। इसलिए इसका नाम अप् बहुल भाग पड़ा। इसकी मोटाई 80000 योजन है।

इस प्रकार रत्नप्रभा भूमि की मोटाई 1 लाख 80 हजार योजन है। इसमें ऊपर और नीचे के एक-एक हजार योजन छोड़कर शेष 1,78,000 योजन में 13 पाथड़ें यानि पृथ्वीपिण्ड हैं और 12 आन्तरें अथवा रिक्त स्थान है। इस प्रकार 13 मंजिल जैसा भवन है। पाथड़ों में नरकावास है। इन नरकावासों की संख्या 30 लाख है आन्तरों में पहले दो आन्तरें रिक्त अर्थात् खाली है और शेष 10 में भवनपति देवों के निवास हैं।[9]

2. शर्कराप्रभा

शर्कराप्रभा भूमि भाले और बरछी से भी अधिक तीक्ष्ण शूल जैसे कंकरों से भरा है। कंकरों का दूसरा नाम शर्करा है। इसलिए इसका नाम शर्कराप्रभा पड़ा। इस भूमि की मोटाई एक लाख 32 हजार योजन है। इसमें 11 पाथड़े और 12 आन्तरे हैं। इन भूमि की पाथड़ों में 25 लाख नरकावास हैं।[10]

3. बालुका प्रभा

इस पृथ्वी में भाड़ की तपती हुई गर्म बालु से भी अधिक उष्ण बालु है। इसलिए इस पृथ्वी को बालुका प्रभा नाम की संज्ञा दी गई है। इस भूमि की मोटाई 1 लाख 28 हजार योजन है। इसमें 9 पाथड़े और 8 आन्तरें हैं। इसमें 15 लाख नरकावास हैं।[11]

4. पंकप्रभा पृथ्वी

इस भूमि में रक्त, मांस, पीव आदि दुर्गन्धित पदार्थों का कीचड़ भरा है। इसलिये इसे पंकप्रभा (कीचड़) पृथ्वी कहते हैं। इस भूमि की मोटाई 1 लाख 20 हजार योजन है। इसमें 7 पाथड़े और 6 आन्तरें हैं। इसमें 10 लाख नरकावास हैं।[12]

5. धूमप्रभा पृथ्वी

इस पृथ्वी में मिर्च आदि के धुएँ से भी अधिक तेज दुर्गन्ध वाला धुआँ व्याप्त रहता है। इसी कारण इस पृथ्वी का नाम धूमप्रभा पड़ा। इस भूमि की मोटाई 1 लाख 18 हजार योजन है। इसमें 5 पाथड़े और 4 आन्तरें हैं। इसमें 3 लाख नरकावास हैं।[13]

6. तमः प्रभा पृथ्वी

इस पृथ्वी में हमेशा अन्धकार ही छाया रहता है। इसी कारण इस पृथ्वी का नाम तमप्रभा पड़ा। इस भूमि की मोटाई 1 लाख 16 हजार योजन है। इसमें 3 पाथड़े और 2 आन्तरे हैं। इसमें 5 कम एक लाख नरकावास हैं।[14]

7. महातमः प्रभा पृथ्वी

इस पृथ्वी में घोरातिघोर अन्धकार छाया रहता है। इसी कारण इस पृथ्वी का नाम महातमः प्रभा पृथ्वी पड़ा। इस भूमि की मोटाई 1 लाख 8 हजार योजन है। इसमें एक ही पाथड़ा है, इसलिये आन्तरा नहीं है। इसमें 5 नरकावास हैं। सातों नरकभूमियों में कुल नरकवासों की संख्या 84 लाख हैं। इनमें घोर पापी जीव तीव्रातितीव्र वेदना भोगते हैं।[15]

नरक में जाने के हेतु

नरक में जाने के निम्नलिखित हेतु कहे गये हैं - हिंसा करने से, सदा झूठ बोलने से, चोरी करने से, परस्त्री से भोग विलास करने से, शराब पीने से अर्थात् शराब पीने से मन विकारी हो जाता है। मन में बुरे भाव जागृत होते हैं और जीव बुरी आदतों का शिकार हो जाता है फिर बुरे कार्य करता है।

मिथ्यादृष्टि जीव भी नरक में जाते हैं अर्थात् भगवान की वाणी पर श्रद्धा न रखने से, अधिक क्रोध करने से, मन को सदा रौद्रध्यान में लगाने से, पापकारी कार्य करने से (जीवों का वध), वस्तुओं के प्रति अधिक आसक्ति भाव अर्थात् परिग्रह में मूर्च्छा भाव रखने से, केवली प्ररूपित धर्म का विरोध और अधर्म में विश्वास रखने से[16], साधुओं (त्यागी, तपस्वी आत्माओं) की निन्दा चुगली करने से, पंचेन्द्रिय प्राणियों की (मछली, बकरी, मुर्गी) हिंसा करने से, व्यापार करने से, माँसाहार करने से, हिंसा करने वाले जीवों को पालने से (कुत्ता, बिल्ली आदि) जो स्वयं मांस भक्षण करते है। दूसरों को खाने की प्रेरणा देते हैं। पंच महाव्रतों का पालन करने वाले सन्तजनों पर क्रोध आदि

करने से सभी जीव नरक में जाते हैं। पापकर्मों से भारी आत्माएँ नरक में अपने किये दुष्कर्मों का फल भोगने के लिए नरक में जाती है। नरक से अधिक दु:ख इस संसार में कहीं भी नहीं है। नरक से अधिक दु:ख इस संसार में कहीं भी नहीं है।[17]

श्वेताम्बर परम्परा के स्थानाङ्ग सूत्र में नरक में जाने के चार निम्नलिखित कारण कहे गये हैं–

1. महारम्भ, 2. महापरिग्रह, 3. पञ्चेन्द्रियवध, 4. कुणिमाहार।

1. **महारम्भ** – जीवन व्यवहार के ऐसे साधन जिन साधनों के मूल में हिंसा-कर्म की अधिकता होती है। जो कर्म जितना हिंसा-प्रधान है वह जीव को उतना ही अधिक पतन की ओर ले जाता है। जीवन साधन दो प्रकार के हैं-एक वे जिनमें हिंसा की जाती है, और दूसरे वे जिनमें हिंसा हो जाती है। जिनमें हिंसा की जाती है, ऐसे कर्म ही महारम्भ कहलाते हैं।

2. **महापरिग्रह** – परिग्रह का अर्थ है भौतिक पदार्थों का संचय। जीवन-व्यवहार उन्हीं पदार्थों पर ही तो निर्भर है। संचय बुरा नहीं संचित पदार्थों के प्रति अत्यधिक आसक्ति और अधिक से अधिक प्राप्त करने की लालसा बुरी है, क्योंकि आसक्ति एवं लालसा के बढ़ते ही मनुष्य भक्ष्य-अभक्ष्य, गम्य-अगम्य, हेय-उपादेय के विवेक को खो देता है। विवेक खोने पर व्यक्ति अधिक परिग्रह इकट्ठा करने में लग जाता है जो जीव को नरकगामी बनाता है।

3. **पञ्चेन्द्रियवध** – यद्यपि एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय आदि सभी जीवों का वध निषिद्ध है, पाप कहा गया है परन्तु शास्त्रकार ने केवल पञ्चेन्द्रिय-वध को ही नरक का कारण कहा है, वह इसलिये कि पञ्चेन्द्रिय जीवों को मनुष्य मारते हैं, शिकार करते हैं, स्वपोषण के लिये उनके माँस का आहार करते है, अत: उन्हें मारा जाता है, मारने की भावना होती है। अन्य जीव चलते-फिरते भी मर जाते हैं, परन्तु उसमें उनको मारने की भावना नहीं होती, अत: भावना-विहीन मारने की क्रिया को नरक का कारण नहीं बताया गया। नरक का कारण है स्वार्थों की पूर्ति के लिये देव आदि के नाम पर उनका बलिदान, उनके माँस का व्यापार आदि, शिकार करना, माँस भक्षण करना इत्यादि कारण कहे गये हैं।

4. **कुणिमाहार** – कुणिम शब्द का अर्थ है मृत प्राणी का शरीर। कुछ लोगों का कहना है कि प्राणियों को मारना पाप है परन्तु मरे हुए या अन्य द्वारा मारे हुए या बाजार में बिकते हुए माँस को खाने से तो कोई हिंसा नहीं होती

अत: वह क्यों मना है। शास्त्रकार कहते हैं कि शव-भक्षण भी नरक गति का कारण है पशु स्वयं मरा हो, मारा गया हो दोनों दशाओं में उसका मृत शरीर कुणिमा है और कुणिमा भक्षण भी नरक गति का कारण है। शरीर शास्त्र का यह नियम है कि मृत शरीर में शीघ्र ही अनेक प्रकार के कीटाणु उत्पन्न हो जाते हैं। शव-भक्षण भक्षण ही नहीं उसके साथ अनन्त जीवों का भक्षण है। मांस भक्षण सब बुराइयों की जड़ है। इसलिए कुणिमाहार को नरक का कारण माना है।[18]

कौन से जीव नरक में जाते हैं

स्वभाव से निर्दयी क्रूर जीव नरक में जाते हैं। जलचर (जल में विचरण करने वाले जीव) मछली आदि मर कर नरक में उत्पन्न होते हैं। थलचर (पृथ्वी पर रहने वाले) मनुष्य, पशु-पक्षी आदि जीव नरक में जाते हैं। सर्प, सरीसृप आदि जीवों की उत्पत्ति नरक में होती है। पाप करने वाली दुराचार स्त्रियाँ, माँस भक्षण करने वाले क्रूर पक्षियों की गति नरक की है, क्रोधी माँसाहारी पशु नरक में जाते है, घोर पाप करने वाले मनुष्य भी नरक में जाते हैं।[19]

कौन से जीव कौन-सी नरक में जाते हैं

असन्नी पंचेन्द्रिय जीव धम्मा नामक नरक में उत्पन्न होते हैं। वे दूसरे, तीसरे आदि नरक भूमि में उत्पन्न नहीं होते। सरीसृप – सरकने वाले गुहा गिरगिट आदि दूसरी नरक में उत्पन्न होते हैं। पक्षी तीसरी पृथ्वी तक ही उत्पन्न होते हैं। सर्प अर्थात् छाती के बल चलने वाले प्राणी चौथी नरक तक पैदा होते हैं। अर्थात् पहली से चौथी नरक तक उत्पन्न होते हैं। सिंह, हाथी आदि पाँचवीं नरक तक उत्पन्न होते हैं। इससे आगे उत्पन्न नहीं होते। अर्थात् पहली से पाँचवीं नरक तक उत्पन्न हो सकते हैं। स्त्रियाँ छठी नरक तक जा सकती है, इसकी आगे की नरकों में नहीं। मनुष्यों में घोर हिंसा करने वाले पापी मनुष्य और तिर्यंचों में मत्स्य, मगरमच्छादि प्राणी सातवीं नरक में उत्पन्न होते हैं। अर्थात् प्रथम नरक से सातवें नरक तक उत्पन्न हो सकते हैं।[20]

नरक में जीवों की उत्पत्ति

सातों पृथ्वियों में से जिस पृथ्वी में नारकी जीवों ने उत्पन्न होना होता है। वे जिस प्रकार मधु-मक्खियों के छत्ते में मक्खियाँ लगी होती हैं उसी प्रकार नारकी मधु-मक्खियों के समान लटके हुए घृणित स्थानों में नीचे की ओर मुख करके अपने पापकर्म के उदय से अन्तर्मुहूर्त (48 मिनट) में ही अत्यन्त

दुर्गन्धित, घृणित-देखने में अयोग्य और बुरी आकृति वाले शरीर की पूर्ण रचना करके नरक में उत्पन्न होते हैं।[21]

जब नारकी के शरीर की रचना अर्थात् पाँचों इन्द्रियाँ – श्रोत, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्शन और छह पर्याप्तियाँ - आहार, शरीर, इन्द्रिय, भाषा, मन, श्वासोच्छ्वास यह छः पर्याप्तियाँ पूर्ण हो जाती है तब नारकी वृक्ष से गिरे पत्ते के समान, अग्नि की तरह जलती हुई भूमि पर गिरते हैं।[22]

जिस भूमि पर नारकी गिरते हैं वहाँ अनेक तीक्ष्ण शस्त्र गड़े हुए होते हैं। नारकी उन तीक्ष्ण हथियारों की नोक पर गिरते ही उनके शरीर के सभी अंग छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। इस दुःख से दुःखी होकर पापी आत्माएँ विलाप करती हैं।[23]

नरक में नारकी जीवों की वेदनाएँ

नरक में नारकी जीवों को तीन प्रकार की वेदना भोगनी पड़ती है–

1. क्षेत्रजन्य वेदना।
2. परस्पर वैर जन्य वेदना – नारकियों द्वारा एक दूसरे को दी जाने वाली वेदना।
3. परमाधर्मी देवों द्वारा दी जाने वाली वेदना।

ये उपर्युक्त तीन प्रकार की वेदनाएँ नारकी जीव अपने पूर्वजन्म में किए गये पापों के कारण फल भोगते हैं किन्तु निमित्त की अपेक्षा ये तीन भेद बताये गये हैं[24] –

1. **नरक में क्षेत्रजन्य वेदना** – नरक में क्षेत्रजन्य वेदना असह्य है। गर्मी इतनी अधिक होती है कि नारकी जीव भाड़ में डाले हुए तिलों के समान उछलते हैं फिर नीचे गिर जाते हैं। नरक की भूमि का स्पर्श छुरे की धार जैसा होता है। अत्यन्त दुर्गन्ध, चारों ओर भय ही भय होता है। खैर के धधकते अंगारों अर्थात् जलती हुई अग्नि के समान वहाँ की पृथ्वी की तप्त होती है। नारकी उष्ण वेदना से बिलबिलाते अर्थात् रोते और चिल्लाते हैं।[25] पहले की चार पृथ्वियों में ऊष्ण वेदना है। पाँचवीं भूमि में उष्ण और शीत दोनों प्रकार की वेदनाएँ होती हैं और छठी और सातवीं पृथ्वी में शीत वेदना होती है। यह उष्ण और शीत वेदनाएँ नीचे-नीचे के नरकों में क्रम-क्रम से बढ़ती जाती है।[26]

2. **परस्परवैरजन्य वेदना** – नारकियों को अवधिज्ञान से अपने पूर्वभवसम्बन्धी वैर-भाव जागृत हो जाते हैं। क्रोधी नारकी नवीन नारकियों को शस्त्रों से छेदन-भेदन कर देते हैं, डण्डे से पीटते हैं, शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं, नारकियों का शरीर पारे के समान बिखर जाता है और फिर आपस में मिल जाता है, एक-दूसरे को अपना पूर्व वैर बतलाकर आपस में दण्ड देते रहते हैं – अर्थात् आपस में लड़ाई-झगड़ा, मार-पीट करते रहते हैं।[27]

पहले तीन पृथ्वियों तक अतिशय भयंकर असुर कुमार जाति के देव नारकियों को आपस में वैर का स्मरण कराकर लड़ने की प्रेरणा देते हैं।[28]

परमाधर्मी देवों द्वारा असह्यनीय वेदनाएँ – परमाधर्मीदेव नारकियों को असह्य वेदनाएँ देते हैं। परमाधर्मी देव तीन पृथ्वियों तक ही वेदना देते हैं इससे आगे की भूमियों में नहीं।[29] नारकियों को खोलती हुई ताँबा आदि धातुएँ पिलायी जाती है।[30]

जो जीव पूर्वभव में माँसभक्षण करते थे उन्हें अपने ही शरीर का माँस काटकर खिलाया जाता है और जो बड़े शोक से माँस खाया करते थे, संडासी से उनका मुख फाड़कर गले में जबरदस्ती तपाये हुए लोहे के गोले निगलाये जाते हैं।[31]

जो पूर्वभव से परस्त्री का सेवन अर्थात् रति-क्रीड़ा करते थे उन्हें लोहे की तपायी हुई पुतली से जबरदस्ती गले से आलिंगन कराते हैं।[32]

कुछ नारकीयों को टुकड़े-टुकड़े कर कोल्हू में गन्ने के समान पीलते हैं। कुछ नारकीयों को कढ़ाई में खोलकर उनका रस बनाते हैं।[33]

नरक के भयंकर गीध[34] अपनी वज्रमयी चोंच से उन नारकीयों के शरीर को चीर डालते हैं और काले-काले कुत्ते अपने तीखे नखों से फाड़ डालते हैं।[35]

लोहे की पुतलियों के आलिङ्गन से तत्क्षण ही मूर्च्छित हुए उन नारकियों को अन्य नारकी लोहे के परेनों से मर्मस्थानों को पीटते हैं।[36]

नारकियों को भिलावे के रस से भरी हुई नदी में जबरदस्ती गिरा देते हैं। क्षणभर में उनका सारा शरीर गल जाता है और खारा जल उनके घावों पर छिड़का जाता है जिससे उन को भारी दु:ख पहुँचता है।[37]

नारकियों को जलती हुई अग्नि की शय्या पर सुलाते हैं। दीर्घनिद्रा का सुख लेने के लिए नारकी शय्या पर सोते हैं, उनका सारा शरीर जलने लगता है।[38]

दु:खों से पीड़ित होकर नारकी ज्यों ही असिपत्र वन में अर्थात् तलवार की धार के समान तीखे पत्तों वाले वन में पहुँचते हैं त्यों ही वहाँ अग्नि के फुलिगों को बरसाता हुआ प्रचण्ड वायु बहने लगता है। ऐसी वायु के आघात से पत्ते नीचे गिरने लगते हैं वे नारकी जीवों को वेदना देते है और नारकी जीव जीवों को रोते-चिल्लाते हैं।[39]

कई नारकीयों के मर्मस्थानों और हड्डियों के सन्धि स्थानों को पैनी करोंत से विदीर्ण कर डालते हैं, उनके नखों के अग्रभाग में तपायी हुई लोहे की सुईयाँ चुभाकर उन्हें भयंकर वेदना देते हैं।[40]

नारकीयों को पहाड़ की चोटी से नीचे गिरा देते हैं। नीचे गिराकर उन्हें खूब पीटते हैं।[41]

जो जीव पहले बहुत उद्दण्डी थे उन्हें वे नारकी तपे हुए लोहे के आसन पर बिठाते हैं और तीक्ष्ण काँटों के आसन पर सुलाते हैं।[42]

भयंकर रूप से आकाश में उड़ते हुए गीध नारकीयों को झपटते हैं और कुत्ते भौंक-भौंक कर उन्हें भयभीत करते हैं।[43]

असिपत्र वन में चलने वाली वायु का स्पर्श इतना कठोर है कि उसके शब्द सुनते ही भय लगने लगता है और जो सेमर का पेड़ है उसे याद करते ही नारकियों के शरीर के समस्त अंगों में काँटे चुभने लगते हैं।[44]

नरक में वैतरणी नाम की नदी है जो बहुत ही विशाल है। वैतरणी नदी में रक्त के समान खारा और गर्म जल बहता रहता है। उस नदी के पानी की धार उस्तरे के समान तेज है उस तीक्ष्ण जल के शरीर पर लगते ही नारकियों के अङ्ग कट जाते हैं। यह नदी बहुत ही दुर्गम और गहन है। यह भिलावे के रस से भरी हुई होती है। इसमें तैरना तो दूर रहा इसका नाम सुनते ही भय लगने लगता है।[45] ये वही नारकीयों के रहने के बिल हैं जो कि गर्मी से भीतर ही भीतर जल रहे हैं और जिनमें ये नारकी छिद्र-रहित साँचे में गली हुई सुवर्ण, चाँदी आदि धातुओं की तरह घुमाये जाते हैं। नरकों की वेदना इतनी तीव्र है कि इसे कोई सहन नहीं कर सकता, मार-पीट इतनी भयंकर है उसे कोई बर्दाश्त नहीं कर सकता। ये श्वास भी आयु पूर्ण हुए बिना छूट नहीं सकते।[46]

नारकियों को नरकों में निमेष मात्र भी सुख नहीं है। उन्हें दिन-रात दु:ख ही दु:ख भोगना पड़ता है।[47] संसार में कोई ऐसा पदार्थ नहीं जिसके साथ नरक के दु:खों की उपमा की जाये। नरकों की वेदना असह्य और अचिन्त्य है।[48]

नरक में बिलों की गिनती

नारकियों के रहने योग्य स्थान को बिल कहते हैं। सात पृथ्वियों में क्रम से बिलों की गणना इस प्रकार है–

पहली पृथ्वी में नारकियों की बिलें-तीस लाख हैं।

दूसरी पृथ्वी में नारकियों की बिलें-पच्चीस लाख हैं।

तीसरी पृथ्वी में नारकियों की बिलें-पन्द्रह लाख हैं।

चौथी पृथ्वी में नारकियों कि बिलें-दस लाख हैं।

पाँचवीं पृथ्वी में नारकियों की बिलें-तीन लाख हैं।

छठी पृथ्वी में नारकियों की बिलें-पाँच कम एक लाख हैं।

सातवीं पृथ्वी में नारकियों की बिलें-पाँच हैं।

ये बिलें बहुत ही विशाल है और सदा ही जाज्वल्यमान रहती है। इन बिलों में पापी-नारकी हमेशा कुम्भीपाक अर्थात बन्द घड़े में पकाये जाने वाले जल आदि के समान पकते हैं।[49]

नारकियों की आयु

नरक में रहने वाले नारकियों की आयु इस प्रकार कही गई है–

प्रथम पृथ्वी की जघन्य आयु 10000 वर्ष व उत्कृष्ट 1 सागर की है।

द्वितीय पृथ्वी की जघन्य आयु 1 सागर व उत्कृष्ट 3 सागर की है।

तृतीय पृथ्वी की जघन्य आयु 3 सागर व उत्कृष्ट 7 सागर की है।

चतुर्थ पृथ्वी की जघन्य आयु 7 सागर व उत्कृष्ट 10 सागर की हैं।

पंचम पृथ्वी की जघन्य आयु 10 सागर व उत्कृष्ट 17 सागर की है।

षष्ठ पृथ्वी की जघन्य आयु 17 सागर व उत्कृष्ट 22 सागर की है।

सप्तम पृथ्वी की लघन्य आयु 22 सागर व उत्कृष्ट 33 सागर की है।[50]

नारकी जीवों के शरीर का परिमाण – नरक में रहने वाले जीवों के शरीर का परिमाण इस प्रकार है –

पहली पृथ्वी में शरीर की ऊँचाई - सात धनुष तीन हाथ छः अंगुल।

दूसरी पृथ्वी में शरीर की ऊँचाई - पन्द्रह धनुष दो हाथ बारह अंगुल।

तीसरी पृथ्वी में शरीर की ऊँचाई - इकतीस धनुष एक हाथ।

चौथी पृथ्वी में शरीर की ऊँचाई - बासठ धनुष दो हाथ।

पाँचवीं पृथ्वी में शरीर की ऊँचाई - एक सौ पच्चीस धनुष।

छठी पृथ्वी में शरीर की ऊँचाई - दो सौ पचास हाथ।

सातवीं पृथ्वी में शरीर की ऊँचाई - पाँच सौ धनुष।[51]

नारकी जीवों के शरीर की आकृति

नारकी जीवों के शरीर की आकृति विकलांग, हुण्डक संस्थान वाले नपुंसक, दुर्गन्धयुक्त बुरे काले रंग के धारक, कठोर स्पर्श वाले, कर्कश भाषा वाले, दुर्भग देखने में अप्रिय होते हैं। नारकीयों का शरीर काले और रुखे परमाणुओं से बना होता है।[52]

प्रश्न व्याकरण सूत्र में नारकी जीवों के शरीर की आकृति के बारे में बतलाया है कि उनका शरीर विकलांग, बेडौल, भद्दी आकृति वाले, देखने में बीभत्स, घृणित, भयानक व हुण्डक संस्थान वाले होते है। वे नपुसंक वेद वाले होते हैं।[52A]

नारकी जीवों में लेश्याएँ

सभी नारकियों में द्रव्य लेश्या अत्यन्त कृष्ण होती है परन्तु भावलेश्या में अन्तर है–

पहली पृथ्वी में जघन्य (कम से कम) कापोत भाव लेश्या है।

दूसरी पृथ्वी में मध्यम (न कम न अधिक) कापोत लेश्या है।

तीसरी पृथ्वी में उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) कापोत लेश्या और जघन्य नील लेश्या है।

चौथी पृथ्वी में मध्यम नील लेश्या है।

पाँचवीं पृथ्वी में उत्कृष्ट नील और जघन्य कृष्ण लेश्या है।

छठी पृथ्वी में मध्यम कृष्णलेश्या है।

सातवीं पृथ्वी में उत्कृष्ट कृष्ण लेश्या है।[53]

नारकी जीवों में रस और दुर्गन्ध (नारकी जीवों के शरीर की गन्ध)

नारकी जीवों के शरीर से निकलने वाला रस अर्थात् पसीना कड़वे तुम्बे और कांजीर के संयोग से जैसा कड़वा और अनिष्ट रस निकलता है वैसा ही कड़वा नारकियों के शरीर से पसीना निकलता है।[54]

जिस प्रकार कुत्ता, बिलाव, गधा, ऊँट आदि जीवों के मृतक शरीर को एक स्थान पर इकट्ठा करने से जैसी दुर्गन्ध पैदा होती है वैसी ही दुर्गन्ध नारकियों के शरीर से आती है अर्थात् उससे कई गुणा अधिक दुर्गन्ध आती है।[55]

नारकी जीवों के शरीर का स्पर्श

करोंत और गोखुरु का जैसा कठोर स्पर्श होता है वैसा ही कठोर स्पर्श नारकीयों के शरीर का भी होता है।[56] जीवाभिगम सूत्र नारकियों के शरीर का स्पर्श कर्कश, छेद वाला और जली हुई वस्तु की तरह खुरदरा होता है अर्थात् पकी हुई ईंट की तरह खुरदरा होता है। नारकियों का शरीर फटी हुई चमड़ी और झुर्रियों वाला होने से कान्ति रहित होता है।[56A]

नारकियों का रूप

नारकियों के शरीर अशुभ कर्मों के उदय से अत्यन्त विकृत, घृणित तथा कुरुप रूप वाले होते हैं। नारकीयों का शरीर अपृथक्, विक्रिया होता है अर्थात् एक नारकी एक समय में अपने शरीर का एक ही आकार बना सकता है। वह देवों के समान अनेक रूप और मनचाहे रूप नारकी नहीं बना सकता।[57]

नारकियों का आहार

नारकी जीव अत्यन्त तीक्ष्ण और कड़वी थोड़ी-सी मिट्टी को चिरकाल में खाते हैं अत्यन्त दुर्गन्ध वाला व ग्लानि युक्त आहार करते हैं।[58]

तात्पर्य यह है कि नारकी तीखा, खारा व गर्म वैतरणी नदी का जल पीते हैं और दुर्गन्ध युक्त मिट्टी का आहार करते हैं।[59]

कुत्ता आदि जीवों की विष्ठा से भी अधिक दुर्गन्धित मिट्टी का भोजन करते हैं वे भी उन्हें बहुत कम मात्रा में मिलती है जबकि उनको भूख बहुत अधिक लगती है।[60]

कौन से नरक से निकले जीव कौन-सी अवस्था को प्राप्त होते हैं?

सातवीं नरक-भूमि से निकले हुए नारकी जीव मनुष्यलोक में अनन्त

भवों में भी कभी मनुष्य भव प्राप्त नहीं करते हैं अर्थात् सातवें नरक से निकले जीव मध्यलोक में केवल तिर्यंच में ही जन्म धारण करते हैं।[61]

छठी पृथ्वी से निकले हुए जीव यदि अनन्तभवों में मनुष्य भव धारण करते हैं तो नियम से, संयमवृत्ति नहीं ग्रहण कर सकते हैं।[62]

पाँचवें नरक से निकला हुआ जीव मनुष्य होकर संयम (साधुवृत्ति) धारण कर सकता है। संक्लेश परिणामों के कारण कर्मक्षय न होने से मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता है।[63]

चौथे नरक से निकले जीव को कभी मोक्ष प्राप्त हो सकता है, परन्तु तीर्थंकर पद को प्राप्त नहीं कर सकता है क्योंकि तीर्थंकर होने की शक्ति उस जीव में प्रकट नहीं हो सकती।[64]

जो जीव तीसरे, दूसरे, पहले नरक से निकलते हैं वे तीर्थंकर पद पा सकते हैं। परन्तु उसी भव में चक्रवर्तीपद, वासुदेवपद, बलदेवपद प्राप्त नहीं कर सकते हैं।[65]

श्वेताम्बर परम्परा अनुसार

प्रथम नरक से निकले हुए जीव चक्रवती पदवी प्राप्त कर सकते है।

प्रथम और द्वितीय तीसरे नरक से निकले हुए जीव बलदेव और वासुदेव तीर्थंकर पदवी पा सकते हैं।

चौथी नरक से निकले जीव मोक्ष गति प्राप्त कर सकते हैं।

पाँचवी नरक से निकले जीव सर्वविरति धर्म का पालन कर सकते है।

छठी नरक से निकले जीव देशविरति चारित्र धर्म का पालन कर सकते है।

सातवीं नरक से निकले जीव सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते है।[65A]

मध्यलोक (तिर्यञ्क लोक)

लोक के मध्य में होने के कारण इसे मध्यलोक कहते हैं। ऊर्ध्व लोक के नीचे अधोलोक के ऊपर 1800 योजन प्रमाण मध्यलोक है। इसमें मनुष्य और तिर्यञ्चों का निवास है। इसलिए इसे तिर्यञ्क् लोक भी कहा जाता है। इस लोक में असंख्यात द्वीप और समुद्र परस्पर एक-दूसरे को घेरे हुए हैं। इतने विशाल क्षेत्र में केवल अढ़ाई-द्वीप में ही मानव निवास करते हैं।[67] सम्पूर्ण

लोक के ठीक बीच में मध्य लोक है जोकि असंख्यात द्वीप समुन्द्रों से शोभायमान है वे द्वीप समुद्रों में जम्बूद्वीप थाली के समान गोल है बाकी के द्वीप समुद्र वलय के समान बीच में खाली है। जम्बू द्वीप मध्यलोक के मध्यभाग में है तथा लवण समुद्र से घिरा हुआ है। इसके बीच में नाभि के समान मेरुपर्वत है। यह जम्बूद्वीप एक लाख योजन चौड़ा है–इसमें हिमवत्, महाहिमवान् आदि छह कुलाचलों, सात क्षेत्र-भरत, ऐरावत, हेमवत, हरिवर्ष, रम्यकवर्ष, महाविदेह आदि और गङ्गा, सिन्धु आदि चौदह नदियों में विभक्त हैं।[68]

विदेह क्षेत्र में दो अन्य प्रमुख भाग हैं जिनके नाम है – देवकुरु और उत्तरकुरु। धातकी खण्ड और पुष्करार्ध-द्वीप में इन सभी क्षेत्रों की दुगनी-दुगनी संख्या है। ये सभी क्षेत्र कर्मभूमि, अकर्मभूमि और कुलाचलों के भेद से विभक्त है[69] जहाँ मानव, कृषि, वाणिज्य, शिल्पकला आदि के द्वारा जीवनयापन करते हैं वे क्षेत्र कर्मभूमि हैं। यहाँ का मनुष्य सर्वोत्कृष्ट पुण्य और सर्वोत्कृष्ट पाप कर सकता है। भरत, ऐरावत और महाविदेह इसकी सीमा में आते हैं। जम्बूद्वीप में एक भरत, एक ऐरावत, एक महाविदेह, धातकी खण्ड में दो भरत, दो ऐरावत, और दो महाविदेह तथा पुष्करार्ध द्वीप में दो भरत, दो ऐरावत, दो महाविदेह। इस प्रकार ढाई–द्वीपों में कुल मिलाकर कर्मभूमि के पन्द्रह क्षेत्र हैं।[70]

जहाँ पर कृषि आदि कर्म किये बिना ही भोगोपभोग की सामग्री सहज उपलब्ध हो जाती है, जीवन यापन करने के लिए किसी प्रयत्न विशेष की आवश्यकता नहीं होती, वह अकर्मभूमि क्षेत्र है। जम्बूद्वीप में छह क्षेत्र हैं। इसी प्रकार धातकी खण्डद्वीप और पुष्करार्धद्वीप में हेमवतादि प्रत्येक के दो-दो क्षेत्र होने से दोनों द्वीपों के बारह-बारह क्षेत्र हैं। इस प्रकार सब मिलकर अकर्मभूमि के तीस क्षेत्र होते हैं।[71]

कर्मभूमि और अकर्मभूमि के प्रदेश के अतिरिक्त जो समुद्र के मध्यवर्ती द्वीप बच जाते हैं वे अन्तरद्वीप कहलाते हैं। जम्बूद्वीप के चारों ओर फैले हुए लवण समुद्र में हिमवान पर्वत, शिखरी पर्वत के पूर्व और पश्चिम में दो-दो शाखाएँ अर्थात् दाढाएँ हैं और प्रत्येक के अन्तर पाकर 7-7 द्वीप की दाढ़ाओं पर अट्ठाईस अन्तरद्वीप हैं। इस प्रकार सब मिलाकर 56 अन्तरद्वीप होते हैं। इन अन्तरद्वीपों में मनुष्य निवास करते हैं। इसी प्रकार मध्यलोक इतना विशाल है तथापि ऊर्ध्वलोक और अधोलोक की अपेक्षा इसका क्षेत्रफल शून्य के बराबर है।[72] अब उन पुण्यात्माओं का वर्णन करते हैं। जिन्होंने अच्छे (श्रेष्ठ) कर्म करके सुगति का बन्ध किया है। पुण्य फल भोगने के लिए जीव कहाँ-कहाँ जाता है। उस लोक का वर्णन किया गया है।

देवलोक स्वर्गलोक (ऊर्ध्वलोक)

देव और उनकी उत्पत्ति

देव – देव शब्द दिव् धातु से निर्मित है। जो धुति, गति आदि को सूचित करता है। अतः देव के व्यावहारिक लक्षण यह है कि जिसका शरीर दिव्य अर्थात् सामान्य चर्म चक्षुओं से न दिखाई दें, जिसकी गति (गमन शक्ति) अति वेग वाली हो, जिसके शरीर में रक्त, माँस आदि न हो, मनचाहे रूप बना सके, आँखों के पलक न झपकें, पैर जमीन से चार अँगुल ऊँचे रहें, शरीर की छाया न पड़े। देव एक गति का नाम है। इस गति में जो जन्म लेता है, वह देव कहा जाता है। सैद्धान्तिक भाषा में देवगतिनाम कर्म के उदय से जीव जिस पर्याय को धारण करता है वह देवगति है और उस देवायु को भोगने वाला जीव देव कहा जाता है।[73] आभ्यन्तर कारण देवगति नामकर्म के उदय होने पर नाना प्रकार की बाह्य विभूति से द्वीप समुद्रादि अनेक स्थानों में इच्छानुसार जो क्रीड़ा करते हैं वे देव कहलाते हैं।[74]

जो दिव्यभाव-युक्त अणिमादि आठ गुणों से नित्य क्रीड़ा करते हैं और जिनका प्रकाशमान दिव्य शरीर हैं, वे देव कहे गये हैं।[75]

देवलोक में देवों की उत्पत्ति

देवों की उत्पत्ति उत्पादशय्या में होती हैं अर्थात् देव एक विशेष प्रकार की शय्या पर जन्म लेते हैं, वे गर्भज नहीं होते। उत्पादशय्याएँ देवस्थान में संख्यात योजन वाली संख्यात होती है। शय्याओं पर देव दूष्य वस्त्र ढका रहता है। धर्मात्मा और पुण्यात्मा जीव जब उसमें उत्पन्न होते हैं तो वह अंगारों पर डाली हुई रोटी के समान फूल जाती है। तब पास में रहे हुए देव उस विमान में घंटानाद करते हैं और उसकी अधीनता वाले सभी विमानों में घण्टे का नाद हो जाता है। घण्टानाद सुनकर देव और देवियाँ उस उत्पाद शय्या के पास इकट्ठे हो जाते हैं[76] और जय जयकार की ध्वनि से विमान गूँज उठता है। अन्तर्मुहूर्त (48 मिनट के अन्तर्गत समय को) के बाद उत्पन्न हुआ देव छहों पर्याप्तियों (आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, भाषा पर्याप्ति, मन पर्याप्ति) से पर्याप्त होकर तरुण अवस्था वाले शरीर को धारण कर लेता है और देवदूष्य वस्त्रों से अपने शरीर को आच्छादित कर शय्या पर बैठ जाता है। पास खड़े देव उससे उनके नाथ बनने के हेतु पूछते हैं। इसके उत्तर में वह अवधिज्ञान के द्वारा अपने पूर्वजन्म पर विचार करता है और उन

लोगों को जो कि उसके पूर्व जन्म में इष्ट/मित्र होते हैं, अपने आने की सूचना देने के लिए उद्यत होता है। इतने में देवता उसे रोकते हैं और पूर्वजन्म के मित्रों को मिलने से पूर्व देवलोक के सुख की अनुभूति कराने के लिए उसे प्रेरित करते हैं।

इसके अनन्तर नृत्य करने वाले अनीक जाति के देव अपनी दाहिनी भुजा से 108 कुमार और बाईं भुजा से 108 कुमारियाँ निकाल कर 32 प्रकार का नाटक करते हैं गन्धर्व, अनीक जाति के देव 49 प्रकार के वाद्यों के साथ छह राग और तीस रागनियाँ मधुर स्वर से अलापते हैं। इस नृत्य में मनुष्य लोक के 2000 वर्ष व्यतीत हो जाते हैं। वह देव वहाँ के सुख में लुब्ध हो जाता है और दिव्य भोगोपभोग में लीन हो जाता है।[77]

इन्द्रों के निवास स्थान, सभादि या इन्द्रों के नाम पर ही स्वर्गों का नाम रखा गया है। यह व्यवहार बारह स्वर्गों तक ही हो सकता है, इससे ऊपर देवलोकों में नहीं। देवों की अकाल (समय से पहले) मृत्यु नहीं होती।

देवों के प्रकार

देव चार प्रकार के कहे गए हैं[78] –

1. भवनवासी 2. वाणव्यन्तर 3. ज्योतिष्क 4. वैमानिक।

1. भवनवासी देव – जो देव प्राय: भवनों में निवास किया करते हैं, वे भवनवासी देव कहलाते हैं। विशेषतया केवल असुरकुमार देव ही प्राय: आवासों में रहते हैं। इनके आवास नाना रत्नों की प्रभा वाले चंदेवों से युक्त होते हैं। उनके आवास इनके शरीर की अवगाहना के अनुसार ही लम्बे, चौड़े तथा ऊँचे होते हैं। शेष नागकुमारादि नौ प्रकार के भवनपति देव भवनों में रहते हैं, आवासों में नहीं।[79]

2. वाणव्यन्तर देव – "वि" अर्थात् विविध प्रकार के "अन्तर" अर्थात् आश्रय जिनके हो, वे व्यन्तर हैं। भवन, नगर और आवासों में, विविध जगहों पर रहने के कारण ये देव व्यन्तर कहलाते हैं। व्यन्तरों के भवन रत्नप्रभापृथ्वी के प्रथम रत्नकाण्ड में ऊपर नीचे सौ-सौ योजन छोड़कर शेष 800 योजन प्रमाण मध्य भाग में हैं। इनके नगर तिर्यञ्क् लोक में भी है और इनके आवास तीनों लोकों में हैं। अथवा जो अधिकतर वनों में, वृक्षों में, नन्दन वन, पाण्डुक वन, प्राकृतिक सौन्दर्य वाले स्थानों में या गुफादि के अन्तराल में रहते हैं, ये टूटे-फूटे घरों, शून्य स्थानों में भी रहते हैं। उनके नगर बाहर से गोल

भीतर से सम चौरस, नीचे कमल की कर्णिका के समान सुकोमल होते हैं। ये देव संगीतप्रिय, क्रीड़ाप्रिय, विचित्र चिन्हों वाले होते हैं। वे हास्य को अधिक पसन्द करते हैं। दक्षिण और उत्तर की अपेक्षा उन पर 32 इन्द्र शासन चलाते हैं; वहाँ भी राजनीति की मर्यादाएँ हैं। मनुष्यों के हानि एवं लाभ में भी ये निमित्त कारण बनते हैं।[80] इस कारण वे देव वाणव्यन्तर कहलाते हैं।

3. ज्योतिष्क देव – जो विमान स्वयं प्रकाशमान होते हुए उस धरती को भी द्योतित, ज्योतित, प्रकाशित करते हैं, वे ज्योतिष्क देव[81] कहलाते हैं। अथवा जो द्योतित करते हैं, वे ज्योतिष्-विमान हैं, उन ज्योतिर्विमानों में रहने वाले देव ज्योतिष्क देव कहलाते हैं। जैसे–चन्द्र, सूर्य ग्रह, नक्षत्र, तारक।[82]

4. वैमानिक देव – ये उर्ध्वलोक के विमानों में ही निवास करते हैं। जिन देवों का निवास स्थान विमानों के अतिरिक्त कहीं नहीं होता वे देव वैमानिक या विमानवासी देव कहलाते हैं।[83] वैमानिक देव दो प्रकार के होते हैं–

(क) कल्पोपग या कल्पोपन्न

(ख) कल्पातीत[84]

कल्पोपन्न का अर्थ है कल्प यानि आचार मर्यादा हो अर्थात् जिन विमानों में इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंक आदि पद होते हैं। वे कल्प के नाम से विख्यात हैं और कल्पों में उत्पन्न देव कल्पोपन्न कहलाते हैं।

जहाँ उक्त व्यवहार या मर्यादा न होवे वे कल्पातीत है।

कल्पोपन्न के 12 भेद हैं–

1. सौधर्म	7. महाशुक्र
2. ईशान	8. सहस्त्रार
3. सनत्कुमार	9. आणत
4. माहेन्द्र	10. प्राणत
5. ब्रह्मलोक	11 आरण
6. लान्तक	12. अच्युत[85]

कल्पातीत देव 2 प्रकार के हैं – ग्रैवेयक और अनुत्तरोपपातिक।

लोकपुरुष की ग्रीवा पर स्थित होने से ये विमान ग्रैवेयक कहलाते हैं। ग्रैवेयक देव 9 प्रकार के हैं –

1. भद्र 2. सुभद्र 3. सुजात 4. सुमनस 5. प्रियदर्शन 6. सुदर्शन 7. अमोघ 8. सुप्रतिबद्ध 9. यशोधर।[86]

अनुत्तर का अर्थ है – सर्वोच्च एवं सर्वश्रेष्ठ विमान। उन अनुत्तर विमानों में उपपात यानि जन्म होने के कारण ये देव अनुत्तरोपपातिक कहलाते हैं। अनुत्तर विमान के 5 प्रकार के हैं –

1. विजय 2. वैजयन्त 3. जयन्त[87] 4. अपराजित 5. सर्वार्थसिद्ध।

यद्यपि अन्य निकायों के देवों के भी विमान होते हैं, किन्तु वैमानिक देवों के विमानों की यह विशेषता है कि वे अतिशय पुण्य के फलस्वरूप प्राप्त हो पाते हैं, उनमें निवास करने वाले देव भी विशेष पुण्यवान होते हैं। जैसे एक सामान्य मकान और कोई आलीशान बंगला, जिसमें आधुनिकतम सभी सुविधाएँ उपलब्ध हैं। मकान या निवास स्थान दोनों ही हैं। किन्तु जैसा अन्तर इन मकानों में हैं, वैसा ही अन्तर अन्य देवों और वैमानिक देवों के विमानों में समझना चाहिए।[88]

यह बात निम्नलिखित तालिका में इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है–

स्वर्ग की परिभाषा

उपर्युक्त 26 देवलोक ही 26 प्रकार के स्वर्ग नाम से जाने जाते हैं। देवों के 4 भेदों में एक वैमानिक देव नाम का भेद है। ये देव ऊर्ध्वलोक के स्वर्ग विमानों में रहते हैं तथा बड़ी विभूति व ऋद्धि आदि को धारण करने वाले होते हैं। स्वर्ग के दो विभाग हैं – कल्प व कल्पातीत। इन्द्र सामानिक आदि रूप कल्पना भेदयुक्त देव जहाँ तक रहते हैं उसे कल्प कहते हैं। इनमें रहने वाले देव कल्पवासी कहलाते हैं। दिगम्बर परम्परा में कल्प देवों की संख्या सोलह बताई गई हैं– उनके नाम इस प्रकार हैं –

1. सौधर्म, 2. ऐशान, 3. सनत्कुमार, 4. माहेन्द्र, 5. ब्रह्म, 6. ब्रह्मोत्तर, 7. लान्तव, 8. कापिष्ठ, 9. शुक्र, 10. महाशुक्र, 11. शतार, 12. सहस्रार, 13. आणत, 14. प्राणत, 15. आरण, 16. अच्युत।[89] इसके ऊपर इन सब कल्पनाओं से अतीत, समान ऐश्वर्य आदि प्राप्त अहमिन्द्र संज्ञा वाले देव रहते हैं, वह कल्पातीत हैं। उनके रहने का स्थान स्वर्ग कहलाता है। इसमें इन्द्रक व *श्रेणीबद्धादि विमानों की रचना है। इनके अतिरिक्त भी उनके पास घूमने फिरने* को विमान हैं, इसीलिए वैमानिक संज्ञा भी प्राप्त है। बहुत अधिक पुण्यशाली जीव वहाँ जन्म लेते हैं और सागरों की आयुपर्यन्त दुर्लभ भोग भोगते हैं।[90]

स्वर्ग लोक की स्थिति

मनुष्य लोक से 900 योजन के ऊपर का भाग ऊर्ध्वलोक कहलाता है। ऊर्ध्वलोक में मुख्य रूप से देवों का निवास है। इसलिए इसे देव लोक, ब्रह्मलोक, यक्षलोक और स्वर्ग लोक भी कहते हैं।[91]

स्वर्गों में इन्द्रादि देवों के दस भेदों का वर्णन

1. इन्द्र
2. सामानिक देव
3. त्रायस्त्रिंशक देव
4. आत्मरक्षक देव
5. पारिषद्य देव
6. लोकपाल देव
7. अनीक देव
8. आभियोग्य देव
9. प्रकीर्णक देव
10. किल्विषिक देव[92]

1. इन्द्र

जैसे यहाँ राजा होते हैं, वैसे ही देवलोक में इन्द्र होते हैं। अन्य देवों में नहीं पाये जाने वाले असाधारण अणिमा महिमादि गुणों से जो परम ऐश्वर्य वाले माने जाते हैं, जिनकी आज्ञा अन्य देव शिरोधार्य समझते हैं, जो ऐश्वर्यगुण से युक्त हैं। ऐसे देव जिनेश्वर के द्वारा इन्द्र कहे जाते हैं।[93]

2. सामानिक देव

जैसे यहाँ राजाओं के उमराव होते हैं, वैसे ही 64 देवों के सामानिक देव होते हैं। ये देव इन्द्र तो नहीं, किन्तु इन्द्र के समान ही अन्य देव और देवियों के माननीय एवं पूज्य होते हैं।[94]

सामानिक देव द्वारा ललिताङ्ग देव को बोध

आदिपुराण में ललिताङ्ग देव को जब देवलोक में अपनी अवधि समाप्त होने के बारे में पता चलता है तो चिन्तित हो जाता है वह देवलोकों के सुखों को छोड़ना नहीं चाहता। तब उसे सामानिक देव बोध देने आता है कि स्वर्ग से च्युत होना सभी के लिए साधारण बात है। इसलिए शोक छोड़कर धर्म की शरण ग्रहण करो। धर्म से पुण्य और पुण्य से स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है। ललिताङ्ग ने धर्म का सहारा लिया, धर्म में बुद्धि को लगाया। पन्द्रह दिन तक समस्त जिन-चैत्यालयों की पूजा की और अच्युत स्वर्ग की जिन-प्रतिमाओं की पूजा करता हुआ अदृश्य हो गया।[95]

3. त्रायस्त्रिंशक देव

पुरोहित तथा महामंत्रियों के समान जो देव है तथा जिनकी संख्या तेतीस ही नियत रहती है, वे त्रायस्त्रिंशक देव हैं।[96]

4. आत्मरक्षक देव

राजा के अंगरक्षकों के समान जो देव हाथ में शस्त्र धारण कर इन्द्र के पीछे रहते हैं उनको आत्मरक्षक देव कहते हैं।[97]

5. पारिषद्य देव

सलाहकार मन्त्री के समान इन्द्र की आभ्यन्तर परिषद् के देव होते हैं। वे इन्द्र के बुलाने पर ही आते हैं। कामदारों के समान श्रेष्ठ काम करने वाले

मध्यम परिषद् के देव होते हैं। अथवा जो मित्र और हंसी मस्करी करने वालों के समान सभा में बैठते हैं तथा जो सभा में प्रामाणिक माने जाते हैं उनको परिषद्य देव कहते हैं।[98]

6. लोकपाल देव

प्रजा के समान देवों का पालन करने वाले देव लोकपाल कहे जाते हैं।[99] अथवा जो प्रबल शक्ति सम्पन्न देवलोकों की सीमाओं के रक्षक प्रमुख सैनिक अधिकारी के रूप में नियुक्त हैं, वे लोकपाल देव कहलाते हैं।[100]

7. अनीक देव

सेना के समान जो सात प्रकार के देव होते हैं उनको अनीक कहते हैं। वे अपने अपने पदानुसार अश्व, गज, रथ, बैल, पैदल[101] आदि का रूप बनाकर, यथोचित् रीति से इन्द्र के काम आते हैं। गन्धर्वों के समान अनीक देव मधुर गान-तान करते हैं। अनीक देव बत्तीस प्रकार का मनोरम नाट्य आदि करते हैं।[102]

8. आभियोग्य देव

देवगति में होने पर भी जो देव दास के समान वाहनादि बनकर उच्च देवों की अपने स्वामियों की सेवा करते हैं, उनको आभियोग्य देव कहते हैं।

9. प्रकीर्णक देव

प्रजा के समान जो देव विमानों में रहते हैं, उनको प्रकीर्णक कहते हैं।[103]

10. किल्विषिकदेव

जैसे चाण्डाल आदि नीच जाति के मनुष्य होते हैं, वैसे ही सब देवों की घृणा के पात्र, कुरुप, अशुभ विक्रिया करने वाले, मिथ्यादृष्टि अज्ञानी देव किल्विषिक देव हैं तथा देव गुरु धर्म की निन्दा करने वाले और तप-संयम की चोरी करने वाले जीव मरकर किल्विषिक देव बनते हैं।[104]

देवों में दु:ख का कारण

देवलोकों में अनन्त सुख होने पर देवों के दु:ख का कारण फिर भी बना रहता है। देवों में ईर्ष्या-द्वेष अधिक होता है। मेरे से अधिक उस देव के पास ऋद्धि, क्रान्ति अधिक है। यही दु:ख का कारण है।[105]

स्वर्ग छोड़ने से पूर्व देवता की स्थिति

देवता देवलोक में अपना आयुष्यकर्म पूर्ण करने से छः मास पूर्व यह विचार करने लगते है कि मैं इस स्थान को छोड़कर मृत्यु आदि लोकों में जाऊँगा, स्वर्ग छोड़ने से पहले देवता के विमान और आभरणों की कान्ति कम हो जाती है, कल्पवृक्ष कुम्हला जाता है, अपनी शरीर की दीप्ति क्षीण होने लगती है, गले में डाली माला कुम्हला जाती है, यह सभी कारणों को देखकर देवता बहुत दुःखी होता है कि अब मेरा मृत्यु समय निकट आ गया है। देवलोक की दिव्य समृद्धि, दिव्य देवद्युति और देवानुभाव यहीं सभी मुझे छोड़ने पड़ेंगे और मनुष्य लोक में जाकर माता के गर्भ में नौ मास अपवित्र और अशुचि स्थान में रहना पड़ेगा। अर्थात् देवलोक के सुखसामग्री, भोग के साधन छूट जायेंगे। यह सोचकर देवता देवलोक से आने से पूर्व बहुत दुःख का अनुभव करता है।[106]

अहमिन्द्र का लक्षण

मैं ही इन्द्र हूँ मेरे सिवाय अन्य कोई इन्द्र नहीं है। इस प्रकार वे अपनी प्रशंसा में ही आसक्त रहते हैं और देवों में उत्तम देव होने से अहमिन्द्र कहलाते हैं। कल्पातीत देव अहमिन्द्र नाम से प्रसिद्ध होते हैं।[107]

अहमिन्द्रों की विशेषताएँ

अहमिन्द्रों के जीवन में कुछ विशेषताएँ होती हैं जो कल्पोपपन्न देवों में नहीं होती। अहमिन्द्रों का परक्षेत्र में बिहार नहीं होता, क्योंकि वे शुक्ल लेश्या के प्रभाव से अपने ही भोगों द्वारा सन्तोष को प्राप्त होते हैं उन्हें वही सुखमय स्थान में जो सुख की उत्तम प्रीति होती है वह अन्यत्र कहीं नहीं प्राप्त होती। इसलिए वे परक्षेत्र में विचरने की इच्छा ही नहीं करते।[108] अहमिन्द्र न तो आपस में असूया है, न ही दूसरों की निन्दा-चुगली करते हैं, न आत्म प्रशंसा करते हैं, न ही किसी से ईर्ष्या करते हैं, वे प्रसन्नतापूर्वक क्रीड़ा करते हैं।[109] अहमिन्द्र जिनेन्द्र देव की अकृत्रिम प्रतिमाओं की पूजा करते हैं। अहमिन्द्र अणिमा, महिमादि अनेक गुणों से युक्त और वैक्रियिक शरीर को धारण करने वाले हैं।[110] सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र मोक्ष तुल्य सुख का अनुभव करते हैं। वे प्रवीचार (मैथुन) के बिना भी चिरकाल तक सुखी रहते हैं। अहमिन्द्रों को शुभ कर्म के उदय से जो निर्बाध सुख प्राप्त होता है वह प्रवीचार सुख से अनन्त गुणा अधिक होता है।[111]

छब्बीस स्वर्गों का स्वरूप

1. सौधर्म देवलोक

सौधर्म नाम की जहाँ सभा है, उस कल्प का नाम सौधर्म है। इस कल्प का इन्द्र भी सौधर्म है। इसकी सवारी महा ऐरावत हाथी है। इसकी रानी का नाम शची है।[112] सौधर्म इन्द्र के मन्दिर से ईशान दिशा में तीन हजार कोश ऊँची, चार सौ कोश लम्बी और इससे आधी विस्तार वाली सुधर्मा सभा है। सौधर्म सभा के द्वारों की ऊँचाई चौसठ कोश और विस्तार 32 कोश है।[113]

जम्बूद्वीप के मेरु पर्वत से असंख्यात योजन (डेढ़ राजू) ऊपर जाने पर मेरुपर्वत की दक्षिण दिशा में पहला सौधर्म कल्प है। इसमें तेरह प्रतर हैं (जैसे-मकान में मंजिल होती है, उसी प्रकार देवलोकों में प्रतर होते हैं। जैसे मंजिल में कमरे होते हैं, उसी प्रकार प्रतरों में विमान होते हैं।) इसमें 32 लाख विमान हैं।[114] यह विमान 500 योजन ऊँचे हैं। इन का आकार अर्ध चन्द्र के समान है।

सौधर्म देवलोक के देवताओं की वेश-भूषा और चिह्न

सौधर्म देवलोक के देवताओं की वेशभूषा अत्यन्त शोभायमान होती है। देवताओं के चिह्न से युक्त मुकुट लगा होता है और किरीट के धारक होते हैं। श्रेष्ठ कुण्डलों से उद्योतित मुख वाले होते हैं। कमल के पत्र के समान गौरे रंग होते हैं। सुगन्धित माल्य और अनुलेपन के धारक होते हैं। रक्त आभायुक्त शोभा वाले होते हैं। वक्षस्थल हार से सुशोभित होता है। कड़े और बाजूबन्धों से मानों भुजाओं को स्तब्ध कर रखी है। कुण्डलादि आभूषण उनके कपोलस्थल को सहला रहे हैं, कानों में वे कर्णपीठ और हाथों में विचित्र कराभूषण धारण करते हैं। देवता के शरीर का तेज दैदीप्यमान होता है। देवता कल्याणकारी उत्तम वस्त्र पहने हुए तथा कल्याणकारी श्रेष्ठ माला के धारक होते हैं।[115]

सौधर्म देवलोक की देवियाँ

सौधर्म देवलोक में दो प्रकार की देवियाँ होती हैं-

(क) परिगृहीता देवियाँ (पति वाली) पत्नी स्वरूप,

(ख) अपरिगृहीता देवियाँ (बिना पति वाली, गणिका वत् वाली।)

(क) परिगृहीता देवियाँ

सौधर्म देवलोक में आठ परिगृहीता देवियाँ हैं। इन्हें ही इन्द्राणियाँ और अग्रमहिषियाँ कहते हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं –

1. पद्मा
2. शिवा
3. शची[116]
4. अन्जू
5. अमला
6. अप्सरा
7. नवमिका
8. रोहिणी[117]

इनकी जघन्य आयु एक पल्योपम और उत्कृष्ट सात पल्योपम की है। इन अग्रमहिषियों या इन्द्रानियों का 16 हजार देवियों का परिवार होता है।[118]

(ख) अपरिगृहीता देवियाँ

जो देवियाँ बिना पति के होती हैं, इनकी वृत्ति गणिका जैसी होती है। इनकी जघन्य आयु एक पल्योपम की और उत्कृष्ट आयु 50 पल्योपम की होती है। इन देवियों में 6 लाख विमान होते हैं।[119]

भोग में प्रवृत्ति

सौधर्म देवलोक के देवों में भोग की प्रवृत्ति भी मानव के काम-भोगों की तरह होती है अर्थात् देवता भी मनुष्य के समान काम-भोगों का सेवन करते हैं। वे पहले देवलोक के देवों के भोग में आती हैं।[120]

आदिपुराण में सौधर्म देव का स्वरूप क्या है, उसकी क्या वैशिष्ट्य है इत्यादि रूप से वर्णत तो नहीं मिलता, परन्तु इतना अवश्य कहा गया है कि इस स्वर्ग की प्राप्ति सम्यग्ज्ञान से ही हो सकती है।[121]

2. ईशान देवलोक

सौधर्म देवलोक की समश्रेणी में दूसरा ईशान देवलोक है। इस स्वर्ग का इन्द्र ईशान होने पर इस कल्प का नाम ईशान कल्प पड़ा। इस लोक का आकार अर्धचन्द्र के समान है। सौधर्म और ईशान दोनों देवलोकों के आकार को मिलाने पर पूर्णचन्द्र का आकार दिखाई देता है।

श्नैश्चर (शनि) के विमान की ध्वजा से एक रज्जू ऊपर 19 रज्जू घनाकार विस्तार में घनोदधि (जमें हुए पानी) के आधार पर, लगड़ाकर जम्बूद्वीप के मेरुपर्वत से उत्तर दिशा में दूसरा ईशान स्वर्ग है।

विमानों की संख्या

ईशान देवलोक में विमानों की संख्या अट्ठाइस लाख कही गई है। यह विमान 500 योजन ऊँचे हैं।[122]

इन्द्राणियाँ

ईशान देवलोक में इन्द्र की आठ इन्द्रानियाँ या अग्रमहिषियाँ होती हैं।[123]

परिगृहीता देवियाँ

दूसरे देवलोक में रहने वाली परिगृहीता देवियों की जघन्य आयु एक पल्योपम से कुछ अधिक और उत्कृष्ट आयु नौ पल्योपम की है। दूसरे देवलोक से आगे के देवलोकों में देवियों की उत्पत्ति नहीं होती। प्रत्येक इन्द्राणी का सोलह सोलह हजार देवियों का परिवार है।[124]

अपरिगृहीता देवियाँ

दूसरे देवलोक में अपरिगृहीता देवियों के 4 लाख विमान हैं। इनमें रहने वाली देवियों की जघन्य आयु एक पल्योपम से कुछ अधिक है और उत्कृष्ट 55 पल्योपम की है। इनमें से एक पल्योपम की आयु वाली देवियाँ ही दूसरे देवलोक के देवों के परिभोग में आती हैं।[125]

ईशान देवलोक में जाने के हेतु

आदिपुराण पंचम पर्व में राजा महाबल ने अपना अन्तिम समय नजदीक जानकर राज्य के मोह का त्यागकर बाह्य और आभ्यान्तर परिग्रह को त्यागकर अपने मन को पञ्चपरमेष्ठी में लगाया। आत्मा और शरीर की भिन्नता को जानकर निरन्तर बाईस दिन तक संल्लेखना की विधि करते रहे। शुद्ध आत्म स्वरूप की भावना करते हुए अपना सारा समय धर्म-ध्यान में ही लगाते हुए शरीर छोड़कर ईशान् नामक दूसरे देवलोक में बड़ी ऋद्धि के धारक ललिताङ्ग नामक उत्तम देव बने।[126]

देवों में भोग-विलास की प्रवृत्ति

ईशान देवलोक के देवता मनुष्यों के समान ही काम भोगों का सेवन करते हैं। ईशान स्वर्ग में महान ऋद्धियों का धारण करने वाले देव अनेक प्रकार के भोग विलास भोगते हैं अर्थात् स्वर्ग में सुख भोगने के लिए उत्पन्न होते हैं।[127]

3. सनत्कुमार देवलोक

सौधर्म और ईशान देवलोकों की सीमा के ऊपर 16 रज्जू घनाकार विस्तार में घनवात (जमी हुई हवा) के आधार पर जम्बूद्वीप के मेरु पर्वत पर दक्षिण दिशा में तीसरा सनत्कुमार देवलोक स्थित है। इस लोक का आकार आधे चन्द्रमा के समान है।

भोग विलास

इस देवलोक के देव, मनुष्यों या पहले और दूसरे देव लोक के देवों की तरह काम-भोग नहीं करते। वे देवियों के स्पर्श मात्र से अपनी इच्छा पूर्ण कर लेते हैं। सनत्कुमार देवलोक के देव सौधर्म देवलोक की अपरिगृहीता देवियों के स्पर्शमात्र से ही अपने भोगों की तृप्ति कर लेते हैं। उन देवियों की आयु एक पल्योपम से एक समय अधिक से दस पल्योपम तक होती है।[128]

इस देवलोक में देवियाँ उत्पन्न नहीं होती।

4. महेन्द्र देवलोक

सौधर्म और ईशान दोनों देवलोक की सीमा के ऊपर 16 रज्जु घनाकार विस्तार में घनवात् (जमी हुई हवा) के आधार पर, जम्बूद्वीप के मेरुपर्वत से उत्तर दिशा में स्थित है। महेन्द्र देवलोक का आकार अर्धचन्द्र के समान है।

देवताओं में भोग विलास की इच्छा

महेन्द्र देवलोक के देवता दूसरे देवलोक की अपरिगृहीता देवियों का, जिनकी आयु एक पल्योपम से एक समय से अधिक और पन्द्रह पल्योपम तक की आयु वाली है। उनका स्पर्श करने मात्र से ही तृप्त हो जाते हैं। अर्थात् उन्हें भोगों की तृप्ति स्पर्शमात्र से ही हो जाती हैं।[129]

महेन्द्र देवलोक की प्राप्ति में हेतु

पञ्चम पर्व में राजा शतबल ने भोगों को निसार जानकर अपने जीवन को धर्म में लगाया। सम्यग्दर्शन से श्रावक धर्म का पालन करते हुए सदाचरण को अधिमान दिया है और व्रतों का पालन करते हुए तप करते हुए समाधि-मरणपूर्वक शरीर का त्याग करके महेन्द्र स्वर्ग की प्राप्ति हुई। वहाँ उन्हें अनेकों प्रकार की ऋद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं। उनकी आयु वहाँ सात सागर प्रमाण की होती है।[130]

5. ब्रह्म देवलोक

सनत्कुमार और महेन्द्र देव लोक की सीमा से आधा रज्जू ऊपर 18 रज्जू घनाकार विस्तार में जम्बू द्वीप के मेरु पर्वत पर बराबर मध्य में घनवात के आधार पर पाँचवाँ ब्रह्म नामक देवलोक स्थित है।[131] ब्रह्म देवलोक का आकार पूर्ण चन्द्र के समान है।

ब्रह्म देवलोक की प्राप्ति में हेतु

आदिपुराण के दशम पर्व में शतबुद्धि का जीव जो मिथ्यात्व के कारण नरक में जाता है। वहाँ उसे श्रीधर नामक के देव बोध देने के लिए आते हैं। उसे जिनेन्द्र वाणी सुनाकर मिथ्यात्व रूपी मैल को दूर हटाकर सम्यग्दर्शन धारण करवाया। वही जीव सम्यक्त्व के कारण विदेह क्षेत्र में महीधर चक्रवर्ती के घर उत्पन्न हुआ। जिसका नाम जयसेन रखा। जिस समय उसका विवाह हो रहा था। उस समय श्रीधर देव जाकर उसे समझाते हैं। पिछली नरकों की घोर वेदनाओं को याद करवाते हैं। उसे सुनकर विरक्ति आ जाती है। संयमवृत्ति अंगीकार कर लेता है। अपने जीवन को तपश्चर्या में लगाकर जीवन के अन्तिम समय समाधि पूर्वक प्राण त्यागर ब्रह्मस्वर्ग में इन्द्र पद को प्राप्त किया। कर्मो की गति बड़ी विचित्र है।[132]

देवता में भोग की प्रवृत्ति

ब्रह्म देवलोक के देवता में जब भोग की इच्छा उत्पन्न होती है तो वे सौधर्म देवलोक की अपरिगृहीता देवियों (जिनकी आयु दस पल्योपम से एक समय अधिक से बीस पल्योपम तक है) के विषय–जनक शब्द सुनने मात्र से उनकी भोगों से सन्तुष्टि हो जाती है।[133]

6. लौकान्तिक देवों का स्वरूप

संसारी समुद्ररूपी जो लोक हैं, उसके अन्त में स्थित होने के कारण इन देवों का नाम लौकान्तिक पड़ा। अर्थात् ये देव ब्रह्मलोक (पाँचवें स्वर्ग) में रहते हैं। ब्रह्मलोक के अन्त में निवास करने के कारण ये लौकान्तिक देवों के नाम से जाने जाते हैं। ये सभी देवों में उत्तम होते हैं। ये देव पूर्व भव में सम्पूर्ण श्रुतज्ञान का अभ्यास करते हैं। इन देवों की भावनाएँ और लेश्याएँ शुभ होती हैं। ये देव बड़ी-बड़ी ऋद्धियों के धारक होते हैं।[134] तीर्थंकर को दीक्षा का बोध देने के लिए भी लौकान्तिक देव ही आते हैं।

लौकान्तिक देवों के प्रकार

लौकान्तिक देव आठ प्रकार के होते हैं –

(क) सारस्वत (ङ) गर्दतोय (ख) आदित्य (च) तुषित (ग) वह्नि (छ) अव्याबाध (घ) अरुण (ज) अरिष्ट।[135]

6. लान्तक देवलोक

पाँचवें देवलोक[136] की सीमा से आधा रज्जू[137] 18 रज्जू घनाकार विस्तार में, मेरु पर्वत के बराबर मध्य में घनवात और घनोदधि के आधार पर छठा लान्तक देवलोक स्थित है।

देवों में भोग की प्रवृत्ति

छठे देवलोक के देवों में जब भोग की इच्छा होती है तब वे दूसरे देवलोक की अपरिगृहीता देवियों के विषय-जनक शब्द सुनने मात्र से ही तृप्त हो जाते हैं। वे अपरिगृहीता देवियों की आयु 15 पल्योपम से एक समय अधिक से पच्चीस पल्योपम तक होती है। ये देवियाँ ही ब्रह्मदेवलोक के देवों के भोग में आती हैं।[138]

7. महाशुक्र देवलोक

छठे देवलोक की सीमा पर पाव रज्जु ऊपर और रज्जु घनाकार विस्तार में मेरुपर्वत के बराबर मध्य में घनवात और घनोदधि के आधार पर सातवाँ महाशुक्र देवलोक अवस्थित है। इस लोक का आकार पूर्णचन्द्र के समान है।[139]

महाशुक्र देवलोक में जाने के हेतु

महान् और उत्कृष्ट तपों को धारण करने वाला जीव ही महाशुक्र सातवें स्वर्ग में जाते है। महान तपों में सुदर्शन और आचाम्लवर्द्धन तपों के उपवास करने वाले आते हैं। महाशुक्र स्वर्ग में सोलह सागर प्रमाण की आयु को भोग करता हुआ जीव सुखमय जीवन व्यतीत करता है। आदिपुराण में वर्णित प्रहसित और विकसित दोनों ने सुदर्शन और आचाम्लवर्द्धन व्रतों को धारण किया। विकसित ने नारायण पद प्राप्त करने के लिए निदान (मरने से पहले मन में संकल्प करना कि मेरी करणी का फल या मेरे तप का फल यह हो, मैं मर कर नारायण या चक्रवर्ती बनूँ) भी किया था। दोनों मर कर महाशुक्र स्वर्ग में इन्द्र और प्रतीन्द्र पद को प्राप्त हुए।[140]

देवों में काम-भोग की प्रवृत्ति

सातवें देवलोक के देवताओं को जब काम भोग की इच्छा जागृत होती है, तब वे पहले देवलोक की अपरिगृहीता देवियों के अंगोपांग को देखने मात्र से ही तृप्त हो जाते हैं। उन देवियों की आयु 20 पल्योपम से एक समय अधिक से 30 पल्योपम तक होती है। वे देवियाँ ही सातवें देवलोक के देवों के भोग में आती है।[141]

8. सहस्त्रार देवलोक

सातवें देवलोक की सीमा से पाव रज्जु ऊपर सात रज्जु घनाकार विस्तार में जम्बूद्वीप में मेरुपर्वत के बराबर मध्य में घनवात और घनोदधि के आधार से, आठवाँ सहस्त्रार देवलोक अवस्थित है। इसका आकार पूर्ण चन्द्र के समान है।

देवों में भोग प्रवृत्ति

इस देवलोक के देवता ईशान नामक दूसरे देवलोक की अपरिगृहीता देवियों को देखने मात्र से ही काम-भोगों की तृप्ति कर लेते हैं। वे 25 पल्योपम से समयाधिक और 35 पल्योपम तक की आयु वाली देवियों का भोग करते हैं। अर्थात् आठवें देवलोक के देव उन देवियों के अंगोपांगों को देखने से ही तृप्त हो जाते हैं और आठवें देवलोक वाले देव पहले दूसरे देवलोक की अपरिगृहीता देवियों को अपने स्थान पर ले जा सकते हैं।[142]

9-10 आणत प्राणत देवलोक

आठवें देवलोक की सीता से पाव रज्जु ऊपर 12 रज्जू घनाकार विस्तार में मेरु से दक्षिण दिशा में नौवा-दसवाँ आणत-प्राणत देवलोक स्थित है।[143]

प्राणत देवलोक में जाने के हेतु

प्राणत स्वर्ग में वही जीव उत्पन्न हो सकते हैं जो व्यक्ति जीवन में मर्यादा करते हैं और विषय भोगों से विरक्त होकर जो संयम धारण करते हैं अर्थात् गृहस्थ धर्म को छोड़कर मोह, माया, परिवार, घर बार का त्याग करते हैं और अपने जीवन को तप में लगा लेते हैं, कनकावली जैसे महान तप को धारण करते हैं वे मरकर प्राणत स्वर्ग में इन्द्र बनते है।[144]

संयम (पाँच महाव्रत का धारक) पालने वाला और अनेक प्रकार के तपों को करने वाला साधक अन्तिम अवस्था में शरीर त्याग कर प्राणत स्वर्ग में उत्पन्न होता है और सुखपूर्वक आयु का भोग करता है।[145]

देवों में भोग प्रवृत्ति

नौवें देवलोक के देव प्रथम देवलोक की अपरिगृहीता देवियाँ जिनकी आयु 30 पल्योपम से एक समय अधिक से 40 पल्योपम तक की होती है, उनका भोग करते हैं। नौवें देवलोक के देव जब अपने स्थान पर भोग की इच्छा करते हैं तो ऊपर कही हुई अपरिगृहीता देवियों का मन देवों की ओर आकर्षित हो जाता है। वे देव उनके विकारयुक्त मन का अवधिज्ञान से अवलोकन करने मात्र से तृत्प हो जाते हैं और प्राणत देवलोक में दूसरे देवलोक की अपरिगृहीता देवियाँ, जिनकी आयु 35 पल्योपम से समयाधिक और 45 पल्योपम तक है, उनका ऊपर कहे अनुसार ही भोग करते हैं।[146]

11-12 आरण और अप्युत देवलोक

नौवें और दसवें देवलोक की सीमा से आधा रज्जु ऊपर 10 रज्जु घनाकार विस्तार में, मेरु से दक्षिण दिशा में ग्यारहवाँ "आरण" देवलोक है और उत्तर दिशा में बारहवाँ "अच्युत" देवलोक है। इनका आकार अर्धचन्द्र के समान है।[147]

अच्युत स्वर्ग में जाने के हेतु

जो गृहस्थ धर्म के बारह व्रतों (पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षा व्रत) का पालन करते हैं अर्थात् सम्यग्दर्शन से पवित्र व्रतों को शुद्धता से पालन करते हैं। जीवन के अन्तिम समय में, परिग्रह से रहित होकर संन्यासवृत्ति का पालन करते हैं और समाधिपूर्वक देह का त्याग करने वाले अच्युत देवलोक को प्राप्त होते हैं और अनेक ऋद्धियों को प्राप्त करते हैं।

बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग कर निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) दीक्षा धारण करने वाले जीव अच्युत स्वर्ग से प्रतीन्द्र पद को प्राप्त होते हैं।[148] अथवा जो व्यक्ति रत्नत्रय की उपासना करता है वह समृद्धि वाले अच्युत स्वर्ग को प्राप्त होता है।[149]

आरण और अच्युत स्वर्गों के भोग प्रवृत्ति में भिन्नता

ग्यारहवें-बारहवें देवलोक के देवों की जब भोग-विलास करने की इच्छा होती है, तब दोनों देवलोकों के देव अपने स्थान पर ही प्रथम और दूसरे देवलोक की अपरिगृहीता देवियों के मन को अपनी और आकर्षित कर लेते हैं। उनके अंगोपांग को देखने मात्र से ही देवों की भोग से तृप्ति हो जाती है।

ग्यारहवें देवलोक के देवों के लिए पहले सौधर्म देवलोक की अपरिगृहीता देवियाँ आती हैं, जिनकी आयु 40 पल्योपम से एक समय अधिक से 50 पल्यौपम तक होती है वे भोग में आती है। बारहवें देवलोक के देवों के लिए दूसरे देवलोक की अपरिगृहीता देवियाँ वहाँ आती हैं जिनकी आयु 45 पल्योपम से समयाधिक तथा 55 पल्येपम तक होती है। वे ही बारहवें देवलोक के देवों के भोग में आती हैं।[150]

स्थानाङ्ग सूत्र में देवलोकों में जाने के चार कारण कहे गये हैं –

1. सराग संयम, 2. संयमासंयम, 3. बाल तप कर्म, 4. अकाम निर्जरा।

1. **सराग संयम** – कषाय सहित चारित्र का पालन करने से अर्थात् संयम पालन करने से देवलोक की प्राप्ति होती है।

2. **संयमासंयम** – श्रावक वृत्ति एवं गृहस्थ धर्म का पालन करने से देवलोक की प्राप्ति होती है।

3. **बालतप कर्म** – अज्ञानतापूर्वक तप करने से जीव देवायु का बन्ध करता है।

4. **अकाम निर्जरा** – अनिच्छा से ब्रह्मचर्य, तप एवं सहनशीलता का होना, बिना इच्छा से भूख-प्यास, गर्मी-सर्दी कष्ट आदि का सहन करना अकाम निर्जरा है। ये चार कारण देवायु बन्ध के कहे गये हैं। बाल तपकर्म और अकाम निर्जरा से जो देवायु का बन्ध करते हैं वे आराधक देव नहीं क्योंकि आराधक भाव तो सम्यग्दर्शन पर ही निर्भर है। उसके बिना ज्ञान नहीं, ज्ञान के बिना सम्यक् चारित्र नहीं, उसके बिना आराधक होना असम्भव है। आराधक अवस्था में बन्धी हुई आयु ही महत्त्वपूर्ण मानी जाती है।[151]

अच्युत स्वर्ग में जाने के हेतु

जीव द्वारा किये अशुभ कर्मों की जब निर्जरा होती है, उस निर्जरा का महत्त्वपूर्ण कारण तप को ही बताया गया है। संयमवृत्ति (पाँच महाव्रतों) को धारण करके और उत्कृष्ट रत्नावली तप सर्वतोभद्र नामक तप और सिंह निष्क्रीडित नामक तप विधिपूर्वक करके तथा तीन ज्ञानों को धारण करके - मति, श्रुत, अवधि ज्ञान को पाकर जीव अच्युत नामक बारहवें स्वर्ग को प्राप्त करता है।[152]

अच्युत स्वर्ग में ऋद्धियाँ

अच्युत स्वर्ग में अणिमा, महिमादि आठ गुण, ऐश्वर्य और दिव्य भोग होते हैं।[153] देवता सुख भोग करते हुए चिरकाल तक बारहवें स्वर्ग में क्रीड़ा करते हैं।[154]

उपर्युक्त बारह स्वर्गों के अतिरिक्त चौदह देवलोक कल्पातीत कहलाते हैं। वे इस प्रकार से हैं –

(क) नव ग्रैत्रेयक (ख) पाँच अनुत्तर।

(क) नव ग्रैवेयक

लोकपुरूष की ग्रीवा (गर्दन) पर स्थित होने से ये विमान ग्रैवेयक कहलाते हैं। ग्यारहवें-बारहवें देवलोक की सीमा से दो रज्जु ऊपर आठ रज्जु घनाकार विस्तार में गागर बेवड़े के आकार, एक दसूरे के ऊपर आकाश के आधार पर ग्रैवेयक देवलोक स्थित है। ग्रैवेयक नौ प्रकार के होते हैं – नव ग्रैवेयक की तीन-तीन की तीन त्रिक हैं। पहले सबसे नीचे की त्रिक आती है। उनके नाम इस प्रकार है –

(क) भद्र (ख) सुभद्र (ग) सुजात।

इस त्रिक में 111 विमान हैं। पहली तीन त्रिक (भाग) में असंख्यात योजन ऊपर दूसरी (मध्यम) त्रिक है। इनके नाम इस प्रकार हैं –

(घ) सुमानस (ङ) प्रियदर्शन (च) सुदर्शन।

इसमें 107 विमान होते हैं।

इससे ऊपर तीसरी (उपरिम) त्रिक है। उनमें नाम इस प्रकार हैं –

(छ) अमोघ (ज) सुप्रतिबद्ध (झ) यशोधर।

इस त्रिक में 100 विमान हैं। इन तीनों त्रिकों में 9 प्रतर है।[155] वे सभी विमान एक हजार योजन के ऊँचे और 2200 योजन की अंगनाई वाले हैं।[156] इन विमानों का वर्ण सफेद है।[157]

नवग्रैवेयक की आयु की स्थिति

नाम	जघन्य	उत्कृष्ट
प्रथम ग्रैवेयक	22 सागरोपम	23 सागरोपम
द्वितीय ग्रैवेयक	23 सागरोपम	24 सागरोपम
तृतीय ग्रैवेयक	24 सागरोपम	25 सागरोपम
चतुर्थ ग्रैवेयक	25 सागरोपम	26 सागरोपम
पञ्चम ग्रैवेयक	26 सागरोपम	27 सागरोपम
षष्ठ ग्रैवेयक	27 सागरोपम	28 सागरोपम
सप्तम ग्रैवेयक	28 सागरोपम	29 सागरोपम
अष्ठम ग्रैवेयक	29 सागरोपम	30 सागरोपम
नवम ग्रैवेयक	30 सागरोपम	31 सागरोपम[158]

सौधर्म देवलोक से नवग्रैवेयक अर्थात् इक्कीसवें देवलोक तक के देवों में तीनों दृष्टियां (सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि) होती हैं।[158अ]

शरीर परिमाण

नव ग्रैवेयक देवलोक के देवों के शरीर का परिमाण दो हाथ का है।[159]

लेश्या

नवग्रैवेयक देवों में शुक्ल लेश्या होती है।[160]

तेरहवें स्वर्ग में जाने का कारण

जीव रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र) रूपी सम्पदा की आराधना करने वाला और तप करने वाला अर्थात् रत्नत्रय का आराधक और तपस्वी तेरहवें स्वर्ग अर्थात् नीच के ग्रैवेयक में उत्पन्न होकर अहमिन्द्र पद को प्राप्त करता है। तप से महान फल की प्राप्ति होती है।[161]

21-26. पाँच अनुत्तर

पाँचों विमान सब विमानों में उत्कृष्ट और सबसे ऊपर होने के कारण अर्थात् जिससे ऊपर कोई विमान न हो वे अनुत्तर विमान कहलाते हैं।

ग्रैवेयक की सीमा से एक रज्जु 6 ऊपर रज्जु घनाकार विस्तार में चार दिशाओं में चार विमान हैं। ये 1100 योजन ऊँचे और 2100 योजन की अँगनाई वाले तथा असंख्यात योजन लम्बे चौड़े हैं। इन चारों विमानों के मध्य में एक लाख योजन लम्बा-चौड़ा और गोलाकार पाँचवाँ विमान हैं।[162]

इन पाँचों विमानों के नाम इस प्रकार हैं –

(क) पूर्व में विजय

(ख) दक्षिण में वैजयन्त

(ग) पश्चिम में जयन्त

(घ) उत्तर में अपराजित

(ङ) मध्य में सर्वार्थसिद्ध विमान है।

लेश्या

पाँच अनुत्तर विमानों के देवों में परम शुक्ल लेश्या होती है।

दृष्टियाँ

अनुत्तर विमानों के देव सम्यग्दृष्टि वाले होते हैं। मिथ्यादृष्टि और मिश्र दृष्टि वाले नहीं होते।[163]

शरीर का परिमाण

पाँचों अनुत्तर विमान के देवों का देहमान या शरीर का परिमाण एक हाथ होता है और समचतुरस्र संस्थान होता है।[164]

पाँचों विमानों के देव की आयु स्थिति

	जघन्य	उत्कृष्ट
पहला विजय विमान	31 सागरोपम	33 सागरोपम
दूसरा वैजयन्त विमान	31 सागरोपम	33 सागरोपम
तीसरा जयन्त विमान	31 सागरोपम	33 सागरोपम
चौथा अपराजित विमान	31 सागरोपम	33 सागरोपम

तालिका

	सौधर्म	ईशान	सनत्कुमार	महेन्द्र	ब्रह्म	लान्तक	महाशुक्र	सहस्रार	आणत	प्राणत	आस	अच्युत
शरीर का परिमाण	सात हाथ	सात हाथ	छह हाथ	छह हाथ	पाँच हाथ	पाँच हाथ	पाँच हाथ	चार हाथ	चार हाथ	चार हाथ	चार हाथ	चार हाथ
आयु जघन्य	2 पल्योपम	4 पल्योपम से कुछ अधिक	2 सागरोपम	2 सागरोपम से कुछ अधिक	7 सागरोपम	10 सागरोपम	14 सागरोपम	17 सागरोपम	18 सागरोपम	19 सागरोपम	20 सागरोपम	21 सागरोपम
उत्कृष्ट	2 सागरोपम	2 सागरोपम से कुछ अधिक	7 सागरोपम	7 सागरोपम से कुछ अधिक	10 सागरोपम	14 सागरोपम	17 सागरोपम	18 सागरोपम	19 सागरोपम	20 सागरोपम	21 सागरोपम	22 सागरोपम
लेश्या	तेजो	तेजो	पद्म	पद्म	पद्म	शुक्ल	शुक्ल	शुक्ल	शुक्ल	शुक्ल	शुक्ल	शुक्ल
दृष्टियाँ	सम्यक मिथ्या, मिश्र तीनों दृष्टियाँ	तीनों ही	तीनों ही	तीनों ही	तीनों ही	तीनों ही	तीनों ही	तीनों ही	तीनों ही	तीनों ही	तीनों ही	तीनों ही
चिह्न	मृग	महिष	बराह (शूकर)	सिंह	अज	दादुर दर्दुर (मैंढक)	अश्व	गज	सर्प	गैंडा	शारपा मृग (या) वृषभ	विडिम

पाँचवें सर्वार्थसिद्ध विमान की अजघन्योत्कर्ष आयु 33 सागरोपम की होती है।[165]

सर्वार्थसिद्ध का स्वरूप

सर्वार्थसिद्ध विमान लोक के अन्तिम भाग से बारह योजन नीचा है, यह सर्वार्थ सिद्ध विमान लोक के सबसे अग्र भाग में स्थित है और सबसे उत्कृष्ट है। इस सर्वार्थ सिद्ध विमान की लम्बाई, चौड़ाई और गोलाई जम्बूद्वीप के बराबर है। सर्वार्थसिद्ध विमान स्वर्ग के तिरेसठ पटलों के अन्त में चूड़ामणि रत्न (बहूमूल्य रत्न) के समान स्थित हैं।[166] इस विमान में उत्पन्न होने वाले जीवों की सभी मनोकामनाएँ अनायास ही सिद्ध हो जाती हैं। इसलिए इसका सर्वार्थसिद्धि नाम सार्थक है।[167]

सर्वार्थसिद्ध विमान के मध्य छत में एक चंदोवा 256 मोतियों का है। उन सब के बीच का एक मोती 64 मन का है। उसके चारों तरफ चार मोती 32-32 मन के हैं। इनके पास 8 मोती 16-16 मन के हैं। 16 मोती 8-8 मन के हैं। बत्तीस मोती 4-4 मन के हैं। 64 मोती 2-2 मन के हैं। 128 मोती एक एक मन के हैं। जब यह मोती हवा में आपस में टकराते हैं तो उनमें से छह राग और छत्तीस रागनियाँ निकलती हैं। जैसे-मध्याह्न का सूर्य सभी को अपने-अपने सिर पर दिखलाई देता है, उसी प्रकार यह चंदोवा भी सर्वार्थसिद्ध-निवासी सभी देवों को अपने-अपने सिर पर मालूम पड़ता है।[168]

सर्वार्थसिद्ध में जाने के हेतु

आदिपुराणकार ने बताया है कि जो साधक तत्त्वों का चिन्तन करता है, बारह भावनाओं (अनित्य, अशरणादि) को भाता है अर्थात् उन पर मनन करता है। जीवन के अन्तिम समय में शुभ विचारों या भावों को धारण करते हैं जिनकी लेश्याएँ बहुत विशुद्ध हो जाती हैं। शुभ पृथ्कत्व शुक्लध्यान को ध्याता हुआ और मोहनीय कर्म को उपशान्त करते हुए अन्त में उत्कृष्ट समाधिपूर्वक प्राण त्यागते हैं वे ही आत्माएँ सर्वार्थसिद्धि उत्कृष्ट विमान में उत्पन्न होती हैं।[169]

उपर्युक्त 12 स्वर्ग 9 ग्रैवेयक और 5 अनुत्तर विमान सब 26 स्वर्गों के कुल 62 प्रतर और 8497023 विमान हैं। सभी विमान रत्नमय हैं। वे सब अनेक स्तम्भों से परिमण्डित, भान्ति भान्ति के चित्रों से चित्रित, अनेक खूँटियों और लीलायुक्त पुतलियों से सुशोभित, सूर्य के समान जगमगाते हुए और सुगन्ध से मघमघायमान हैं। प्रत्येक विमान के चारों ओर बगीचे हैं जिनमें रत्नमय

बावड़ियाँ रत्नमय निर्मल जल और कमलों से मनोहर प्रतीत होती हैं। रत्नों के सुन्दर वृक्ष, बेलें, गुच्छें, गुल्म और तृण वायु से हिलते हैं। जब वे आपस में टकराते हैं तो उनमें से छह राग छत्तीस रागनियाँ निकलती हैं। वहाँ सोने-चांदी की रेत बिछी है और तरह तरह के आसन पड़े हैं। अति सुन्दर, सदैव नवयौवन से ललित, दिव्य तेज वाले, समचतुरस्त्र संस्थान के धारक, अति उत्तम मणि रत्नों के वस्त्रों के धारक, दिव्य अलंकृत देव और देवियाँ इच्छित क्रीड़ा करते हुए इच्छित भोग भोगते हुए पूर्वोपार्जित पुण्य के फल को भोगते हैं।[170]

जिस देव की जितने सागरोपम की आयु है वे उतने ही पक्ष में श्वासोच्छ्वास लेते हैं और उन्हें उतने ही हजार वर्षों में आहार ग्रहण करने की इच्छा होती है। जैसे सर्वार्थसिद्ध विमान के देवों की आयु 33 सागरोपम की है।[171] तो वे तैंतीस पक्ष में अर्थात् 16 महीनों में एक बार श्वासोच्छ्वास लेते हैं और 33 हजार वर्षों के बाद आहार ग्रहण किया करते हैं। देव कवलाहार नहीं करते, किन्तु रोमाहार करते हैं। अर्थात् जब उन्हें आहार की इच्छा होती है, तब रत्नों के शुभ पुद्गलों को रोमों द्वारा खींच कर तृप्त हो जाते हैं अर्थात् मानसिक दिव्य आहार ग्रहण करते हैं।[172]

समीक्षा

उपर्युक्त स्वर्ग और नरक की अवधारणा न केवल जैन धर्म में स्वीकार्य है अपितु हिन्दू धर्म में भी इसी प्रकार स्वीकार्य है। कर्म एवं पुनर्जन्म के कारण ही कर्म फल भोगने के लिए जीव को ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक में जाना ही पड़ता है। इस प्रकार कर्म फल को इंगित करता है और कर्म करने के बाद फल के रूप में प्राप्त होने वाले जन्म को यदि मनुष्य अपने कृत कर्मों के फल का भोग वर्तमान जीवन में नहीं कर पाता, तो शेष कर्मों के फलों को *भोगने के लिए नरक, तिर्यक् अथवा स्वर्गलोक में जन्म लेना ही पड़ता है।* इसलिए जाने अनजाने में शुभ और अशुभ कर्मों के फल भोगने के लिए इन *तीनों लोकों का चक्र बार-बार काटना पड़ता है। विभिन्न योनियों में जन्म लेने के लिए जीव को इन तीनों लोकों में जाना अनिवार्य हो जाता है। वहाँ जाना* इसलिए अनिवार्य है क्योंकि उसने अपने पूर्व कर्म का उपभोग नहीं किया है। इसलिए न केवल पुण्यकर्मों के फल भोग के लिए अपितु पापकर्मों के फल भोग के लिए भी पुनर्जन्म ग्रहण करना पड़ता है। इस पुनर्जन्म की चरितार्थता स्वर्ग नरक और तिर्यक लोक में ही हो सकती है। गीता (9.21) में तो स्पष्ट कहा गया है कि मनुष्य को अपने कर्मों के अनुसार स्वर्गलोक अथवा मृत्युलोक में आना-जाना ही पड़ता है। पुण्य एवं पाप दो परस्पर विरोधी कर्मों

के फलों का भोग एक साथ एक समय में नहीं भोग सकता अत: जीव स्वर्ग एवं नरक में जाकर भिन्न-भिन्न जन्म ग्रहण करते हुए उपभोग करता है। कर्म लिप्त आत्मा का जन्म के पश्चात् मृत्यु, मृत्यु के पश्चात् जन्म लेना यही भारतीय दर्शन की निश्चित मान्यता है। इसी के फलस्वरूप स्वर्ग एवं नरक सिद्धान्त की पुष्टि हो जाती है। यह अलग बात है कि भारतीय परम्परा में स्वर्ग अथवा नरक की परिकल्पनाएँ भिन्न-भिन्न रूप में स्वीकृत है। जैन दर्शन में छब्बीस स्वर्गों की परिकल्पना अपने में एक अनूठा उदाहरण है क्योंकि भारतीय इतर मान्यताओं में नरक और स्वर्गों के बारे में इतनी स्टीक विवेचना नहीं मिलती। न ही इतना सूक्ष्म गहन और विस्तार पूर्वक वर्णन मिलता है।

संदर्भ

1. वैत्रविष्टर झल्लर्यो मृदङ्गश्च यथाविद्या:।
   संस्थानैस्तादृशान् प्राहुस्त्रींल्लोकाननुपूर्वश:।। – आ.पु., 4.41
2. जै.सि.को., (भा. 3) पृ. 569
3. विपाक क्षेत्रमाम्नातं तद्धि दुष्कृतकर्मणाम्। – आ.पु., 10.8
4. शीतोष्णासद्धेद्योदयापादित वेदनया नरात् कायन्तीति शब्दायन्त इति नारका:। अथवा पापकृत: प्राणिन आत्यन्तिक दु:खं नृणन्ति न्यन्तीति नारकाणि औणादिक: कर्तर्यक:।
   – रा.वा. 2.50.2-3, 156.23
5. रत्नशर्कर वालुक्य: पङ्कधूमतम: प्रभा:।
   तमस्तम: प्रभाचेति सप्तार्थ: श्वभ्रभूमय:।। – आ.पु. 10.31; त.सू. 3.1
6. तांसा पर्यायनामानि धर्मा वंशा शिलाञ्जना।
   अरिष्टा मघवी चैव माघवी चैत्यनुक्रमात्।। – आ.पु. 10.32
7. त.सू. (के.मु.) 3.1 (टीका)
8. चित्रादि रत्न प्रभा सहचरिता भूमि: रत्नप्रभा। – स.सि. 3.1.203.7
9. त.सू. (के.मु.) 3.1-2 (वि.)
10. त.सू. (के.मु.) 3.1-2 (वि.)
11. वही।
12. त.सू. (के.मु.) 3.1-2 (वि.)
13. वही।
14. वही।
15. त.सू. (के.मु.) 3.1-2 (वि.)
16. हिंसायां निरता ये स्युर्ये मृषावादतत्परा:।
    चुराशीला: परस्त्रीषु ये रता मद्यपाश्च ये।।

ये च मिथ्यादृशः क्रूरा रौद्रध्यानपरायणाः।
सत्त्वेषु निरनुक्रोशा बह्वारम्भपरिग्रहाः।।
धर्मद्रुहश्च ये नित्यमधर्मपरिपोषकाः।
दूषकाः साधुवर्गस्य मात्सर्योपहताश्च ये।। – आ.पु. 10.22-24

17. रुष्यन्त्यकारणं ये च निर्ग्रन्थेभ्योऽतिपातकाः।
मुनिभ्यो धर्मशीलेभ्यो मधुमांसाशने रताः।।
वधकान् पोषयित्वान्यजीवानां येऽतिनिर्घृणाः।
खादका मधुमांसास्य तेषां ये चानुमोदकाः।।
ते नराः पापभारेण प्रविशन्ति रसातलम्।
विपाकक्षेत्रमेतद्धि विद्धि दुष्कृतकर्मणाम्।। – आ.पु., 10.25-27

18. स्था.सू. (आ.आ.रा.)4.160

19. जलस्थलचराः क्रूराः सोरगाश्च सरीसृपाः।
पापशीलाश्च मानिन्यः पक्षिणश्च प्रयान्त्यधः। – आ.पु. 10.28

20. प्रयान्त्यसंज्ञिनो धर्मां तां वंशां च सरीसृपाः।
पक्षिणस्ते तृतीयां च तां चतुर्थीं च पन्नगाः।।
सिंहास्तां पञ्चमीं चैव तां च षष्ठी च योषितः।
प्रयान्ति सप्तमीं ताश्च मर्त्या मत्स्याश्च पापिनः।। – आ.पु. 10.29-30

21. तत्र बीभत्सुनि स्थाने जाले मधुकृतामिव।
तेऽधोमुखाः प्रजायन्ते पापिनामुन्नतिः कुतः।।
तेऽन्तर्मुहूर्त्ततो गात्रं पूतिगीन्ध जुगुप्सितम्।
पर्यापयन्ति दुष्प्रेक्षं विकृताकृति दुष्कृतात्।। – आ.पु. 10.33-34

22. पर्याप्ताश्च महीपृष्ठे ज्वलदग्न्यतिदुःसहे।
विच्छिन्न बन्धनानीव पत्राणि विलुठन्त्यधः।। – आ.पु. 10.35

23. निपत्य च महीपृष्ठे निशितायुधमूर्धसु।
पूत्कुर्वन्ति दुरात्मानश्छिन्नसर्वाङ्गसन्धयः।। – आ.पु. 10.36

24. त.सू. 3.3 टीका।

25. भूम्युष्मणा च संतप्ता दुस्सहेनाकुलीकृताः।
तप्तभ्राष्ट्रे तिला यद्धत् निपतन्त्युत्पतन्ति च।। – आ.पु. 10.37

26. शीतोष्णनरकेष्वेषां दुःखं यदुपजायते।
तदसह्यमचिन्त्यं च बत केनोपमीयते।।
शीतं षष्ठ्यां च सप्तभ्यां पञ्चभ्यां तद्द्वयं मतम्।
पृथिवी पूषणमुद्दिष्टं चतसृष्वादिमासु च।। – आ.पु. 10.89-90

27. ततस्तेषां निकृन्तन्ति गात्राणि निशितायुधैः।
नारकाः परुषक्रोधास्तर्जयन्तोऽतिभीषणम्।।

तेषां छिन्नानि गात्राणि संधान यान्ति तत्क्षणम्।
दण्डाहतानि वारीणि यद्वद्विक्षिप्य शल्कशः।।

वैरमन्योऽन्यसम्बन्धि निवेद्यानुभवाद् गतम्।
दण्डांस्तदनुरूपांस्ते योजयन्ति परस्परम्।। – आ.पु. 10.38-40

28. चोदयन्त्यसुराश्चैनान् यूयं युध्यध्वमित्यरम्।
संस्मार्य पूर्ववैराणि प्राक्चतुर्थ्याः सुदारुणाः।। – आ.पु. 10.41

29. संक्लिष्टासुरो दीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः।। – त.सू. 3.5

30. मूषाक्कथिततााम्रादिरसान् केचित् प्रपायिताः।
प्रयान्ति विलयं सद्यो रसन्तो विरसस्वनम्।। – आ.पु. 10.43

31. केचित् स्वान्येव मांसानि खाद्यन्ते बलिभिः परैः।
विशय निशितैः शस्त्रैः परमांसाशिनः पुरा।।

संदंशकैर्विदार्यास्यं गले पाटिकया बलात्।
ग्रास्यन्ते तापितांल्लोहपिण्डान् मांसप्रियाः पुरा।। – आ.पु. 10.45-46

32. सैषा तव प्रियेत्युच्चैः तप्तायः पुत्रिकां गले।
आलिङ्गन्ते बलादन्यैरनलार्चिः कणाचिताम्।। – आ.पु. 10.47

33. इक्षुयन्त्रेषु निक्षिप्य पीड्यन्ते खण्डशः कृताः।
उष्ट्रिकासु च निष्क्काथ्य नीयन्ते रसतां परे।। – आ.पु. 10.44

34. टिप्पणी – ये गीध कुत्ते आदि जीव तिर्यंच गति के नहीं हैं किन्तु नारकी ही विक्रिया शक्ति से अपने शरीर में वैसा परिणमन कर लेते हैं। – आ.पु. 10.42

35. वज्रचञ्चूपुटैर्गृद्ध्राः कृन्तन्त्येतान् भयङ्करा।
श्वानश्चानर्जुनाः शूना दृणन्ति नखरैः खरैः।। – आ.पु. 10.42

36. तांस्तदालिङ्गनासंगात् क्षणमूर्च्छामुपागतान्।
तुदन्त्ययोमयैस्तोत्रैरन्ये मर्मसु नारकाः।। – आ.पु. 10.50

37. अरुष्करद्रवापूर्णनदीरन्ये विगाहिताः।
क्षणाद् विशीर्णसर्वाङ्गा विलुप्यन्तेऽम्बुचारिभिः।। – आ.पु. 10.54

38. विस्फुलिङ्गमयीं शय्यां ज्वलन्तीमधिशायिताः।
शेरते प्लुष्यमाणाङ्गा दीर्घनिद्रासुखेप्सया।। – आ.पु. 10.55

39. असिपत्रवनान्यन्ये श्रयन्त्युष्णार्दिता यदा।
तदा वाति मरुत्तीव्रो विस्फुलिङ्गकणान् किरन्।।

तेन पत्राणि पात्यन्ते सर्वायुधमयान्यरम्।।
तैश्छिन्नभिन्नसर्वाङ्गाः पूत्कुर्वन्ति वराककाः।। – आ.पु. 10.56-57

40. दार्यन्ते क्रकचैस्तीक्ष्णैः केचिन्मर्मास्थिसन्धिषु।
तप्तायः सूचिनिर्भिन्ननखाग्रोल्वणवेदनाः।। – आ.पु. 10.59

41. कांश्चिदुत्तुङ्गशैलाग्रात् पातितानतिनिष्ठुराः।
नारकाः परुषं घ्नन्ति शतशो वज्रमुष्टिभिः।। – आ.पु. 10.62

42. तप्तलोहासनेष्वन्याना सयन्ति पुरोद्धतान्।
शाययन्ति च विन्यासैः शिताय: कण्टकास्तरे।। – आ.पु. 10.65

43. इमे च परुषापाता गृध्रा नोऽभि द्रवन्त्यरम्।
भषन्त: सारमेयाश्च भीषयन्तेतरामिमे।। – आ.पु. 10.74

44. इत: परुष संताप पवनाधूननोत्थित:।
असिपत्रवने पत्रनिर्मोक्षपरुषध्वनि:।।

सोऽयं कण्टकितस्कन्ध: कूटशाल्मलिपादप:।
यस्मिन् स्मृतेऽपि नोऽङ्गानि तुद्यन्त इव कण्टकै:।। – आ.पु. 10.78-79

45. सैषा वैतरणी नाम सरित् सारुष्करद्रवा।
आस्तां तरणमेतस्या: स्मरणं च भयावहम्।। – आ.पु. 10.80

46. एते च नारकावासा: प्रज्वलन्त्यन्तरूष्मणा।
अन्धमूषास्विवावर्त्त नीयन्ते यत्र नारका:।।

दुस्सहा वेदनास्तीव्रा: प्रहारा दुर्धरा इमे।
अकाले दुस्त्यजा: प्राणा दुर्निवाराशचनारका:।। – आ.पु. 10.80-82

47. अक्ष्णोर्निमेषमात्रं च न तेषां सुखसंगति:।
दु:खमेवानुबन्धीदृग् नारकाणामहर्निशम्।। – आ.पु. 10.87

48. तदसह्यमचिन्त्यं च बत केनोपमीयते। – आ.पु. 10.89

49. त्रिंशत्पञ्चहता: पञ्चत्रिपञ्च दश च क्रमात्।
तिस्र: पञ्चभिरुनैका लक्षा: पञ्च च सप्तसु।।

नरकेषु बिलानि स्यु: प्रज्वलन्ति महान्ति च।
नारका येषु पच्यन्ते कुम्भीष्विव दुरात्मका:।। – आ.पु. 10.91-92

50. एकं त्रीणि तथा सप्तदश सप्तदशापि च।
द्वाविंशतिस्त्रयस्त्रिंशदायुस्तत्राब्धिसंख्यया।। – आ.पु. 10.93

51. धनूंषि सप्त तिस्र: स्युरत्न्योऽङ्गुलयश्च षट्।
घर्मायां नारकोत्सेधो द्विर्द्विश्शेषासु लक्ष्यताम्।। – आ.पु. 10.94

52. पोगण्डा हुण्डसंस्थाना: षण्ढका: पूतिगन्धय:।
दुर्वर्णाश्चैव दु:स्पर्शा दु:स्वरा दुर्भगाश्च ते।।

तमोमयैरिवारब्धा विरूक्षै: परमाणुभि:
जायन्ते कालकालाभा: नारका द्रव्यलेश्यया। – आ.पु. 10.95-96

52A. प्र.व्या.सू. (युवा. मधु. मु.) 1.1.24 पृ. 31; जीवा.भि.सू. (डा.रा.मु.) 1.32 पृ. 78

53. भावलेश्या तु कापोती जघन्या मध्यमोत्तमा।
नीला च मध्यमा नीला नीलोत्कृष्टा च कृष्णया।।

कृष्णा च मध्यमोत्कृष्टा कृष्णा चेति यथाक्रमम्।
घर्मादिसप्तमीं यावत् तावत्पृथिवीषु वर्णिता:।। – आ.पु. 10.97-98

54. यादृशः कटुकालाबुकाञ्जीराद्रिसमागमे।
रसः कटुरनिष्टश्च तद्गात्रेष्वपि तादृशः।। – आ.पु. 10.99

55. श्वमार्जारखरोष्ट्रादिकुणपानां समाहृतौ।
यद्वैगन्ध्यं तदप्येषां देहगन्धस्य नोपमा।। – आ.पु. 10.100

56. यादृशः करपत्रेषु गोक्षुरेषु च यादृशः।
तादृशः कर्कशः स्पर्शः तदङ्गेष्वपि जायते।। – आ.पु. 10.101

56A. जीवा.भि.सू. 3.2.87 पृ. 239

57. अपृथग् विक्रियास्तेषामशुभाद् दुरितोदयात्।
ततो विकृबीभत्सविरूपात्मैव सा मता।। – आ.पु. 10.102

58. ति.प. 2.343-346 (भावार्थ)

59. ह.पु. 4.376 (टीका)

60. त्रि.सा. 192

61. सप्तम्या निःसृता जीवा मानुषत्वं न जातुचित्।
लभन्ते च भवन्त्येव तिर्यंचः केवलं पुनः।। – सि.सा.सं. 6.79

62. षष्ठीतो निर्गता जीवा जायन्तेऽनन्तरे भवे।
मानुषा यदि ते नैव संयमेन विभूषिताः।। – सि.सा.सं. 6.80

63. संयमोऽपि भवत्येव पञ्चम्या आगतस्य च।
न कर्मन्तक्रिया तस्य दुःखभावविभाविनः।। – सि.सा.सं. 6.81

64. चतुर्थ्या निर्गतस्यास्य निर्वतिर्जायते क्वचित्।
न जातु तीर्थकारित्वं तथा शक्तेरभावतः।। – सि.सा.सं. 6.82

65. तीर्थकारित्वमप्यस्य जीवस्य जायते ध्रुवम्।
तृतीयाया द्वितीयायाः प्रथमानिर्गतस्य च।। – सि.सा.सं. 6.83

नरकान्निर्गतानां च तस्मिन्नेव भवे भवेत्।
चक्रित्वं वासुदेवत्वं बलदेवत्वमित्यपि।। – सि.सा.सं. 6.84

65A. प्रज्ञा.सू. 20.1458

66. उत्तरा. सू. - 36.50, 36-54

67. प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः। – त.सू. 3.35

68. द्वीपाब्धिभिरसंख्यातैर्द्विर्द्विर्विष्कम्भमाश्रितैः।
विभाति बलयाकारैर्मध्यलोको विभूषितः।।

मध्यमध्यास्य लोकस्य जम्बूद्वीपोऽस्ति मध्यगः।
मेरुनाभिः सुवृत्तात्मा लवणाम्भोधिवेष्टितः।।

सप्तभिः क्षेत्रविन्यासैः षड्भिश्च कुलपर्वतैः।
प्रविभक्तः सरिद्भिश्च लक्षयोजनविस्तृतः।। – आ.पु. 4.47-49;

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जंबूद्वीपः।
तत्र भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि।
तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनील-
रुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः। – त.सू. 3.9-11

69. उत्तरा.सू. 36.195-196
70. उत्तरा.सू. 36.196
71. जै.द.स्व और विश्ले. (दे.मु.) पृ. 45
72. वही।
73. त.सू. 4.1 (वि.)
74. स.सि., 4.1.239.4
75. पं.सं. 1.63
76. जै.त.प्र., (अ. ऋ जी.) पृ. 109-110
77. जै.त.प्र., (अ. ऋ जी.) पृ. 110
78. भगवती सं. 2.7;
कल्पेशज्योतिषां वन्यभवनानां च वेश्मसु। – आ.पु. 13.13
79. जीवा. भि.सू. (डा.रा.मु.) प्र.प्रति.सू. 42, पृ. 109-110
80. जीवा.भि.सू. (डा.रा.मु.) प्र.प्रति.सू. 42, पृ. 109-110
81. नव.त.-पृ. 39
82. प्र.सू. (युवा.मधु.मु.) प्र. प्रज्ञापनापद, सूत्र 139-147 (वि.)
83. जीवा.भि.सू. (डा.रा.मु.) प्र. प्रतिपत्ति, सू. 42, पृ. 110
84. वही।
85. जीवा.भि.सू. (डा.रा.मु.) प्र.प्रत्तिपत्ति, सू. 42, पृ. 110
86. वही।
87. प्र.सू. - (यु.मधु.मु.), प्र. प्रज्ञापनापद, सू. 139-147
त.सू. 4.20
88. त.सू. (के.मु.) 4.17-20 (वि.)
89. स.सि. 4.19
90. जै.सि.को., (भा. 4) पृ. 510
91. उत्तरा.सू. 19.8; 18.29; 5.24; 14.41;
जै.द.स्व. और विश्ले. (दे.मु.) पृ. 42-43
92. ततः सामानिकास्त्रायस्त्रिंशाः पारिषदामराः।
आत्म रक्षैः समं लोकपालास्तं परिवब्रिरे।। -- आ.पु. 13.18

93. जै.त.प्र. (अ. ऋ जी.) - पृ. 109;
इन्दन्त्यपरदेवानामसाधारणवृत्तित:।
आज्ञैश्वर्यगुणोपेता इन्द्रास्ते गदिता जिनै:।। – सि.सा.सं. 8.87

94. जै.त.प्र. - (अ.ऋ.जी.), पृ. 109

95. आ.पु. 6.9-25

96. पुरोहितमहामंत्रिस्थानीया ये दिवौकस:।
त्रयस्त्रिंशत्सुसंख्यानास्त्रायस्त्रिंशा भवन्त्यमी।। – सि.सा.सं. 8.89

97. अङ्गरक्षसमाना ये ते सर्वे ह्यात्मरक्षका:।। – सि.सा. सं. 8.91

98. जै.त.प्र. (अ. ऋ जी.) पृ. 109; सि.सा.सं. 8.90;

99. आ.पु. 13-18;
लोकैकपालनोद्युक्तालोकपाला भवन्त्यमी। – सि.सा.सं. 8.91

100. स्था.सू. 3.2.36 (विवेचनिका)

101. हस्त्यश्वरभगन्धर्वनर्त्तकीपत्तयो वृषा:।
इत्यमूनि सुरेन्द्राणां महानीकानि निर्ययु:।। – आ.पु. 13.16

102. जै. त.प्र., (अ. ऋ जी.) पृ. 109

103. आभियोग्यमता दासा देवा देवगतावपि। – सि.सा.सं. 8.92

104. जै.त. प्र (अ. ऋ जी.) पृ. 109; सप्तानीकभुवोऽनीका: प्रकीर्णा: पौरसन्निभा:।
–सि.सा. सं. 8.92

105. दिव्यभावे किलैतेषां सुखभाक्त्वं शरीरिणाम्।
तत्रापि त्रिदिवाद् वात: परं दु:खं दुरुत्तरम्।।
तत्रापीष्टवियोगोऽस्ति न्यूनास्तत्रापि केचन।
ततो मानसमेतेषां दु:खं दु:खेन लङ्घ्यते।। – आ.पु. 17.33-34

106. स्था.सू. 1.3.61, पृ. 498; आ.पु. 6.9-25

107. अहमिन्द्रोऽस्मि नेन्द्रोऽन्यो मत्तो–स्तीव्यात्त कत्थना:।
अहमिन्द्रोख्यया ख्यातिं गतास्ते हि सुरोत्तमा:।। – आ.पु. 11.143

108. आ. पु. 11.141-142

109. नासूया परनिन्दा वा नात्मश्लाघा न मत्सर:।
केवलं सुखसताद्भूता दीव्यन्ते ते प्रमोदिन:।। – आ.पु. 11.144

110. अणिमादिगुणै: श्लाघ्यां दधद्वैक्रियिकीं तनुम्।
स्वक्षेत्रे विजहारासौ जिनेन्द्रार्चा: समर्चयन्।। – आ.पु. 11.134

111. इति तत्राहमिन्द्रास्ते सुखं मोक्षसुखोपमम्।
भुञ्जाना निष्प्रवीचाराश्चिरमासन् प्रमोदिन:।।

पूर्वोक्तसप्रवीचारसुखानन्तगुणात्मकम्।
सुखमव्याहतं तेषां शुभकर्मोदयोद्भवम्।। – आ.पु. 11.161-162

112. अथ सौधर्मकल्पेशो महैरावतदन्तिनम्।
समारुहय समं शाम्या प्रच्स्थे विबुधैर्वृतः।। – आ.पु. 13.17

113. ति.प. 8.407-408

114. जै.त.प्र. – (अ.ऋ.जी.) पृ. 103

115. प्र.सू. ''यु.मधु.मु., द्वि.स्था. पृ. 173-174

116. आ.पु. 13.17

117. स्था.सू. 8.1.23

118. जै.त.प्र. - (अ.ऋ.जी.) पृ. 103-104

119. वही, पृ. 107

120. वही

121. त्वद्वियोगादहं जातनिर्वेदो बोधमाश्रितः।
दीक्षित्वाऽभूवमुत्सृष्टदेहः सौधर्मकल्पजः।। – आ.पु. 9.106

122. जै.त.प्र. - (अ.ऋ.जी.) पृ. 103

123. वही - (अ.ऋ.जी.) पृ. 103

124. वही - पृ. 104

125. जै.त.प्र. - (अ.ऋ.जी.), पृ. 108

126. आ.पु. 5.232, 5.247-254

127. कल्पेऽनल्पर्द्धिरैशाने श्रीप्रभाधिपसंयुता।
भोगान् भुक्त्वात्र जातेति कथापर्यवसानकम्।। – आ.पु. 6.159

128. जै.त.प्र. - (अ.ऋ.जी.), पृ. 107

129. वही. - पृ. 104-107

130. कृत्वानशनसञ्चर्यामवमोदर्यमप्यदः।
यथोचितनियोगेन योगेनान्तेऽत्यजत् तनुम्।।
माहेन्द्रकल्पेऽनल्पर्द्धिरभूदेष सुराग्रणीः।
अणिमादिगुणोपेतः सप्ताम्बुधिमितस्थितिः।। – आ.पु. 5.142-143;
त्यक्ताहारशरीरः सन्नुद्याने प्रीतिवर्द्धने।
संन्यासविधिनाऽजाये कल्पे माहेन्द्रसंज्ञिके।। – आ.पु. 7.11

131. जै.त.प्र.-(अ.ऋ.जी.) पृ. 104

132. आ.पु. 10.113-115:
जयसेनश्रुतिर्बुद्ध्वा विवाहसमये सुरात्।
श्रीधराख्यात् प्रवव्राज गुरुं यमधरं श्रितः।।

नारकीं वेदनां घोरां तेनासौ किल बोधितः।
निर्विद्य विषयासंगात् तपो दुश्चरमाचरत्।।

ततो ब्रह्मेन्द्रतां सोऽगात् जीवितान्ते समाहितः।
क्व नारकः क्वः देवोऽयं विचित्रा कर्मणां गतिः।। – आ.पु. 10.116-118

133. जै.त.प्र. - (अ.ऋ.जी.) - पृ. 20.104-107

134. इत्यष्टधा निकायाख्यां दधाना विबुधोत्तमाः।
प्राग्भवेऽभ्यस्तनिः शेषश्रुतार्थाः शुभभावनाः।।

ब्रह्मलोकालयाः सौम्याः शुभलेश्या महर्द्धिकाः।
तल्लोकान्तनिवासित्वाद् गता लौकान्तिकश्रुतिम्।। – आ.पु. 17.49-50

135. ते च सारस्वतादित्यौ वह्निनश्चारुण एव च।
गर्दतोयः सतुषितोऽव्याबाधोऽरिष्ट एव च।। – आ.पु. 17.48

136. आ.पु. 7.57

137. रज्जु 3 करोड़ 81 लाख 27 हजार 970 मन वजन का एक भार होता है। ऐसी 1000 भार अर्थात् 38 अरब 12 करोड़ 79 लाख 70 हजार मन वजन का लोहे का गोला 6 मास 6 दिन 6 प्रहर और 6 घड़ी में जितनी दूरी तर करे, उतनी लम्बी दूरी तक रज्जु की होती है। – त.सू. (के.मु.) 4.48-53 (वि)

138. जै.त.प्र. - (अ.ऋ.जी.) पृ. 107

139. जै.त.प्र. - (अ.ऋ.जी.) पृ. 103-107

140. गुरोस्तस्यैव पार्श्वे तौ गृहीत्वा परमं तपः।
सुदर्शनमथाचाम्लवर्द्धनं चाप्युपोषतुः।।

निदानं वासुदेवत्वे व्यधाद् विकसितोऽप्यभुत्।
कालान्ते तावजायेतां महाशुक्रसुरोत्तमौ।।

इन्द्रप्रतीन्द्रपदयोः षोडशाब्ध्युपमस्थिती।
तौ तत्र सुखसाद्भूतावन्वभूतां सुरश्रियम्।। – आ.पु. 7.77-79

141. जै.त.प्र. - (अ.ऋ.जी.) पृ. 107-108

142. वही. - (अ.ऋ.जी.) पृ. 107-108

143. जै.त.प्र. - (अ.ऋ.जी.) पृ. 106

144. बहुभिः खेचरैः सार्द्धं जगन्नन्दनशिष्यताम्।
प्रपद्य कनकावल्या प्राणतेन्द्रोऽभवद् विभुः।। – आ.पु. 7.39;

राज्यान्ते केशवेऽतीतेतपस्तप्त्वा महाबलः।
पार्श्वे समाधिगुप्तस्य प्राणतेन्द्रस्ततोऽभवत्।। – आ.पु. 7.83

145. जै.त.प्र. - (अ.ऋ.जी.), पृ. 106-109

146. जै.त.प्र. - (अ.ऋ.जी.), पृ. 106

147. पञ्चैवाणुव्रतान्येषां त्रिविधं च गुणव्रतम्।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि व्रतान्याहुर्गृहाश्रमे।। – आ.पु. 10.162

ततो दर्शनसंपूतां व्रतशुद्धिमुपेयिवान्।
उपासिष्ट स मोक्षस्य मार्गं राजर्षिरूर्जितम्।। – आ.पु. 10.168

केशवश्च परित्यक्तकृत्स्नबाह्येतरोपधिः।
नैः संगीमाश्रितो दीक्षामतीन्द्रोऽभवदच्युते।। – आ.पु. 10.171

148. त्रिज्ञानविमलालोकः कालान्ते प्रापमिन्द्रताम्।
कल्पेऽच्युते ह्यनल्पर्द्धौ द्वाविंशत्यब्धिजीवितः।। – आ.पु. 7.24

149. जै.त.प्र. - (अ.ऋ.जी.), पृ. 107-108

150. स्था.सू. 4.4.160

151. यथाविधि तपस्तप्त्वा सिंहनिष्क्रीडितं तपः।
सुदुश्चरं महोदर्कं सर्वतोभद्रमप्यदः।। – आ.पु. 7.23;

निर्वाणमगमत् पद्मावत्यार्या च प्रभावती।
समाश्रित्य तपस्तप्त्वा परं रत्नावलीमसौ।।

अच्युतं कल्पमासाद्य प्रतीन्द्रपदभागभूत्।
महीधरोऽपि संसिद्धविद्योऽभूदद्भुतोदयः।। – आ.पु. 7.31-32

152. आ.पु. 7.24

153. तत्राष्टगुणमैश्वर्यं दिव्यं भोगं च निर्विशन्।
स रेमे सुचिरं कालमच्युतेन्द्रोऽच्युतस्थितिः।। – आ.पु. 10.173

154. त.सू. - (के.मु.) 4.20 (वि.)

155. जै.त.प्र. - (अ.ऋ.जी.), पृ. 110

156. जीवा.भि.सू. - (डा. रा.मु.) 3.3.201 पृ. 545 वि.

157. जीवा.भि.सू. - (डा. रा.मु.) 3.3.204, पृ. 554 (विवेचन)

158. जीवा.भि.सू. - (युवा.श्री.म.मु.) 3.201 (ई) पृ. 106

159. वही, पृ. 548

160. वही, पृ. 549

161. ते सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राचारसंपदम्।
समाराध्य यथाकालं स्वर्गलोकमयासिषुः।।

अधो ग्रैवेयकस्याधो विमाने तेऽहमिन्द्रताम्।
प्राप्तास्तपोऽनुभावेन तपो हि फलतीप्सितम्।। – आ.पु. 9.92-93

162. जै.त.प्र. - (अ.ऋ.जी.), पृ. 111

163. जीवा.भि.सू. - (डा. रा.मु.) 3.3.201 (ई) पृ. 549

164. जीवा.भि.सू. - (डा. रा.मु.) 3.3.201 (ई.) पृ. 548;

समेन चतुरस्रेण संस्थानेनातिसुन्दरम्।
हस्तमात्रोच्छ्रितं देहं हंसाभं धवलं दधत्।। – आ.पु. 11.146,

165. जीवा.भि.सू. - (डा. रा.मु.) 3.3.204, पृ. 554 (विवेचन); - आ.पु. 11.146

166. द्विषट्कयोजनैर्लोकप्रान्तमप्राप्य यत्स्थितम्।
सर्वार्थसिद्धिनामाग्र्यं विमानं तदनुत्तरम्।।
जम्बूद्वीपसमायामविस्तारपरिमण्डलम्।
त्रिषष्टिपटलप्रान्ते चूडारत्नमिव स्थितम्।। – आ.पु. 11.112-113

167. यत्रोत्पन्नवतामर्थाः सर्वे सिद्धयन्त्ययत्नतः।
इति सर्वार्थसिद्धयाख्या यद्बिभर्त्यर्थयोगिनाम्।। – आ.पु. 11.114

168. जै.त.प्र. - (अ.ऋ.जी.) पृ. 111

169. धर्मस्वाख्याततां चेति तत्त्वानुध्यानभावनाः।
लेश्याविशुद्धिमधिकां दधानः शुभभावनः।।
द्वितीयवारमारुह्य श्रेणीमुपशमादिकाम्।
पृथक्त्वध्यानमापूर्य समाधिं परमं श्रितः।।
उपशान्तगुणस्थाने कृतप्राणविसर्जनः।
सर्वार्थसिद्धिमासाद्य संप्रापत् सोऽहमिन्द्रताम्।। – आ.पु. 11.109-111

170. जै.त.प्र. - (अ.ऋ.जी.) पृ. 112

171. स एष परमानन्दं स्वसाद्भूतं समुद्वहन्।
त्रयस्त्रिंशत्पयोराशिप्रमितायुर्महाद्युतिः।। – आ.पु. 11.145

172. त्रिसहस्राधिक त्रिंशत्सहस्राब्दव्यतिक्रमे।
मानसं दिव्यमाहारं स्वसात्कुर्वन् धृतिं दधौ।। – आ.पु. 11.152

चतुर्थ अध्याय

आदिपुराण में अजीव तत्त्व विमर्श

अजीव तत्त्व और उसके भेदोपभेद

जीव तत्त्व का प्रतिपक्षी अजीव तत्त्व है।[1] अजीव शब्द अनात्मा की तरह, जीव का निषेध परक है।[2] जो जीव नहीं है वह अजीव। जिसमें चेतना गुण का पूर्णतया अभाव है, जिसे सुख-दु:ख की अनुभूति नहीं होती है वह अजीव द्रव्य है।[3]

अजीव के भेद

अजीव तत्त्व के पाँच भेद हैं[4] –

1. धर्म 2. अधर्म 3. आकाश 4. पुद्गल 5. काल।

यहाँ काल को छोड़कर सभी अस्तिकाय विशेषण से जाने जाते हैं जैसे-धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय इत्यादि रूप से।

जिन द्रव्यों में बहुत से प्रदेश हों, वे अस्तिकाय कहलाते हैं।

''अस्ति'' शब्द क्रिया नहीं, ''अव्यय'' है। इसका अभिप्राय हैं सत्ता या सद्भावत्व। अस्तिकाय का अर्थ है वे द्रव्य जो अस्तित्ववान् हैं और साथ ही बहुप्रदेशी भी हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ऐसे ही द्रव्य हैं, जो अस्तिकाय भी है।

जीव की तरह यह अजीव भी अस्तिकाय हैं अर्थात् बहुप्रदेश-व्यापी शरीर वाला है। धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल तथा काल ये पाँच अजीव तत्त्व हैं। लेकिन, काल अस्तिकाय नहीं। इसी प्रकार पुद्गल भी मूलत: एक प्रदेश रूप है प्रदेशों का प्रचय नहीं। पुनरपि इस पुद्गल के प्रत्येक गुण में प्रचयरूप होने की शक्ति है। इसीलिए इसकी गणना अस्तिकाय में हैं।

1. धर्म : धर्म का लक्षण – जीव और पुद्गलों के गमन में जो सहायक कारण होता है उसे धर्म कहते हैं।[5]

जिस प्रकार मछली को तैरने में पानी सहायक होता है उसी प्रकार जड़ पदार्थों की तथा जीवों की गति में सहायक धर्म द्रव्य को माना जाता है।[6]

धर्मास्तिकाय क्रियारहित है अर्थात् इसमें न तो क्रियाशीलता है और न यह किसी दूसरे पदार्थ से ही क्रिया उत्पन्न करता है किन्तु क्रियाशील जीव तथा पुद्गलों की क्रिया में सहायता प्रदान करता है। यह द्रव्य उसी प्रकार क्रिया में सहायक होता है जिस प्रकार मछलियों को चलने के लिए जल।

2. अधर्म : अधर्म के लक्षण – जीव और पुद्गल के स्थित होने में जो सहकारी कारण हो उसे अधर्म कहते हैं। धर्म और अधर्म ये दोनों ही पदार्थ अपनी इच्छा से गमन करते और ठहरते हुए जीव तथा पुद्गल के गमन करने और ठहरने में सहायक होकर प्रवृत्त होते है स्वयं किसी को प्रेरित नहीं करते हैं।[7]

अधर्मास्तिकाय का कार्य धर्मास्तिकाय से विपरीत है। यह जीव पुद्गल को ठहरने में सहायता देता है इसे Fulcoum of rest कहा जाता है।

यदि अधर्मास्तिकाय न हो तो एक बार गति में आई वस्तु कभी रुकेगी नहीं। सदा चलती रहेगी।

धर्मास्तिकाय भी ठहरने का उदासीन हेतु है, ठीक वृक्ष की छाया की तरह। वृक्ष पथिक को ठहरने के लिए प्रेरित नहीं करता किन्तु यदि पथिक विश्रान्ति लेना चाहे तो छाया उसकी सहायक होती है।[8]

3. आकाश : आकाश का लक्षण – जीवादि पदार्थों को ठहरने के लिए जो स्थान देता है उसे आकाश कहते हैं। वह आकाश स्पर्श रहित है, अमूर्तिक है, सब जगह व्याप्त होने से सर्वव्यापी है और क्रियारहित है।[9]

जो द्रव्य जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल को स्थान देता है अर्थात् अवगाह देता है वह आकाश है।[10] आकाश द्रव्य अन्य सब द्रव्यों में बड़ा स्कन्ध है क्योंकि यह अनन्त प्रदेश परिमाण वाला है।[11]

आकाश को लोकाकाश और अलोकाकाश दो भागों में विभक्त किया गया है। जहाँ धर्म और अधर्म पदार्थ स्थित है अर्थात् जहाँ पाप और पुण्य का फल देखा जाता है वहाँ तक के प्रदेश को लोक कहते है।[12] इन दो पदार्थों के सहयोग से ही लोक के जीव एवं पुद्गल पदार्थों की क्रिया हो रही है उसे लोकाकाश कहते हैं। लोक के बाहर का प्रदेश अलोक कहलाता है। अलोक में दो पदार्थ धर्म, अधर्म के न होने के कारण वहाँ एक भी अणु अथवा एक भी जीव नहीं है और लोक में से कोई भी अणु अथवा जीव अलोक में नहीं जा सकते, क्योंकि अलोक में धर्म और अधर्म पदार्थ नहीं है। अब प्रश्न उठता है

कि अलोक में क्या है। तो उत्तर मिलता है वहाँ कुछ भी नहीं है केवल आकाश रूप ही है। जिस आकाश के किसी भी प्रदेश में कोई वस्तु न हो वहाँ शुद्धमात्र आकाश ही अलोक है। आकाश द्रव्य विस्तार में अनन्त है अर्थात् उसका कहीं अन्त ही नहीं है।[13] जैसे जल के आशय स्थान को जलाशय कहते हैं इसी प्रकार लोक के आकाश को लोकाकाश कहते हैं। जब आकाश एक है, अखण्ड है तब उसके दो भाग कैसे हो सकते है। लोकाकाश और अलोकाकाश का जो विभाजन है वह अन्य द्रव्यों की दृष्टि से है, आकाश की दृष्टि से नहीं। जहाँ पर जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल रहते हैं, वहीं पुण्य और पाप का फल देखा जाता है। इसलिए वही लोकाकाश है। जिस आकाश में यह सभी नहीं होता वह अलोकाकाश है। वैसे सारा आकाश एक है, अखण्ड है, सर्वव्यापी है। उसमें कोई भेद नहीं हो सकता। भेद का आधार अन्य है आकाश की दृष्टि से लोकाकाश और अलोकाकाश में भेद नहीं है। आकाश सर्वत्र एक रूप है।

लोकाकाश में असंख्यात प्रदेश हैं और अलोकाकाश में अनन्त प्रदेश हैं, अनन्त प्रदेश में से असंख्यात प्रदेश निकाल देने से जो प्रदेश बचते हैं, वे भी अनन्त हो सकते हैं। क्योंकि अनन्त बहुत बड़ा है। इतना ही नहीं अनन्त में से अनन्त निकाल देने पर भी अनन्त रह सकता है क्योंकि अनन्त परितानन्त, युक्तानन्त और अनन्तानन्त के भेद से तीन प्रकार का है।[14]

धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनों सर्वलोक व्यापी हैं तो इनमें परस्पर व्याघात क्यों नहीं होता। व्याघात हमेशा मूर्त पदार्थों में होता है, अमूर्त पदार्थों में नहीं। धर्म, अधर्म और आकाश अमूर्त है। अतः वे एक साथ निर्विरोध रह सकते हैं।

आकाश अन्य द्रव्यों को अवकाश देता है, यह ठीक है किन्तु आकाश को कौन अवकाश देता है। आकाश स्वप्रतिष्ठित है। उसके लिए किसी अन्य द्रव्य की आवश्यकता नहीं। यदि ऐसा है तो सभी द्रव्यों को स्वप्रतिष्ठित क्यों न मान लिया जाये। इसका उत्तर यह है कि निश्चय दृष्टि से तो सभी द्रव्य आत्म-प्रतिष्ठित है। व्यवहार दृष्टि से अन्य आकाशाश्रित हैं। इन द्रव्यों का सम्बन्ध अनादि है। अनादि सम्बन्ध होते हुए भी इनमें शरीर हस्तादि की तरह आधाराधेय भाव घट सकता है। आकाश अन्य द्रव्यों से अधिक व्यापक है, अतः यह सबका आधार है।

आकाश को कुछ दार्शनिकों ने स्वतन्त्र द्रव्य माना है और कुछ ने नहीं माना। उनमें से किसी ने भी जैन दर्शन की तरह लोकाकाश और अलोकाकाश के रूप में नहीं माना।[15]

4. पुद्गल : पुद्गल का लक्षण – जिसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श पाया जाये, उसे पुद्गल कहते हैं। पूरण और गलन रूप स्वभाव होने से पुद्गल नाम सार्थक हैं।[16]

पूर्ण होना अर्थात् मिलना, बद्ध होना, गलन अर्थात् पृथक् होना - बिछुड़ना। जो मिले तथा जुदा हो वह पुद्गल है।[17]

धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार पदार्थ मूर्ति से रहित हैं, पुद्गल द्रव्य मूर्ति है - मूर्त का अर्थ है जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण हो। अर्थात् जिसमें पाँच इन्द्रियों में से किसी भी इन्द्रिय के द्वारा जिसका स्पष्ट ज्ञान हो उसे मूर्ति कहते हैं, पुद्गल को छोड़कर और किसी पदार्थ का इन्द्रियों के द्वारा स्पष्ट ज्ञान नहीं होता। इसलिए पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है शेष द्रव्य अमूर्तिक हैं।[18]

जो गलन पूरण स्वभाव सहित है वह पुद्गल है।[19] यहाँ स्निग्ध या रूक्ष कणों की संख्या वृद्धि का नाम पूरण तथा उनकी संख्या हानि का नाम गलन है।

शब्द, रस, गन्ध और वर्ण वाले पुद्गल होते हैं।[20] शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप (धूप) और उद्योत (चन्द्र का प्रकाश) वाले भी पुद्गल होते हैं यह सभी पुद्गल के ही पर्याय हैं।

पुद्गलास्तिकायरूपी है।[21] रूपी का अर्थ होता है मूर्त। मूर्त वह है जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध ओर वर्ण हो। परन्तु रूपी अथवा मूर्तिक का अर्थ है जिसे चर्मचक्षुओं से देखा जा सके लेकिन देखा जाना सम्भव नहीं या दिखाई देने योग्य मानना संगत नहीं है क्योंकि पुद्गल-परमाणु इतना सूक्ष्म होता है कि चर्म-चक्षुओं से दृष्टिगोचर हो ही नहीं सकता। सूक्ष्म पुद्गल तो देखना बहुत दूर की बात है, अनन्तानन्त सूक्ष्म परमाणुओं के मेल से बना व्यवहार परमाणु भी दृष्टिगोचर नहीं होता।[22]

केवली भगवान ही उस परमाणु को प्रत्यक्ष जान सकते हैं।

पूरणात् गलनात् इति पुद्गलाः परमाणवः[23] - पुद्गल परमाणु मिलते है तथा अविलग होते हैं। संघबद्ध होना - स्कन्धरूप होना, बिछुड़ना-पृथक् होना - यह पुद्गल का स्वभाव या प्रकृति है। पुद्गल द्रव्य का यह नामकरण उसके इन्हीं गुण के कारण हुआ है।

पुद्गल के प्रकार – पुद्गल दो प्रकार के होते है[24]–

(क) स्कन्ध (ख) परमाणु[25]

(क) स्कन्ध – स्कन्ध का अर्थ – अखण्ड द्रव्य। धर्म, अधर्म और आकाश इन तीन अस्तिकायों में स्कन्ध घटित होता है। स्निग्ध, रूक्ष अणुओं का जो समुदाय है उसे स्कन्ध कहते हैं।

(ख) परमाणु – पुद्गल द्रव्य का विस्तार दो परमाणुओं वाले द्व्यणुक स्कन्ध से लेकर अनन्तानन्त परमाणु वाले महास्कन्ध तक होता है। छाया, आतप, अन्धकार, चाँदनी, मेघ आदि सब उसके भेद-प्रभेद हैं। परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं। वे इन्द्रियों से नहीं जाने जाते। घट-घटादि परमाणुओं के कार्य हैं, उन्हीं से अनुमान किया जाता है। उनमें कोई भी दो अविरुद्ध स्पर्श रहते हैं, एक वर्ण, एक गन्ध और एक रस रहता है। वे परमाणु गोल और नित्य होते हैं तथा पर्यायों की अपेक्षा अनित्य भी होते हैं।[26]

स्कन्ध, देश, प्रदेश, परमाणु के आधार पर पुद्गल के चार भेद भी निरूपित हैं –

स्कन्ध – दो प्रदेशी स्कन्ध से लेकर अनन्त प्रदेशी, स्कन्ध तक जितने भी स्कन्ध हैं वे सब स्कन्ध कहलाते हैं।

देश – स्कन्ध का एक कल्पित भाग अर्थात् प्रत्येक स्कन्ध के बुद्धि द्वारा किए हुए कल्पित भाग को देश कहते हैं।

प्रदेश – जिस अंश का बुद्धि द्वारा भी विभाग न हो सके, वह प्रदेश है।

परमाणु – वही प्रदेश जब स्कन्ध से अलग हो जाता है तब उसी को परमाणु कहा जाता है।

जीव औदारिक आदि पुद्गलों को ग्रहण करते हैं। मन, वाणी, काया, श्वासोच्छ्वास तथा अष्टविध कर्म और इन्द्रियाँ ये सब पुद्गल हैं। सभी संसारी जीव पुद्गलों को योग और कषायों से ग्रहण करते हैं, क्योंकि संसारी जीव पुद्गली हैं और पुद्गली ही पुद्गल को ग्रहण करते हैं। परमात्मा (सिद्ध भगवान्) पुद्गली नहीं है, अतः वे पुद्गलों को ग्रहण भी नहीं करते।[26अ]

व्यक्तिगत भाव से सर्व पुद्गल परमाणु हैं। किसी दूसरे पुद्गल के साथ अबद्ध अवस्था में पुद्गल परमाणु रूप हैं। अतः परमाणु के स्वरूप की अपेक्षा से पुद्गल का एक ही भेद "परमाणु" होता है। पुद्गल का एकान्त भेद केवल एक परमाणु हैं। निश्चयनय से सर्व पुद्गल परमाणु है।

परमाणु-परमाणु परस्पर में बन्धन को प्राप्त होकर जिस समवाय या समुदाय को प्राप्त होते हैं, उसे स्कन्ध कहते हैं।[27] उपर्युक्त व्यक्तिगत परमाणु

तथा स्कन्धनामीय परमाणु समवाय की अपेक्षा से पुद्गल के दो भेद-परमाणु स्कन्ध होते हैं। इसको संक्षिप्त भेद कहा गया है।[28] समवाय रूप में पुद्गल स्कन्ध है तथा भिन्न-भिन्न रूप में परमाणु हैं।

पुद्गल द्रव्य के ''परमाणु और स्कन्ध'' भेद के अतिरिक्त अन्य भेद भी होते हैं,[29] जैसे –

(क) सूक्ष्म सूक्ष्म (ख) सूक्ष्म (ग) सूक्ष्म स्थूल (घ) स्थूल सूक्ष्म (ङ) स्थूल (च) स्थूल स्थूल।

गोम्मटसार में पुद्गल के उपर्युक्त छः भेदों के नाम इस प्रकार प्रतिपादित हैं[30] –

(क) सूक्ष्म सूक्ष्म (ख) सूक्ष्म (ग) सूक्ष्म बादर (घ) बादर सूक्ष्म (ङ) बादर (च) बादर बादर

(क) सूक्ष्म सूक्ष्म – इनमें से एक अर्थात् स्कन्ध से पृथक् रहने वाला परमाणु सूक्ष्म सूक्ष्म हैं क्योंकि वह न देखा जा सकता है, न स्पर्श किया जा सकता है।[31]

सूक्ष्मात सूक्ष्म-परमाणु को सूक्ष्म सूक्ष्म कहा जाता है क्योंकि यह अन्त्य सूक्ष्म है – इससे सूक्ष्म और कोई पुद्गल नहीं है। इसको प्रत्यक्ष से परम अवधि ज्ञान तथा केवलज्ञानी ही जान सकते हैं। अन्य जीव कार्यलिंग की अपेक्षा अनुमान से जान सकते हैं।[32]

(ख) सूक्ष्म – कर्मों के स्कन्ध सूक्ष्म कहलाते हैं क्योंकि वे अनन्त प्रदेशों के समुदाय रूप होते हैं।[33]

उन सूक्ष्म पुद्गल स्कन्धों को जो अतीन्द्रिय हैं सूक्ष्म कहते हैं।[34]

(ग) सूक्ष्मस्थूल – शब्द, स्पर्श, रस और गन्ध सूक्ष्मस्थूल कहलाते हैं क्योंकि इनका चक्षु इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान नहीं होता। इसलिए ये सूक्ष्म हैं परन्तु अपनी-अपनी कर्ण आदि इन्द्रियों के द्वारा इनका ग्रहण हो जाता है इसलिए स्थूल भी कहलाते हैं।[35]

नेत्र को छोड़कर चार इन्द्रियों के विषयभूत पुद्गल स्कन्ध को सूक्ष्मस्थूल कहते हैं।[36]

(घ) स्थूल सूक्ष्म – छाया, चाँदनी और आयत आदि स्थूल सूक्ष्म कहलाते हैं क्योंकि चक्षु इन्द्रिय के द्वारा दिखायी देने के कारण ये स्थूल हैं

परन्तु इनके रूप का संहरण नहीं हो सकता इसलिए विघातरहित होने के कारण सूक्ष्म भी हैं।[37]

जिस पुद्गल स्कन्ध का छेदन-भेदन, अन्यत्र प्रायण कुछ भी न हो सके, ऐसे नेत्र के दृश्यमान पुद्गल स्कन्ध को स्थूल सूक्ष्म कहते हैं।[38]

(ङ) स्थूल – पानी आदि तरल पदार्थ जो कि पृथक् करने पर भी मिल जाते हैं स्थूल भेद के उदाहरण हैं – दूध, पानी आदि पतले पदार्थ स्थूल कहलाते हैं।[39]

जिस पुद्गल स्कन्ध का छेदन-भेदन न हो सके किन्तु अन्यत्र प्रायण हो सके, उस पुद्गल स्कन्ध (तरल) को बादर कहते हैं।[40]

(च) स्थूल स्थूल – पृथ्वी आदि स्कन्ध जो कि भेद किये जाने पर फिर न मिल सकें स्थूल स्थूल कहलाते हैं।[41]

कार्मण पुद्गल

कर्म की परिभाषा और उसके भेदोपभेद

कर्म की परिभाषा

कर्म शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है – "क्रियते इति कर्म" अर्थात् जो किया जाये वह कर्म है। कर्म शब्द के लोक और शास्त्र में अनेक अर्थ उपलब्ध होते हैं। लौकिक व्यवहार या काम-धन्धे के अर्थ में कर्म शब्द का व्यवहार होता है तथा खाना पीना, चलना, फिरना आदि क्रिया का भी कर्म के नाम से व्यवहार किया जाता है। इसी प्रकार कर्मकाण्डी मीमांसक योग आदि क्रियाकलाप के अर्थ में कर्म को मानते हैं, स्मार्त विद्वान् ब्राह्मण आदि चारों वर्णों तथा ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमों के लिए नियत किये गये कर्मरूप अर्थ में लेते हैं, पौराणिक लोग व्रत नियमादि धार्मिक क्रियाओं के अर्थ में, व्याकरण के निर्माता – कर्त्ता जिसको अपनी क्रिया के द्वारा प्राप्त करना चाहता हो अर्थात् जिस पर कर्त्ता के व्यापार का फल गिरता हो, उस अर्थ में लेते हैं, नैयायिक लोग उत्क्षेपणादि पाँच सांकेतिक कर्मों में कर्म शब्द का व्यवहार करते हैं और गणितज्ञ लोग योग और गुणन आदि में भी कर्म शब्द का प्रयोग करते हैं, परन्तु जैन दर्शन में इन सब अर्थों से भिन्न एक पारिभाषिक अर्थ में उसका व्यवहार किया गया है।[42]

जैन दर्शन में क्रिया को ही कर्म कहा गया है और क्रिया में जीव की शारीरिक मानसिक एवं वाचिक तीनों ही प्रकार की क्रियाओं को समाविष्ट किया गया है। वस्तुत: शरीर, मन और वाणी के निमित्त से जो कुछ भी किया जाता है उसे कर्म कहा गया है। तीनों के व्यापार को योग कहा गया है और इस व्याख्या का जो हेतु है वही कर्म है। "जीव की क्रिया का जो हेतु है वह कर्म है।"[43] अर्थात् आत्मा की रागद्वेषात्मक क्रिया से आकाश प्रदेशों में विद्यमान अनन्तानन्त कर्म के सूक्ष्म पुद्गल चुम्बक की तरह आकर्षित होकर आत्म-प्रदेशों में संश्लिष्ट हो जाते हैं, उन्हें कर्म कहते हैं। "मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद कषाय आदि कारणों से जीव द्वारा जो कुछ किया जाता है वही कर्म कहलाता है।" इस प्रकार जैन दर्शन में क्रिया और क्रिया के हेतु या कारण दोनों को कर्म कहा गया है। कर्म सिद्धान्त में कर्म का तात्पर्य वे पुद्गल परमाणु हैं जो किन्हीं क्रियाओं के परिणामस्वरूप आत्मा की ओर आकर्षित होकर (आस्रव) कालक्रम में अपना फल प्रदान करते हैं और आत्मा में विशिष्ट मनोभाव उत्पन्न करते हैं। तब उन्हें कर्म कहते हैं।[44]

कर्म के भेद[45]

सामान्य की अपेक्षा कर्म का एक प्रकार है, किन्तु विशेष विवक्षा से कर्म के दो प्रकार प्ररूपित हैं[46] –

1. भाव कर्म 2. द्रव्य कर्म।

1. भाव कर्म – आत्मा के राग, द्वेष, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद एवं कषाय आदि परिणाम भावकर्म है।

2. द्रव्य कर्म – कार्मण जाति का पुद्गल-जड़तत्त्व विशेष जो कि कषाय के कारण आत्मा में मिल जाता है, वह द्रव्य कर्म कहलाता है।[47]

इस द्रव्य कर्म की ही मुख्य आठ प्रकृतियाँ होती हैं –

1. ज्ञानावरणीय 2. दर्शनावरणीय 3. वेदनीय 4. मोहनीय 5. आयुष्य 6. नाम 7. गोत्र 8. अन्तराय।[48]

1. ज्ञानावरणीय कर्म

जो कर्म आत्मा के ज्ञान गुण को आच्छादित करता, उसे ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं।[49] ज्ञान में रुकावट होना, इन्द्रियों की आवश्यकता होना और ज्ञान को कर्म से न जानना यह तीनों ज्ञानावरण कर्म से होते हैं। परन्तु जिनका ज्ञानावरण कर्म क्षय हो जाता है वह समस्त संसार को एक ही समय में जान

लेता हैं।[50] तात्पर्य यह है कि जैसे बादल-दल सूर्य के प्रकाश को आच्छादित कर लेता है अथवा जैसे नेत्रों की ज्योति को वस्त्रादि पदार्थ आच्छादित कर देते हैं, उसी प्रकार जिन कर्माणुओं या कर्म वर्गणाओं के द्वारा इस जीवात्मा का ज्ञान आवृत्त हुआ हो, उन कर्माणुओं का नाम ज्ञानावरणीय कर्म है। ज्ञानावरण का नाश होने पर आत्मा अनन्त चक्षु, अनन्त ज्ञानी हो जाती है।[51] इसी के आगे क्षयोपशम और क्षय की अपेक्षा से मति, श्रुत आदि भेद से ज्ञान के पाँच भेद हो जाते हैं।[52]

2. दर्शनावरणीय कर्म

जिस कर्म के द्वारा आत्मा के दर्शन गुण अर्थात् सामान्य बोध आवृत हो, उसे दर्शनावरणीय कर्म कहा जाता है।[53] दर्शनावरण कर्म का स्वभाव परदे जैसा है। बीच में पर्दा पड़ा होने से मनुष्य दूसरी तरफ की चीज नहीं देख पाता, इसी प्रकार यह कर्म देखने में बाधक बनता है। जीव के दर्शनावरण कर्म का क्षय हो जाने से वह समस्त संसार को देखने वाला होता है।[54] इसके भी आगे चलकर चक्षु, अचक्षु, अवधि आदि प्रकार से नौ भेद हो जाते हैं।[55]

3. वेदनीय कर्म

जो कर्म इन्द्रियों के विषयों का अनुभव अर्थात् वेदन करावे, उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। अर्थात् जिस कर्म के द्वारा जीवात्मा को सुख-दुःख की अनुभूति होती है, वह वेदनीय कर्म है। वेदनीय कर्म का स्वभाव तलवार की धार लगे हुए शहद को चाटने के समान है।[56]

इस वेदनीय कर्म के दो भेद हैं[57] –

(क) सातावेदनीय (ख) असातावेदनीय।

(क) सातावेदनीय कर्म

जिस कर्म के उदय से आत्मा को विषय सम्बन्धी सुख का अनुभव होता है, उसे सातावेदनीय कर्म कहते हैं। तलवार की धार में लगे हुए शहद को चाटने के समान सुख मिलता है, वह सातावेदनीय है।[58]

(ख) असातावेदनीय कर्म

जिस कर्म के उदय से आत्मा को अनुकूल विषयों की अप्राप्ति से अथवा प्रतिकूल विषयों की प्राप्ति से दुःख का अनुभव होता है उसे

असातावेदनीय कर्म कहते हैं। शहद को चाटते समय उस धार से जीभ कटने के समान असातावेदनीय कर्म है।[59] परन्तु केवलज्ञानी महापुरुषों को असातावेदनीय अर्थात् उन्हें भूख-प्यास, गर्मी-सर्दी आदि किसी भी प्रकार का दु:ख नहीं होता। वे केवलाहार नहीं करते।[60] दिगम्बर परम्परा में केवली के कवलाहार का निषेध है। श्वेताम्बर परम्परा में केवली के कवलाहार का विधान है।

4. मोहनीय कर्म

जो कर्म आत्मा के सम्यक्त्व गुण का और चारित्र गुण का घात करता है, उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। मोहनीय कर्म के उदय से जीव में स्व और पर का विवेक नहीं रहता एवं हिताहित को पहचानने और परखने की बुद्धि नहीं होती है।[61] जीव मोहनीय कर्म के उपशम होने पर ही जीवादि पदार्थों के यथार्थ स्वरूप पर श्रद्धा एवं रुचि नहीं होने देता।[62] मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने पर जीव को अत्यन्त सुख की अनुभूति होती है।[63]

मोहनीय कर्म के दो भेद होते हैं[64] –

(क) दर्शनमोहनीय (ख) चारित्रमोहनीय।

(क) दर्शनमोहनीय

जो पदार्थ जैसे है, उसे वैसे ही समझना यह दर्शन है, अर्थात् तत्त्वार्थ श्रद्धान को सम्यक् दर्शन कहते हैं। यह आत्मा का गुण है। इसके घातककर्म को दर्शनमोहनीय कहा जाता है।[65] जीवात्मा अनादिकाल से मिथ्यात्वरूपी कीचड़ में फँसा हुआ है, उसे सबसे पहले दर्शनमोहनीय कर्म को उपशम करके फिर औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।[66] दर्शनमोहनीय कर्म के नष्ट होने पर जीव को क्षायिक-सम्यक्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है।[67]

दर्शनमोहनीय के तीन भेद होते हैं[68] –

1. सम्यक्त्व मोहनीय 2. मिथ्यात्व मोहनीय; 3. मिश्र मोहनीय।

1. **सम्यक्त्व मोहनीय** – जिस कर्म का उदय तात्त्विक रुचि का निमित्त होकर भी औपशमिक या क्षायिक भाव वाली तत्त्व रुचि का प्रतिबन्ध करता है, वह सम्यक्त्व मोहनीय है।
2. **मिथ्यात्व मोहनीय** – जिस कर्म के उदय से तत्त्वों के यथार्थ रूप की रुचि न हो वह मिथ्यात्व मोहनीय है।

3. **मिश्र मोहनीय** – जिस कर्म के उदय काल में यथार्थता की रुचि या अरुचि न होकर दोलायमान स्थिति रहे, उसे मिश्र मोहनीय कहते हैं।[69]

(ख) चारित्र मोहनीय

जिस कर्म के द्वारा आत्मा अपने असली स्वरूप में रमण करता है, उसे चारित्र कहते हैं। यह आत्मा का गुण है। आत्मा के इस चारित्र गुण को घात करने वाले कर्म को चारित्र मोहनीय कहते हैं।[70] चारित्र मोहनीय कर्म के नष्ट होने पर साधक वीतराग पद प्राप्त कर लेते हैं और महान् तेजस्वी होते हैं।[71]

चारित्र मोहनीय कर्म के मुख्य दो भेद होते हैं[72] – कषाय और नोकषाय। कषाय के सोलह और नोकषाय के नौ भेद होकर कुल पच्चीस भेद हो जाते हैं।[73] दर्शनमोहनीय के तीन भेद मिलाकर कुल अट्ठाइस भेद, मोहनीय कर्म के हो जाते हैं।

साधक मोहनीय कर्म को जीतने के लिए तत्पर हो जाता है। जिस प्रकार शत्रु को जीतने के लिए उसके सेनापति को जीतना जरूरी है उसी प्रकार अष्ट कर्मों में से मोहरूपी सेनापति को जीतना जरूरी है।[74]

सम्पूर्ण मोहनीय कर्म का उपशम हो जाने पर ही जीव को अत्यन्त विशुद्ध औपशमिक चारित्र प्राप्त होता है।[75]

मोक्ष प्राप्ति के लिये मोहनीय कर्म के विजेता बनना अति आवश्यक है।[76] अष्ट कर्मों में अगर मोहनीय कर्म को जीत लिया तो बाकी सात कर्म को क्षय करना आसान हो जाता है। जीव में अत्यन्त सूक्ष्म लोभ भी नहीं होना चाहिए नहीं तो सम्पूर्ण मोहनीय कर्म क्षय नहीं होता। अगर मोहनीय कर्म को जीत लिया तो समझो समस्त कर्मों को जीत लिया।[77]

5. आयुष्य कर्म

जिस कर्म के उदय से जीव देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारक रूप से जीता अर्थात् जीवित रहता है और आयु के क्षय होने पर उन-उन रूपों का त्याग करता है या मर जाता है उसे आयुष्य कर्म कहते हैं।[78]

यह कर्म जीव को किसी एक पर्याय में रोके रखता है, दूसरे शब्दों में इस कर्म के कारण भव धारण होता है, इसी की अपेक्षा लोक में कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति जीवित है। उसे आयुष्य कर्म कहते हैं। आयुष्य कर्म का

स्वभाव कारागृह के समान है।[79] जैसे अपराधी अपराध के अनुसार अमुक काल तक कारागृह में डाला जाता है और अपराधी उससे छुटकारा पाने की इच्छा भी करता है, किन्तु अवधि पूरी हुए बिना निकल नहीं पाता है, उसे निश्चित समय तक रहना पड़ता है। वैसे ही आयुकर्म के कारण जीव को निश्चित अवधि तक नरकादि चारों गतियों में रहना पड़ता है। जब बाँधी हुई आयु भोग लेता है, तभी उसे-उस शरीर से छुटकारा मिलता है।[80] आयुष्य कर्म के चार भेद हैं[81] –

(क) नरकायु (ख) तिर्यंचायु (ग) मनुष्यायु (घ) देवायु।

(क) नरकायु – जिस कर्म के उदय से जीव को नरक गति का जीवन व्यतीत करना पड़ता है उसे नरकायु कहते हैं।

(ख) तिर्यंचायु – जिस कर्म के उदय को तिर्यंच गति का जीवन व्यतीत करना पड़ता है, उसे तिर्यञ्चायु कहते हैं।

(ग) मनुष्यायु – जिस कर्म के उदय से जीव को मनुष्य गति में जन्म लेना पड़ता है वह मनुष्यायु है।

(घ) देवायु – जिस कर्म के निमित्त से जीव को देवगति का जीवन व्यतीत करना पड़ता है उसे देवायु कहते हैं।[82]

6. नामकर्म

जिस कर्म के उदय से जीव नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति प्राप्त करके अच्छी-बुरी विविध पर्यायें प्राप्त करता है अथवा जिस कर्म से आत्मा गति आदि नाना पर्यायों का अनुभव करे अथवा विभिन्न जाति आदि प्राप्त होती है, विभिन्न शरीर आदि बने, उसे नामकर्म कहते हैं।[83] मनुष्य गति, देवगति, आदि इसकी कुल मिलाकर प्रकृतियाँ एक सौ तीन हो जाती हैं।[84]

श्रेष्ठ साधना करने वाले साधक का शरीर अत्यन्त उत्तम होता है। नामकर्म के प्रभाव से दिव्य शरीर मिलता है। भोजन न खाने पर भी शरीर को क्षणिक भी कमजोरी महसूस नहीं होती।[85]

7. गोत्रकर्म

जिस कर्म के उदय से जीव ऊँच और नीच कुल में जन्म लेता है, उसे गोत्र कर्म कहते हैं।[86] यह कर्म का स्वभाव कुलाल (कुम्हार) के समान है। जैसे - कुलाल छोटे तथा बड़े भाजनों को बनाता है, उसी प्रकार गोत्रकर्म के

प्रभाव से जीव को ऊँच और नीच पद की उपलब्धि होती है। गोत्र कर्म के दो भेद होते हैं[87] –

(क) उच्च गोत्र (ख) नीच गोत्र।

(क) उच्च गोत्र – इस कर्म के उदय से जीव उत्तम कुल में जन्म लेता है। धर्म और नीति की रक्षा के सम्बन्ध से जिस कुल ने चिरकाल से प्रसिद्धि प्राप्त की है, वह उच्चकुल है – जैसे - इक्ष्वाकुवंश, हरिवंश, चन्द्रवंश इत्यादि।[88]

(ख) नीच गोत्र – इस कर्म से जीव नीच कुल में जन्म लेता है। अधर्म और अनीति के पालन से जिस कुल में चिरकाल से कुख्याति प्राप्त की है, वह नीच कुल कहा जाता है। जैसे कि बाधित कुल, मद्यविक्रेत कुल, चौर कुल आदि।[89]

8. अन्तराय कर्म

जिस कर्म के उदय से जीव को दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य (पराक्रम) में विघ्न उत्पन्न हो उसे अन्तराय कर्म कहते हैं। अन्तराय कर्म राज-भण्डारी के समान होता है। जैसे राजा ने द्वार पर आये हुए किसी याचक को कुछ दान देने की इच्छा से भण्डारी के नाम पत्र लिखकर याचक को तो दिया, परन्तु याचक को भण्डारी ने किसी कारण से धन नहीं दिया या भण्डारी ही न मिला, भण्डारी का न मिलना, या किसी कारण धन न देना, याचक के लिए अन्तराय कर्म है।[90] अन्तराय कर्म के पाँच भेद होते हैं[91] –

(क) दानान्तराय कर्म (ख) लाभान्तराय कर्म (ग) भोगान्तराय कर्म (घ) उपभोगान्तराय कर्म (ङ) वीर्यान्तराय कर्म।

(क) **दानान्तराय कर्म** – दान की वस्तुएँ मौजूद हों, गुणवान् पात्र आया हो, दान का फल जानता हो, तो भी इस कर्म के उदय से जीव को दान करने का उत्साह नहीं होता। वह दानान्तराय कर्म है।[92]

(ख) **लाभान्तराय कर्म** – दाता उदार हो, दान की वस्तुएँ स्थित हों, याचना में कुशलता हो, तो भी इस कर्म के उदय से लाभ नहीं हो पाता। वह लाभान्तराय कर्म है।[93]

(ग) **भोगान्तराय कर्म** – भोग के साधन उपस्थित हों, वैराग्य न हों, तो भी इस कर्म के उदय से जीव भोग्य वस्तुओं का भोग नहीं कर

सकता है। वह भोगान्तराय कर्म है। जो पदार्थ एक बार भोगे जाएँ, उन्हें भोग कहते हैं। जैसे कि - फल, जल, भोजन आदि।[94]

(घ) **उपभोगान्तराय कर्म** – उपभोग की सामग्री अवस्थित हो, विरति रहित हो, तथापि इस कर्म के उदय से जीव उपभोग्य पदार्थों का उपभोग नहीं कर पाता। वह उपभोगान्तराय कर्म है। जो पदार्थ बार-बार भोगे जाएँ, उन्हें उपभोग कहते हैं। जैसे कि - मकान, वस्त्राभूषण आदि।[95]

(ङ) **वीर्यान्तराय कर्म** – वीर्य का अर्थ है - सामर्थ्य। बलवान्, रोगरहित एवं युवा व्यक्ति भी इस कर्म के उदय से सत्त्वहीन की भान्ति प्रवृत्ति करता है और साधारण से काम को भी ठीक तरह से नहीं कर पाता। वह वीर्यान्तराय कर्म है।[96]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि यह द्रव्य कर्म मुख्यत: आठ प्रकार का होता है और इन्हीं आठों के आगे चलकर भेदोपभेद बनते जाते हैं जो कि एक सौ अड़तालीस (148) पर सिमट जाते हैं।[97]

कर्मबन्ध और उसके प्रकार

कर्मबन्ध

दो पदार्थों (आत्मा और कर्म पुद्गल) के विशिष्ट सम्बन्ध को बन्ध कहते हैं।

बध्यते येन बन्धनमायं वा बन्ध: अर्थात् जिसके द्वारा आत्मा बांधा जाए, परतन्त्र किया जाए, उसे बन्ध कहते हैं।[98] यह जीव की सांसारिक दशा होती है। जैन दर्शन में कषाययुक्त होने के कारण कर्म के अनुरूप पुद्गलों को जब ग्रहण करता है, तब इस बंध संज्ञा से अभिहित किया जाता है। स्निग्धत्व तथा रूक्षत्व से बन्ध होता है।[99] अर्थात् ये पुद्गल के स्पर्श गुण की पर्यायें हैं, जो पुद्गल के परस्पर बन्ध में प्रयोजक मानी गई है। पुद्गल में ऐसी स्वाभाविक योग्यता है जिससे वह इन गुणों के कारण बन्ध को प्राप्त होता है। जीव को जिस प्रकार प्रत्येक समय के बन्ध हेतु पृथक्-पृथक् निमित्त अपेक्षित रहते हुए भी वह इन गुणों के कारण परस्पर बन्ध को प्राप्त होता है।

निश्चय नय से अध्यवसाय ही बन्ध का कारण है।[100] अज्ञानी व्यक्ति का "मैं सुखी या दु:खी रहता हूँ", "मैं हिंसा या अहिंसा करता हूँ" ऐसा भाव ही अध्यवसाय है[101], जो बन्ध का कारण है।[102]

बन्ध के प्रकार

द्रव्यबन्ध और भाव बन्ध की अपेक्षा बन्ध के दो भेद किये गये हैं।

(क) द्रव्यबन्ध – कर्मों के द्वारा जीव के वास्तविक बन्धन को द्रव्यबन्ध कहते हैं। यह कर्म द्रव्यों के आत्मा या जीव के साथ वास्तविक संयोग या एकरूप होने की स्थिति है तथा कर्मपुद्गलों का आत्मा के साथ एकाकार हो जाना द्रव्य बन्ध है।[103]

(ख) भाव बन्ध – वह आत्मिक स्थिति जो कर्मों के जीव में प्रवेश करने का कारण है, भाव बन्ध कहलाता है। इस स्थिति में जीव अपनी ही मानसिक स्थितियों के बन्धन में बंधता है। जिन राग द्वेष मोहादि मनोविकारों से कर्मों का बन्ध होता है, उन्हें भाव बन्ध कहते हैं।[104]

बन्ध के भेद

आदिपुराण में आचार्य जिनसेन ने बन्ध के चार भेद कहे गये हैं।[105]

1. प्रकृति बन्ध 2. स्थिति बन्ध 3. अनुभाग बन्ध 4. प्रदेश बन्ध।

1. प्रकृति बन्ध

प्रकृति (अर्थात् किस प्रकार के कर्मों ने जीव को बाँधा है अथवा उनकी प्रकृति क्या है) वस्तु के शील या स्वभाव को कहा जाता है। इसलिए कर्म परमाणुओं के कर्म के जिस प्रकार की परिणाम उत्पादक शक्तियाँ आती हैं, उन्हें कर्म प्रकृति कहते हैं। इसके अन्तर्गत आत्मा के साथ मेल स्थापित करने वाले कर्मपुद्गल भिन्न-भिन्न प्रकृति के होते हैं।

बन्ध के इस स्वभाव सम्बन्धी वैभिनिन्य के आधार पर ही प्रकृति बन्ध के मूलरूप में आठ भेद माने गये हैं –

(क) ज्ञानावरण, (ख) दर्शनावरण, (ग) वेदनीय, (घ) मोहनीय, (ङ) आयु, (च) नाम, (छ) गोत्र, और (ज) अन्तराय।[106]

इनमें से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय घातिक कर्म कहलाते हैं। क्योंकि ये आत्मा के स्वाभाविक गुणों को आवृत करते हैं, अर्थात् ये चारों कर्म जीव के अनुजीवी गुणों को घातते (नष्ट करते) हैं। इसलिए घाती कर्म कहलाते हैं। वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र अघातिक बन्ध कहलाते हैं क्योंकि जली हुई रस्सी की तरह इनके रहने से भी अनुजीवी गुणों का नाश नहीं होता।[107] कर्मों के उक्त आठ प्रकारों में से जिस प्रकार के कर्मों से जीव बंधा होगा, वही उसके दर्शन की स्थिति होगी।

2. स्थिति बन्ध

स्थिति बन्ध अर्थात् कर्मों ने जीव को कितने समय के लिए बाँधा है। कर्मों में जितने काल तक जीव के साथ रहने की शक्ति उत्पन्न होती है, उसे कर्म स्थिति कहते हैं। जीव के साथ कर्म का सम्बन्ध किसी निश्चित अवधि तक होता है। इस काल मर्यादा को स्थिति बन्ध कहा जाता है।[108]

3. अनुभाग बन्ध

अनुभाग अर्थात् (कर्मों ने जीव को कितनी दृढ़ता से बाँधा है) कर्मों की फलदान शक्ति को अनुभाग बन्ध कहा जाता है। प्रत्येक कर्म की फलदान शक्ति अपने अपने स्वभाव के अनुरूप होती है। आत्मा के साथ जुड़े हुए पुद्गलों में फल देने की शक्ति न्यूनाधिक रूप में रहा करती है, जो अनुभाग बन्ध है। इस प्रकार तीव्र या मन्द फलदायिनी शक्ति का नाम ही अनुभाग है।[109] इसको रस बन्ध भी कहते हैं।

4. प्रदेश बन्ध

जीव के कितने हिस्से या प्रदेश को कर्मों ने बाँध रखा है। उनकी तीव्र या मन्द फलदायिनी शक्ति का नाम अनुभाग है, तथा आत्मप्रदेशों के साथ कितने कर्म परमाणु का बन्ध हुआ, उसे प्रदेश बन्ध कहते हैं।[110]

समीक्षा

भारतीय दार्शनिक चिन्तन में कर्मवाद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सुख-दुःख एवं अन्य प्रकार के सांसारिक वैचित्र्य के कारण की खोज करते हुए भारतीय चिन्तकों ने कर्म सिद्धान्त का अन्वेषण किया। जीव अनादि काल से कर्मवश हो कर विविध भवों में भ्रमण कर रहा है। जन्म मरण का मूल कर्म है। जीव अपने शुभाशुभ कर्मों के साथ परभव में जाता है। एक प्राणी दूसरे प्राणी के कर्मफल का अधिकारी नहीं होता। कर्मवाद किसी न किसी रूप में भारत की समस्त दार्शनिक एवं नैतिक विचारधाराओं में विद्यमान है तथापि इसका जो सुविकसित रूप जैन परम्परा में उपलब्ध होता है, वह अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। कर्मवाद जैन विचारधारा एवं आचार परम्परा का अविच्छेद्य अंग है।

जैन दर्शन में जिस अर्थ के लिए कर्म शब्द प्रयुक्त होता है, उस अर्थ के अथवा उससे कुछ मिलते-जुलते अर्थ के लिये जैनेत्तर दर्शनों में ये शब्द मिलते हैं-माया, अविद्या, प्रकृति, अपूर्व, वासना, आशय, धर्माधर्म, अदृष्ट, संस्कार, देव, भाग्य आदि।

माया, अविद्या, प्रकृति ये तीन शब्द वेदान्त दर्शन में पाये जाते हैं। इनका मूल अर्थ करीब वही है, जिसे जैन दर्शन में भाव कर्म कहते हैं। "अपूर्व" शब्द मीमांसा दर्शन में मिलता है। "वासना" शब्द बौद्ध दर्शन में प्रसिद्ध है। परन्तु योगदर्शन में भी उसका प्रयोग किया जाता है। "आशय" शब्द विशेष कर योग तथा सांख्यदर्शन में मिलता है। धर्माधर्म, अदृष्ट और संस्कार इन शब्दों का प्रयोग और दर्शनों में भी पाया जाता है, परन्तु विशेषकर न्याय तथा वैशेषिक दर्शन में। दैव, भाग्य, पुण्य, पाप आदि कई ऐसे शब्द हैं, जो सब दर्शनों के लिये साधारण से हैं। जितने दर्शन आत्मवादी हैं और पुनर्जन्म मानते हैं उनको पुनर्जन्म की सिद्धि उत्पत्ति के लिये कर्म को मानना ही पड़ता है। चाहे उन दर्शनों की भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओं के कारण या चेतन के स्वरूप में मतभेद होने के कारण कर्म का स्वरूप थोड़ा बहुत जुदा जुदा जानना पड़े, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि सभी आत्मवादियों ने माया आदि को उपर्युक्त किसी न किसी नाम से कर्म को अंगीकार किया ही है।

आत्मा के साथ कर्म-पुद्गलों का जुड़ने का क्रम चलता ही रहता है। आत्मा के साथ पुद्गलों का यह मेल (बन्ध) अविच्छेद्य रूप में हो जाता है। जैसे दूध और पानी दो पृथक्-पृथक् पदार्थों को मिलाया जाए तो दोनों घुल मिलकर एकाकर हो जाते हैं। उसी प्रकार आत्मा और पुद्गल पृथक् होते हुए भी एक-दूसरे में उनका समाहार हो जाता है, पुद्गल आत्मा में रचपच जाता है, जैसे तप्त लोहखण्ड में अग्नि कण-कण में व्याप्त हो जाती है।

समस्त लोक में पुद्गल वर्गणाएँ भरी हैं। इनके कई प्रकार हैं। उनमें से कर्म-योग्य पुद्गल वर्गणाओं का आत्मा के साथ बन्ध के रूप में सम्बन्ध होता है। यह बन्ध कषाय सहित जीव को होता है।

कषाय से अनुरंजित आत्मा के परिणाम जब प्रकम्पित स्पन्दित होते हैं तो उनमें एक ऐसी विशेष प्रकार की आकर्षण शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जो कर्म-वर्गणाओं को आकर्षित कर लेती है और वे वर्गणाएँ आत्मा के साथ चिपक जाती है, यही जीव के साथ कर्मवर्गणा का मिलन कर्मबन्ध है।

द्रव्य का द्रव्य के साथ तथा द्रव्य और भाव का क्रम से जो संयोग और समवाय है, वही बन्ध कहलाता है। स्पष्ट है कि पदार्थ की पदार्थ के साथ भाव के साथ संयोग की स्थिति को बन्ध कहा गया है।

बन्ध तत्त्व शुभ और अशुभ दो प्रकार का होता है। शुभ बन्ध पुण्य है और अशुभ बन्ध पाप है। जब तक कर्म उदय में नहीं आते अर्थात् अपना फल नहीं देते, तब तक वे सत्ता में रहते हैं और जब कर्म फल देने लगते हैं, तब

पुण्य पाप कहलाने लगते हैं। कर्मों के फल देने से पूर्व स्थिति का नाम बन्ध है। कर्मों के फल देने से पूर्व स्थिति का नाम बन्ध है। कर्मों के अनुदय काल बन्ध हैं, उदय काल पुण्य पाप है।

आदिपुराण में बन्ध के मुख्य पाँच हेतु बताये गये हैं, इनके अवान्तर भेद भी अनेक हैं। बन्ध हेतुओं के विषय में तीन मान्यताएँ उपलब्ध होती हैं –

1. कषाय और योग – यह बन्ध के दो हेतु हैं।
2. मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग बन्ध के चार हेतु हैं।
3. मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग यह बन्ध के पाँच हेतु हैं।

इन तीनों मान्यताओं में संख्या भेद तो है किन्तु तात्त्विक भेद नहीं है, क्योंकि जहाँ कषाय और योग यह दो बन्ध हेतु माने गये हैं, वहाँ मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद का "कषाय" में अन्तर्भाव कर दिया गया है और चार बन्ध हेतु मान्यता में कषाय में प्रमाद का अन्तर्भाव कर दिया गया है।

यद्यपि ये तीनों मान्यताएँ या परम्पराएँ प्रामाणिक हैं, वस्तु तथ्य का सही ज्ञान कराती है किन्तु प्रथम परम्परा अति संक्षिप्त है और दूसरी संक्षिप्त। तीसरी परम्परा में पाँच हेतु बताये गये हैं।

इन सभी बन्ध हेतुओं में मिथ्यात्व सभी का मूलाधार है। अनादि काल से यही जीव को अनन्त संसार में परिभ्रमण करा रहा है। मुक्ति प्राप्त करने के लिए सबसे पहले इसी को समाप्त करना अनिवार्य है। पाँचों बन्धहेतु क्रम से हैं। यदि पहला मिथ्यात्व बन्ध हेतु होगा तो शेष आगे के चारों बन्धहेतु भी अवश्य होंगे।

जिस क्रम से यह बन्ध हेतु लिखे गये हैं उसी क्रम से छूटते हैं। ऐसा नहीं है कि कषाय अथवा प्रमाद बन्धहेतु तो छूट जाए, किन्तु मिथ्यात्व अथवा अविरति बन्ध हेतु बना रहे, तो कर्मबन्धन कराता रहे।

काल और उसके भेदोपभेद

काल तत्त्व का लक्षण

वर्त्तना लक्षण वाला काल है। यह काल द्रव्य अनादि निधन है। जो द्रव्यों की पर्यायों के बदलने में सहायक हो उसे वर्त्तना कहते हैं। यह काल द्रव्य अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु के बराबर है और असंख्यात होने के कारण समस्त

लोकाकाश से भरा हुआ है। तात्पर्य यह है कि कालद्रव्य का एक-एक परमाणु लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर स्थित है।[111] उस काल द्रव्य में अनन्त पदार्थों के परिणमन कराने की सामर्थ्य है अतः वह स्वयं असंख्यात होकर भी अनन्त पदार्थों के परिणमन में सहकारी कारण होता है। जिस प्रकार कुम्हार के चाक के घूमने में उसके नीचे लगी हुई कील कारण है उसी प्रकार पदार्थों के परिणमन होने में कालद्रव्य सहकारी कारण है। संसार के समस्त पदार्थ अपने-अपने गुण-पर्यायों द्वारा स्वयमेव ही परिणमन को प्राप्त होते रहते हैं और काल द्रव्य उनके उस परिणमन में मात्र सहकारी कारण होता है जबकि पदार्थों का परिणमन अपने-अपने गुणपर्याय रूप होता है तब अनायास ही सिद्ध हो जाता है कि वे सब पदार्थ सर्वदा पृथक्-पृथक् रहते हैं अर्थात् अपना स्वरूप छोड़कर परस्पर में मिलते नहीं हैं।[112]

वर्त्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व ये काल के उपकार हैं।[113]

णिजन्त ''वर्त्ता'' धातु से कर्म या भाव में ''युट'' प्रत्यय के करने पर स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तना शब्द बनता है। जिसकी व्युत्पत्ति ''वर्त्यते'' या ''वर्त्तनामात्रम्'' होती है। यद्यपि धर्मादिक द्रव्य अपनी नवीन पर्याय के उत्पन्न करने में स्वयं प्रवृत्त होते हैं तो भी वह बाह्य सहकारी कारण के बिना नहीं हो सकती इसलिए उसे प्रवर्ताने वाला काल है ऐसा मानकर वर्तना काल का उपकार कहा है।

काल को अनन्त समय वाला कहा गया है।[114] जो जीवादि द्रव्यों के परिणमन में सहायक है, वह काल हैं।[115]

काल की निरुक्त्यर्थ करते हुए कहा गया है कि जिसके द्वारा क्रियावान् द्रव्य कल्यते, क्षिप्यते, प्रेर्यते अर्थात् प्रेरित किये जाते हैं वह काल नामक द्रव्य हैं।[116]

काल के भेद

कुछ आचार्यों की मान्यता है कि काल भी द्रव्य है[117] काल अनन्त समय वाला है।[118]

इस मुख्य काल के दो भेद होते हैं –

(क) व्यवहार काल (ख) निश्चय काल।

(क) व्यवहार काल – जो घड़ी, घण्टा आदि व्यवहार काल है। वह व्यवहार काल मुख्य काल से सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है वह उसी के आश्रय से उत्पन्न हुआ उसी की पर्याय ही है। यह छोटा है, यह बड़ा है आदि बातों से

व्यवहार काल स्पष्ट होता है। व्यवहारकाल वर्त्तना लक्षणरूप निश्चयकाल द्रव्य के द्वारा ही प्रवर्तित होता है और वह भूत, भविष्यत् और वर्तमान रूप होकर संसार का व्यवहार चलाने के लिए समर्थ है अथवा कल्पित किया जाता है। यह व्यवहारकाल समय, अवधि, उच्छवास, नाड़ी आदि के भेद से अनेक प्रकार का होता है। यह व्यवहारकाल सूर्यादि ज्योतिश्चक्र के घूमने से ही प्रकट होता है। यदि भव, आयु, काय और शरीर आदि की स्थिति का समय जोड़ा जाये तो वह अनन्त समय रूप होता है। उसका परिवर्तन भी अनन्त प्रकार से होता है।[119]

(ख) निश्चय काल – लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर रत्नों की राशि के समान एक दूसरे से असंपृक्त होकर रहने वाले जो असंख्यात कालाणु हैं उन्हें निश्चयकाल कहते हैं। व्यवहार काल से ही निश्चयकाल का निर्णय होता है, क्योंकि मुख्य पदार्थ के रहते हुए ही वाह्लीक आदि गौण पदार्थों की प्रतीति होती है। यदि मुख्य काल द्रव्य नहीं होता तो व्यवहार काल भी नहीं होता। सूर्योदय और सूर्यास्त आदि के द्वारा दिन-रात, महीना आदि का ज्ञान प्राप्त कर व्यवहार काल को समझ लेते हैं। परन्तु अमूर्तिक निश्चयकाल के समझने में हमें कठिनाई होती है। इसलिए आचार्यों ने व्यवहारकाल के द्वारा निश्चयकाल को समझने का आदेश दिया है।[120]

निश्चयकाल समय के रूप में अनन्त है। इसी कारण सूत्र में काल को अनन्त समय वाला कहा है[121] और आगमों में भी यही बात कही गई है।

(क) **व्यवहारकाल के भेद** – व्यवहारकाल के दो भेद हैं–

1. उत्सर्पिणी काल 2. अवसर्पिणी काल।

1. **उत्सर्पिणी काल** – जिस काल में मनुष्यों के बल, आयु और शरीर का परिमाण क्रम-क्रम से बढ़ता जाये उसे उत्सर्पिणी काल कहते हैं।[122]

2. **अवसर्पिणी काल** – जिस काल में मनुष्यों के बल, आयु और शरीर का परिमाण क्रम-क्रम से घटते जायें उसे अवसर्पिणी कहते हैं।

उत्सर्पिणी काल का प्रमाण दस क्रोड़ा क्रोड़ी सागर है तथा अवसर्पिणी काल का प्रमाण भी इतना ही है। इन दोनों को मिलाकर बीस क्रोड़ा क्रोड़ी सागर का एक कल्पकाल होता है। इन दोनों के छह-छह भेद होते हैं –

1. अवसर्पिणी काल के छह भेद हैं –

(क) सुषमा सुषमा (ख) सुषमा (ग) सुषमा दु:षमा (घ) दु:षमा सुषमा (ङ) दु:षमा (च) अतिदु:षमा

2. उत्सर्पिणी काल के छह भेद हैं –

(क) दु:षमा दु:षमा (ख) दु:षमा (ग) दु:षमा, सुषमा (घ) सुषमा दु:षमा (ङ) सुषमा (च) सुषमा सुषमा[123]

''समा'' काल के विभाग को कहते हैं तथा ''सु'' और ''दुर'' उपसर्ग से अच्छे और बुरे अर्थ में आते हैं। सु और दुर उपसर्गों को पृथक्-पृथक् समा के साथ जोड़ देने तथा व्याकरण के नियमानुसार स को ष कर देने से सुषमा और दु:षमा शब्दों की सिद्धि होती है। जिनका अर्थ क्रम से अच्छा काल और बुराकाल होता है। इस तरह उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के छहों भेद सार्थक नाम वाले उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी नामक दोनों ही भेद कालचक्र के परिभ्रमण से अपने छहों कालों के साथ-साथ कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष की तरह घूमते रहते हैं।[124]

काल की इस ह्रासोन्मुखी गति को अवसर्पिणी और विकासोन्मुखी गति को उत्सर्पिणी कहा जाता है।

1. अवसर्पिणी काल के भेदों का स्वरूप

(क) सुषमा सुषमा काल का स्वरूप – भरतक्षेत्र के मध्यवर्ती आर्यखण्ड में अवसर्पिणी का पहला भेद सुषमा सुषमा नाम का काल था। इस प्रथम काल में बहुत अधिक सुख ही सुख था। इस काल के सुख का हम अनुमान भी नहीं कर सकते। कोई उपमा भी नहीं दे सकते। अथाह सुखों के भण्डार होने से इस काल का नाम सुषमा-सुषमा काल पड़ा। उस काल का परिमाण चार क्रोड़ा क्रोड़ी सागर था।[125] उस समय मनुष्यों की आयु तीन पल्य की होती थी और शरीर की ऊँचाई छ: हजार धनुष की थी।[126] उनका शरीर वज्र के समान था और सौन्दर्य स्वर्ण के समान शोभायमान था। मुकुट, कुण्डल, हार, करधनी, कड़ा, बाजूबन्द और यज्ञोपवीत आभूषणों को वे हमेशा धारण करते थे। वे लोग स्वर्ग में देवों के समान अपनी-अपनी स्त्रियों के साथ चिरकाल तक क्रीड़ा करते रहते थे।[127] वे पुरुष बड़े बलवान्, धीर-वीर, बड़े तेजस्वी, प्रतापी, सामर्थ्यवान्, पुण्यशाली होते थे।[128] वे पुण्यवान् आत्माएँ तीन दिन बाद भोजन ग्रहण करती थीं। कल्पवृक्ष से उत्पन्न बदरी फल के समान

भोजन लेते हैं। उन्हें न रोग होता है, न ही परिश्रम करते हैं, न ही मलमूत्रादि की बाधा होती है, न उन्हें कोई मानसिक पीड़ा होती है, न पसीना आता है, न ही अकाल मृत्यु होती है। वे सुख शान्ति से अपना समय व्यतीत करते हैं।[129] स्त्रियाँ भी इतनी ही आयु की धारक होती हैं। स्त्रियाँ भी पुरुषों के समान ही सौम्य और शोभायमान होती हैं। स्त्रियाँ अपने पुरुषों में, पुरुष अपनी स्त्रियों में ही अनुरक्त रहते हैं। वे जीवनपर्यन्त अपने सुख भोगों में लीन रहते हैं।[130] इस काल की स्त्रियों का रूप देवों के समान सुन्दर होता है। वाणी मीठी होती है।[131] किसी भी वस्तु की इच्छा होने पर जैसे-भोजन, आभूषण, वस्त्र, रहने के लिए घर, मनोरंजन के साधन, बाजे, सुगन्धित पदार्थ, माला आदि समस्त भोगोपभोग की सामग्री इन्हें कल्पवृक्षों से प्राप्त हो जाती है।[132] वे कल्पवृक्ष पुण्यात्मा पुरुषों को मनवांछित फल देते हैं। वे कल्पवृक्ष दस प्रकार के होते हैं–

1. मद्याङ्ग 2. तुर्याङ्ग 3. विभूषाङ्ग 4. स्रगङ्ग (माल्याङ्ग) 5. ज्योतिरङ्ग 6. दीपाङ्ग 7. गृहाङ्ग 8. भोजनाङ्ग 9. पात्राङ्ग 10. वस्त्राङ्ग।

ये सभी अपने-अपने नाम के अनुसार ही कार्य करते हैं।[133] जीवन-पर्यन्त सुखों का आनन्द लेकर अन्तिम समय क्षण में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। पुरुष को जम्हाई आती है, स्त्री को छींक आती है साथ ही प्राण छोड़ जाते हैं। पहले काल के लोक स्वभाव से कोमल परिणामी होते हैं इसलिए वे मरकर स्वर्ग गति में ही जाते हैं। इसके अलावा अन्य किसी गति में नहीं। पहला काल समाप्त हुआ।[134]

(ख) सुषमाकाल का स्वरूप – सुषमा काल में लोगों को सुख ही सुख था। दु:ख का नाम मात्र भी नहीं था। इस काल में सुख की प्रधानता होने से इस काल का नाम सुषमा पड़ा। सुषमा काल में कल्पवृक्ष का प्रभाव कम होना आरम्भ हो जाता है और मनुष्यों के शरीर का बल, आयु तथा शरीर की ऊँचाई आदि सभी घटने लग जाती है। इस काल का प्रमाण तीन कोड़ा-कोड़ी सागर था।[135] उस समय इस भारतवर्ष में कल्पवृक्षों के द्वारा उत्कृष्ट विभूति को विस्तृत करती हुई मध्यम भोगभूमि की अवस्था प्रचलित हुई। इस काल के मनुष्यों की कान्ति देवता के समान होती है। उसकी आयु दो पल्य की थी। शरीर का परिमाण चार हजार धनुष ऊँचा था। उनकी सभी चेष्टाएँ शुभ थीं।[136] वे दो दिन पश्चात् कल्पवृक्षों से प्राप्त हुए बहेड़े के समान मनवांछित उत्तम अन्न ग्रहण करते हैं। जब द्वितीय काल समाप्त हो जाता है तो कल्पवृक्ष तथा मनुष्यों के शरीर का बल, आयु आदि सभी धीरे-धीरे घटने लग जाते हैं। जघन्य भोग-भूमि की अवस्था प्रचलित होने लगती है।[137]

(ग) सुषमा-दु:षमा काल का स्वरूप – द्वितीय काल समाप्त होने पर तीसरे काल के आरम्भ होने पर मनुष्य के बल, कल्पवृक्ष का प्रभाव, शरीर की ऊँचाई आदि और भी घटने लगती है। इस तीसरे काल में लोगों को अधिक सुख और क्षणिक दु:ख होता था अर्थात् ज्यादा सुख और थोड़ा दु:ख होने के कारण इस काल का नाम सुषमा-दु:षमा पड़ा। इसकी स्थिति दो क्रोड़ा-क्रोड़ी सागर की थी।[138] उस समय भारतवर्ष में मनुष्यों की स्थिति एक पल्य की थी। उनका शरीर एक कोश ऊँचा था और एक दिन के पश्चात आँवले के दाने के समान भोजन लेते थे।[139] तीसरा काल व्यतीत होने में पल्य का आठवाँ भाग शेष रह गया। तब कल्पवृक्षों की सामर्थ्य घट गयी। कल्पवृक्षों का प्रकाश अत्यन्त मन्द हो गया।[140] तदनन्तर किसी समय आषाढ़ सुदी पूर्णिमा के दिन सायंकाल के समय आकाश के दोनों भागों में अर्थात् पूर्व दिशा में उदित होता हुआ चमकीला चन्द्रमा और पश्चिम में अस्त होता हुआ सूर्य दिखलायी पड़ा।[141]

पृथ्वी का स्वाद गुड़ जैसा रह जाता है। इस काल में पन्द्रह कुलकर उत्पन्न होते हैं। यह कुलकर अपने-अपने समय में प्रभावशाली और विद्वान् मनुष्य होते हैं। तीसरा आरा समाप्त होने में चौरासी लाख पूर्व, तीन वर्ष और आठ महीने जब शेष रह जाते हैं, तब अयोध्या नगरी में पन्द्रहवें कुलकर से प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का जन्म होता है। काल के प्रभाव से, जब कल्पवृक्षों से कुछ भी प्राप्ति नहीं होता, तब मनुष्य क्षुधा से पीड़ित और व्याकुल होते हैं। तो भगवान ऋषभदेव ने असि, मसि, कृषि आदि सभी प्रकार के कार्य प्रजा को सिखाये। ज्यों-ज्यों कुटुम्ब की वृद्धि होती जाती है त्यों-त्यों ग्राम-नगर आदि की वृद्धि होती जाती है। इस प्रकार भरतक्षेत्र में आबादी हो जाती है।[142]

सम्पूर्ण सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था हो चुकने के अनन्तर तीर्थंकर राज्य-ऋद्धि का परित्याग कर देते हैं, और संयम ग्रहण करके, तपश्चर्या करके चार घातिया कर्मों का सर्वथा क्षय करके केवलज्ञानी होकर तीर्थ की स्थापना करते हैं। इस प्रकार लौकिक और लोकोत्तर कल्याण का जगत् को मार्ग प्रदर्शित करके आयु का अन्त होने पर मोक्ष पधारते हैं।[143]

(घ) दु:षमा-सुषमा का स्वरूप – तीसरा काल समाप्त होते ही 42000 वर्ष कम एक करोड़ सागरोपम का चौथा दु:षमा-सुषमा अर्थात् ज्यादा दु:ख, थोड़ा सुख नामक आरा आरम्भ होता है। इसलिए इस काल का नाम दु:खमा-सुषमा काल पड़ा। शरीर का परिमाण, शुभ-पुद्गल, कल्पवृक्षों का प्रभाव, मनुष्य का बल, आदि क्रमश: घटते ही जाते हैं। इस काल में देहमान

घटते-घटते 500 धनुष का और आयु एक करोड़ पूर्व की रह जाती है। इस समय के मनुष्य दिन में एक बार भोजन ग्रहण करते हैं। 23 तीर्थंकर, 11 चक्रवर्ती, 9 बलदेव, 9 वासुदेव, 9 प्रतिवासुदेव भी इस आरे में होते हैं।[144]

(ङ) दु:षमा काल का स्वरूप – चौथा काल जब समाप्त होता है तो 21000 वर्ष का पाँचवाँ दु:षमा काल आरम्भ हो जाता है। इस काल में अधिक दु:ख होता है। इसलिए इस काल का नाम दु:षमा पड़ा। चौथे काल की अपेक्षा वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, शरीर परिमाण, मनुष्यों की आयु क्रमश: घटते-घटते घट जाती हैं। मनुष्यों की आयु 125 वर्ष की, शरीर की अवगाहना सात हाथ की रह जाती हैं। दिन में दो बार आहार करने की इच्छा होती है।[145]

इस काल में धर्म-ध्यान धीरे-धीरे क्षय हो जाता है। लोगों की भावना समाप्त हो जाती है अर्थात् प्रत्येक वस्तु का पतन हो जाता है।[146]

(च) दु:षमा-दुषमा का स्वरूप – पाँचवें आरे की पूर्णाहुति होते ही 21000 वर्ष का छठा आरा आरम्भ होता है। इस काल में दु:ख ही दु:ख अर्थात् बहुत ही अधिक दु:ख क्षणिक मात्र भी सुख नहीं होता। दु:खों की बहुलता होने से इस काल का नाम दु:षमा-दु:षमा पड़ा। इस काल में मनुष्यों के लिए बिलें होती हैं। मनुष्य बिलों में रहते हैं। कुल बिलें 72 होती हैं।

छठे काल में पहले की अपेक्षा वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, शुभ पुद्गलों की पर्याय में अनन्तगुणा हानि हो जाती है। आयु घटते-घटते 20 वर्ष की, शरीर की ऊँचाई केवल एक हाथ की रह जाती है। अपरिमित भोजन की इच्छा होती है। रात्रि में शीत और दिन में ताप अत्यन्त प्रबल होती है। इस कारण वे मनुष्य बिलों से बाहर नहीं निकल सकते। केवल सूर्योदय के समय और सूर्यास्त के समय एक मुहूर्त्त (48 मिनट) ही बाहर निकल पाते हैं। इस काल के मनुष्य दीन, हीन, दुर्बल, दुर्गन्धित, रुग्ण, अपवित्र, नग्न आचार-विचार से हीन और माता, भगिनी, पुत्री आदि के साथ संगम करने वाले होते हैं। छह वर्ष की स्त्री सन्तान को जन्म देती है, कुतिया और शूकरी के समान बहुत परिवार वाले और महाक्लेशमय होते हैं। धर्मपुण्य से हीन वे दु:ख ही दु:ख में अपनी सम्पूर्ण आयु व्यतीत करके नरक या तिर्यञ्च गति में अतिथि बन जाते हैं।[147]

2. उत्सर्पिणी काल के भेदों का स्वरूप

(क) दु:षमा दु:षमा – उत्सर्पिणी काल का पहला दु:षमा-दु:षमा आरा 21000 वर्ष का, श्रावण कृष्ण प्रतिपदा के दिन आरम्भ होता है, इसका वर्णन अवसर्पिणी काल के छठे आरे के समान ही समझ लेना चाहिए। विशेषता यह है कि इस काल में आयु और अवगाहनादि क्रमश: बढ़ती जाती है।[148]

(ख) दु:षमा – इसके अनन्तर दूसरा दु:षमा आरा भी 21,000 वर्ष का होता है और वह भी श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन आरम्भ होता है। इस आरे के प्रारम्भ होते ही पाँच प्रकार की वृष्टि सम्पूर्ण भरत क्षेत्र में होती है। यथा–

1. सात दिन-रात तक निरन्तर पुष्कर नामक मेघ वृष्टि करते हैं इससे धरती की उष्णता दूर हो जाती है।
2. इसके पश्चात् सात दिन वर्षा बन्द रहती है। फिर सात दिन पर्यन्त निरन्तर दुग्ध के समान ''क्षीर'' नामक मेघ बरसते हैं। जिससे सारी दुर्गन्ध दूर हो जाती है। फिर सात दिन तक वर्षा बन्द रहती है।
3. फिर ''घृत'' नामक मेघ सात दिन रात तक बरसते रहते हैं। इससे पृथ्वी में स्निग्धता आ जाती है।
4. फिर लगातार सात दिन-रात तक निरन्तर अमृत के समान ''अमृत'' नामक मेघ बरसते हैं। इस वर्षा से 24 प्रकार के धान्यों के तथा अन्यान्य सब वनस्पतियों के अंकुर जमीन में से फूट निकलते हैं।
5. फिर सात दिन खुला रहने के बाद ईख के रस के समान ''रस'' नामक मेघ सात दिन रात तक निरन्तर बरसते हैं। जिससे वनस्पति में मधुर, कटुक, तीक्ष्ण, कषैले और अम्ल रस की उत्पत्ति होती है।

निसर्ग की यह निराली लीला देखकर बिलों में रहने वाले वे मनुष्य चकित हो जाते हैं और बाहर निकलते हैं। मगर वृक्षों और लताओं के पत्ते हिलते देखकर भयभीत हो जाते हैं और फिर अपने बिलों में घुस जाते हैं। फिर निर्भय होकर वृक्षों के पास पहुँचने लगते हैं। फिर फलों का आहार करने लगते हैं। फल उन्हें मधुर लगते हैं और तब से वे माँसाहार का परित्याग कर देते हैं। माँसाहार से उन्हें इतनी घृणा हो जाती है कि वे जातीय नियम बना लेते हैं कि ''अब जो माँस का आहार करे, उसकी परछाई में भी खड़ा न रहना''। पाँचवें आरे के समान सब व्यवस्था स्थापित हो जाती है। वर्णादि की शुभ पर्यायों में अनन्तगुणी वृद्धि होती है।[149]

(ग) दु:षमा-सुषमा – यह आरा 42000 वर्ष कम एक कोड़ा कोड़ी सागरोपम का होता है। इसकी रचना अवसर्पिणी काल के चौथे आरे के समान समझनी चाहिए। इसके 3 वर्ष और 8 मास 15 दिन व्यतीत होने के बाद प्रथम तीर्थंकर का जन्म होता है। पहले कहे अनुसार इस आरे में 23 तीर्थंकर, 11 चक्रवर्ती, 9 बलदेव, 9 वासुदेव, 9 प्रतिवासुदेवादि होते हैं। पुद्गल की वर्णादि शुभ पर्यायों में अनन्तगुणी वृद्धि होती है।[150]

(घ) सुषमा-दु:षमा – तीसरा आरा समाप्त होने पर चौथा सुषमा दु:षमा आरा दो क्रोड़ाक्रोड़ी सागर का आरम्भ होता है। इसके 84 लाख पूर्व, 3 वर्ष और साढ़े आठ महीने बाद 24 वें तीर्थंकर मोक्ष चले जाते हैं। 12वें चक्रवर्त्ती की आयु पूर्ण हो जाती है। करोड़ पूर्व का समय व्यतीत होने के बाद कल्पवृक्षों की उत्पत्ति होने लगती है। उन्हीं से मनुष्यों और पशुओं की इच्छापूर्ण हो जाती है।[151] तब असि, मसि, कृषि आदि के काम धन्धे बन्द हो जाते हैं। युगल उत्पन्न होने लगते हैं। बादर अग्निकाय और धर्म का विच्छेद हो जाता है। इस प्रकार चौथे आरे में सब मनुष्य अकर्मभूमिक बन जाते हैं। वर्ण आदि की शुभपर्यायों में वृद्धि होती है।[152]

(ङ) सुषमा – तत्पश्चात् सुषमानामक तीन क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम का पाँचवां आरा लगता है। इसका विवरण अवसर्पिणीकाल के दूसरे आरे के समान हैं। वर्णादि की शुभ पर्यायों में क्रमश: वृद्धि होती जाती हैं।[153]

(च) सुषमा-सुषमा – फिर चार क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम का छठा आरा लगता हैं। इसका विवरण अवसर्पिणी काल के प्रथम आरे के समान है। वर्ण आदि की शुभ पर्यायों में अनन्तगुणी वृद्धि होती है।

इस प्रकार 10 क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम का अवसर्पिणीकाल और 10 क्रोड़ाकोड़ी सागरोपम का उत्सर्पिणी काल होता है। दोनों मिलकर 20 क्रोड़ाकोड़ी सागरोपम का एक काल चक्र कहलाता है।[154]

काल परिमाण तालिका

पृथक्त्वपल्य

पृथक्त्व[155] से अभिप्राय है तीन से ज्यादा और नौ से कम संख्या को पृथक्त्व कहते हैं।

(क)	सूक्ष्मात्सूक्ष्मो विभाज्य	= 1 काल = 1 समय
	असंख्य समय	= 1 आवलिका
	1, 67, 70, 216 आवलिका	= 1 मुहूर्त्त:
	तीस मुहूर्त्त की	= 1 अहोरात्र
	दो पक्ष का	= 1 मास
	बारह मास का	= 1 वर्ष

	असंख्यात वर्ष का	= 1 पल्योपम
	दस क्रोड़ा-क्रोड़ी पल्योपम का	= 1 सागरोपम
	दस क्रोड़ा-क्रोड़ी सागरोपम का	= 1 उत्सर्पिणी
	दस क्रोड़ा-क्रोड़ी	= 1 अवसर्पिणी
(ख)	जिसका विभाग न हो सके	= एक समय
	असंख्यात समय	= एक आवलिका
	256 आवलिका	= एक क्षुल्लक भव (सबसे कम आयु)
	2223 1229/3773 आवलिका	= एक उच्छवास-नि:श्वास
	4446 2458/3773 आवलिका	= एक प्राण
	साधिका 17 क्षुल्लक भव या एक श्वासोच्छ्वास	
	7 प्राण	= एक स्तोक
	7 स्तोक	= एक लव
	38½ लव	= एक घड़ी (24 मिनट)
	77 लव	= दो घड़ी अथवा
		= 65536 क्षुल्लक भव (या
		= 16777216 आवलिका या
		= 3773 प्राण अथवा
		= एक मुहूर्त्त (48 मिनट)
	30 मुहूर्त्त	= एक अहोरात्रि
	15 दिन	= एक पक्ष
	2 पक्ष	= एक मास
	2 मास	= एक ऋतु
	3 ऋतु	= एक अयन
	2 अयन	= एक वर्ष
	5 वर्ष	= एक युग
	70 क्रोड़ाक्रोड़, 56 लाख क्रोड़वर्ष	= एक पूर्व

असंख्य वर्ष	=	एक पल्योपम
10 क्रोड़ाकोड़ पल्योपम	=	एक सागर
20 क्रोड़ाक्रोड़ सागर	=	एक कालचक्र
अनन्त काल चक्र	=	एक पुद्गल परावर्तन[156]

पूर्वाङ्ग, पूर्व, पर्वाङ्ग, पूर्वाङ्ग आदि

चौरासी लाख वर्षों का एक पूर्वाङ्ग होता है। चौरासी लाख का वर्ग करने अर्थात् परस्पर गुणा करने से जो संख्या आती है उसे पूर्व कहते हैं।[157] (8400000 × 8400000 = 70560000000000) इस संख्या में एक करोड़ का गुणा करने से जो लब्ध आवे उतना एक पूर्व कोटि कहलाता है। पूर्व की संख्या में चौरासी का गुणा करने पर जो लब्ध हो उसे पूर्वाङ्ग कहते हैं तथा पर्वाङ्ग में पूर्वाङ्ग अर्थात् चौरासी लाख गुणा करने पर जो लब्ध हो उसे पर्वाङ्ग कहते हैं तथा पर्वाङ्ग में पूर्वाङ्ग अर्थात् चौरासी लाख का गुणा करने से पर्व कहलाता है।[158] इसके आगे जो नयुताङ्ग नयुत आदि संख्याएँ कहीं हैं उनके लिए भी क्रम से यहीं गुणाकार करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि पर्व को चौरासी से गुणा करने पर नयुताङ्ग, नयुताङ्ग को चौरासी लाख से गुणा करने पर नयुत; नयुत को चौरासी से गुणा करने पर कुमुदाङ्ग, कुमुदाङ्ग को चौरासी से गुणा करने पर कुमुद; कुमुद को चौरासी से गुणा करने पर पद्माङ्ग और पद्माङ्ग को चौरासी लाख से गुणा करने पर पद्म; पद्म को चौरासी से गुणा करने पर नलिनाङ्ग और नलिनाङ्ग को चौरासी लाख से गुणा करने पर नलिन होता है। इसी प्रकार गुणा करने पर आगे की संख्याओं का प्रमाण निकलता है।[159] अब क्रम से उन संख्या भेदों के नाम कहे जाते हैं जो कि अनादिनिधन जैनागम में रुढ़ हैं।[160] पूर्वाङ्ग, पूर्व पर्वाङ्ग, पर्व, नयुताङ्ग, नयुत कुमुदाङ्ग, कुमुद, पद्माङ्ग, पद्म, नलिनाङ्ग, नलिन, कमलाङ्ग, कमल, तुटयङ्ग, तुटिक, अटटाङ्ग, अटट, अममाङ्ग, अमम, हाहाङ्ग, हाहा, हूहूवङ्ग, हूहू, लताङ्ग, लता, महालताङ्ग, महालता, शिर: प्रकम्पित, हस्तप्रहेलित और अचल ये सब उक्त संख्या के नाम हैं, जो कि कालद्रव्य की पर्याय है। यह सब संख्येय हैं – संख्यात के भेद हैं इसके आगे का संख्या से रहित असंख्यात है।[161]

समीक्षा

काल के संदर्भ में जैन साहित्य में दो विचार हैं। एक मत के अनुसार काल स्वतन्त्र द्रव्य नहीं हैं। ''काल'' जीव और अजीव द्रव्य का पर्याय प्रवाह

है। इस दृष्टि से जीव और अजीव द्रव्य का पर्याय परिणमन ही उपचार से काल कहा जाता है, अतः जीव और अजीव को ''काल'' द्रव्य जानना चाहिए वह पृथक् तत्त्व नहीं है।[162]

द्वितीय मत के अनुसार काल एक सर्वथा स्वतन्त्र द्रव्य है। उनका स्पष्ट आघोष है कि जीव और पुद्गल जैसे स्वतन्त्र द्रव्य हैं। उसी प्रकार काल भी है, अतः काल को जीव आदि की पर्याय प्रवाह रूप न मानकर पृथक् तत्त्व मानना चाहिए।

श्वेताम्बर आगम साहित्य भगवती, उत्तराध्ययन, जीवाभिगम, प्रज्ञापना आदि में काल सम्बन्ध में दोनों मान्यताओं का उल्लेख है। इसके पश्चात् आचार्य उमास्वाति, सिद्धसेन, दिवाकर, जिनभद्रगणी, क्षमाश्रमण, हरिभद्रसूरि, आचार्य हेमचन्द्र, उपाध्याय यशोविजय जी, विनयविजय जी, देवचन्द्र जी, आदि श्वेताम्बर विज्ञों ने दोनों पक्षों का उल्लेख किया है किन्तु दिगम्बर आचार्य कुन्दकुन्द, पूज्यपाद, भट्टारक अकलंकदेव, विद्यानन्द स्वामी आदि ने केवल द्वितीय पक्ष को ही माना है। वे काल को एक स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं।

प्रथम मत का अभिमत यह है कि समय, आवलिका, मुहूर्त्त, दिन-रात आदि जो भी व्यवहार काल साध्य हैं वे सभी पर्याय-विशेष के संकेत हैं। पर्याय, यह जीव-अजीव की क्रिया विशेष हैं। जो किसी भी तत्त्वान्तर की प्रेरणा के अतिरिक्त होती है, अर्थात् जीव-अजीव दोनों अपने-अपने पर्याय रूप में स्वतः ही परिणत हुआ करते हैं अतः जीव-अजीव के पर्याय-पुँज को ही काल कहना चाहिए। काल अपने आप में कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है।

द्वितीय मत का अभिमत यह है कि जैसे जीव और पुद्गल स्वयं ही गति करते हैं और स्वयं ही स्थिर होते हैं, उनकी गति और स्थिति में निमित्त रूप से धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय को स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं वैसे ही जीव और अजीव में पर्याय-परिणमन का स्वभाव होने पर भी उसके निमित्त कारण रूप काल द्रव्य को मानना चाहिए।

उक्त दोनों कथन परस्पर विरोधी नहीं किन्तु सापेक्ष हैं। निश्चय दृष्टि से काल जीव-अजीव की पर्याय है और व्यवहार दृष्टि से वह द्रव्य है। उसे द्रव्य मानने का कारण उसकी उपयोगिता है। वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व-अपरत्व ये काल के उपकारक हैं। इन्हीं के कारण वह द्रव्य माना जाता है। उसका व्यवहार पदार्थों की स्थिति के लिए होता है। समय आवलिका रूप काल जीव-अजीव से पृथक् नहीं हैं, उन्हीं की पर्याय हैं।

निश्चयदृष्टि से काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानने की आवश्यकता नहीं है। उसे जीव और अजीव के पर्यायरूप मानने से ही सभी कार्य व सभी व्यवहार सम्पन्न हो सकते हैं। व्यवहार की दृष्टि से ही उसे स्वतन्त्र द्रव्य माना है और उसे पृथक् द्रव्य गिनाया गया है एवं उसे जीवाजीवात्मक भी कहा है।

इस प्रकार आदिपुराण में काल-द्रव्य को अन्य पाँच द्रव्यों के समान पर्याप्त रूप में स्थान दिया गया है जिसे मुहूर्त,[163] एक सागर,[164] सात सागर,[165] दस सागर[166] सोलह सागर,[167] बीस सागर,[168] तीस सागर,[169] तेतीस सागर[170] और छयासठ सागर,[171] दस क्रोड़ाक्रोड़ी,[172] बीस क्रोड़ाक्रोड़ी[173] काल परिमाण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थकार पाठकों को यह बतलाने की कोशिश कर रहा है कि काल द्रव्य मात्र एक व्यवहार को ध्यान में रखकर सापेक्ष न होकर बल्कि एक स्वतन्त्र और कूटस्थ द्रव्य है।

संदर्भ

1. आ.पु. 24.131
2. त.सू. 5.1
3. द्रव्यं.सं. टी. 15.50; पंचास्ति.त.वृ. 2.124-125
4. अजीवलक्षणं तत्त्वं पञ्चधैव प्रपञ्च्यते।
   धर्माधर्मावथाकाशं कालः पुद्गल इत्यपि।। – आ.पु. 24.132; त.सू. 5.1 वि.
5. जीवपुद्गलयोर्यत्स्याद् गत्युपग्रहकारणम्। – आ.पु. 24.133
6. आ.पु. 24.133 (टीका)
7. धर्म द्रव्यं तदुद्दिष्टमधर्मः स्थित्युपग्रहः। – आ.पु. 24.133

   गतिस्थितिमतामेतौ गतिस्थित्योरुपग्रहे।
   धर्माधर्मौ प्रवर्तेते न स्वयं प्रेरकौ मतौ।।

   यथा मत्स्यस्य गमनं बिना नैवाम्भसा भवेत्।
   न चाम्भः प्रेरयत्येनं तथा धर्मास्त्यनुग्रहः।।

   तरुच्छाया यथा मर्त्यं स्थापयत्यर्थिनं स्वतः।
   न त्वेषा प्रेरयत्येनमथ च स्थिति कारणम्।।

   तथैवाधर्मकायोऽपि जीवपुद्गलयोः स्थितिम्।
   निवर्तयत्युदासीनो न स्वयं प्रेरकः स्थितेः।। – आ.पु. 24.134-137,
8. त.सू. (के.मु.) 5.1 (वि.)
9. जीवादीनां पदार्थानामवगाहनलक्षणम्।
   यत्तदाकाशमस्पर्शममूर्तं व्यापि निष्क्रियम्।। – आ.पु. 24.138
10. आकाशस्यावगाहः – त.सू. 5.18

11. आकाशस्यानन्ताः – त.सू. 5.9

12. लोक्यन्तेऽस्मिन्निरीक्ष्यन्ते जीवाद्यर्थाः सपर्यया:।
इति लोकस्य लोकत्वं निराहुस्तत्त्वदर्शिनः।। – आ.पु. 4.13

13. जै.द. (न्या.वि.श्री.) पृ. 18-19

14. रा.वा. 5.10.2

15. जै.द. - (मो.ला.मे.) पृ. 19

16. वर्णगन्धरसस्पर्शयोगिनः पुद्गला मताः।
पूरणाद् गलनाच्चैव संप्राप्तान्वर्थनामकाः।। – आ.पु. 24.145

17. पूरणगलनान्वर्थसंज्ञत्वात् पुद्गलाः। – त.रा.वा. पृ. 190

18. धर्माधर्मवियत्कालपदार्था मूर्तिवर्जिताः।
मूर्तिमत्पुद्गलद्रव्यं तस्य भेदानितः शृणु।। – आ.पु. 24.144

19. गलनपूरणस्वभावसनाथः पुद्गल। – नि.सा.ता.वृ. 9

20. स्पर्शरसगन्धवधर्णवन्तः पुद्गलाः।
शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायाऽऽतपोद्योतवन्तश्च। – त.सू. 5.23-24

21. भ.सू. 7.10; त.सू. 5.4

22. परमाणु दो प्रकार के हैं - सूक्ष्म और व्यवहार। सूक्ष्म परमाणु तो अव्याख्येय हैं। व्यवहार परमाणु जो अनन्तानन्त सूक्ष्म परमाणु पुद्गलों का समुदाय है, वह भी शास्त्र अग्नि, जल आदि से अप्रतिहत रहता है। – अनु.सू. 330-346; गणितानुयोग पृ. 756-57

23. न्यायकोष पृ. 502

24. आ.पु. 24.146

25. त.सू. 5-25

26. स्कन्धाणुभेदतो द्वेधा पुद्गलस्य व्यवस्थितिः।
स्निग्धरूक्षात्मकाणूनां संघातः स्कन्ध इष्यते।।

द्व्यणुकादिर्महास्कन्धपर्यन्तस्तस्य विस्तरः।
छायातपतमोज्योत्स्नापयोदादि प्रभेदभाक्।।

अणवः कार्यलिङ्गाः स्युः द्विस्पर्शाः परिमण्डलाः।
एकवर्णरसा नित्याः स्युरनित्याश्च पर्ययः।। – आ.पु. 24.146-148

26अ. भ.श. 2, उ. 90

27. स्कन्धास्तु बद्धा एवेतिपरस्परसंहत्या व्यस्थिताः।

– त.सू. 5.25 के भाष्य पर सि.से. गणि टीका

28. त.सू. 5.24 का भाष्य तथा 5.25 सू. उ. सू. 36.11

29. सूक्ष्मसूक्ष्मास्तथा सूक्ष्माः सूक्ष्मस्थूलात्मकाः परे।
स्थूलसूक्ष्मात्मकाः स्थूलाः स्थूलस्थूलाश्च पुद्गलाः।। – आ.पु. 24.149

30. बादरबादरं बादरं बादरसूक्ष्मं च सूक्ष्मस्थूलं च।
सूक्ष्मं च सूक्ष्मसूक्ष्मं धरादिकं भवति षड्भेदम्।। – गो.सा. (जी.का.) गा. 603
31. सूक्ष्मसूक्ष्मोऽणुरेकः स्याद्दृश्योऽस्पृश्य एव च।। – आ.पु. 24.150
32. वही।
33. सूक्ष्मास्ते कर्मणां स्कन्धाः प्रदेशानन्त्ययोगतः।। – आ.पु. 24.150
34. गो.सा. (जी.का.) गा. 603
35. शब्दः स्पर्शो रसो गन्धः सूक्ष्मस्थूलो निगद्यते।
अचाक्षुषत्वे सत्येषा मिन्द्रियग्राह्यतेक्षणात्।। – आ.पु. 24.151
36. गो.सा. (जी.का.) गा. 603
37. स्थूलसूक्ष्माः पुनर्ज्ञेयाश्छायाज्योत्स्नातपादयः
चाक्षुषत्वेऽप्यसंहार्य रूपत्वादविघातकाः।। – आ.पु. 24.152
38. गो.सा. (जी.का.) गा. 603
39. द्रवद्रव्यं जलादि स्यात् स्थूलभेदनिदर्शनम्। – आ.पु. 24.153
40. गो.सा. (जी.का.) गा. 603
41. स्थूलस्थूलः पृथिव्यादिर्भेद्यः स्कन्धः प्रकीर्तितः। – आ.पु. 24.153
42. वि.सू. (ज्ञा.मु.) प्रस्ता.
43. कर्म ग्र.भा.1, गा.1
44. वही
45. आ.पु. 17.226 (टीका)
46. जै.द.स्व. और विश्ले. (दे.मु.) पृ. 425
विसय कसायहिं रंगियहं, जे अणुआ लग्गंति।
जीव पएसहं - मोहियहं ते जिण कम्म भणंति।। – परमात्म प्रकाश 1.62
47. तत्र द्रव्यकर्म पुद्गलपिण्डो भवति। तस्य पुद्गलपिण्डस्य या शक्तिः।
रागद्वेषाद्युत्पादिका रागद्वेषपरिणामं वा भावकर्म भवति।। – कर्म.प्र. (ने.च.) गा. 6
48. कर्म.ग्र. (दे.सू.) भा. 1, गा. 3
49. कर्म.ग्र. (दे.सू.) भा. 1, पृ. 14
50. त्रयं ह्यावरणादेतद्व्यवधिः करणं क्रमः। – आ.पु. 24.57
51. ज्ञानावरणनिर्ह्वा सान्नमस्तेऽनन्तचक्षुषे। – आ.पु. 25.81
52. उत्तरा.सू. 33.4; स्था.सू. 5.3.464;
मतिश्रुतावधिमनः पर्ययिकेवलानिज्ञानम्।। – त.सू. 1.9
53. कर्म.ग्र. (दे.सू.) भा. 1, पृ. 14
54. दर्शनावरणोच्छेदान्नमस्ते विश्वदृश्वने। – आ.पु. 25.81

55. कर्म.ग्र. (दे.सू.) भा. 1, गा. 9
56. कर्म.ग्र. (दे.सू.) भा. 1, पृ. 65
57. प्रज्ञा.सू. - पद 23, 3.293; उत्तरा.सू. 33.7; - त.सू. 8.9
58. कर्म.ग्र. (दे.सू.) भा. 1, पृ. 65
59. वही।
60. असद्वेघोदयाद् भुक्तिं त्वयि यो योजयेदधीः।
मोहानिलप्रतीकारे तस्यान्वेष्यं जरद्घृतम्।। – आ.पु. 25.40
61. कर्म.ग्र. (दे.सू.) भा. 1, पृ. 68; त.सू. 8.5 (वि)
62. यथार्थदर्शनं तद्वदन्तर्मोहोपशान्तितः। – आ.पु. 9.118
63. न भुक्तिः क्षीणमोहस्य तवान्नतसुखोदयात्।
क्षुत्क्लेशबाधितो जन्तुः कवलाहारभुग्भवेत्।। – आ.पु. 25.39
64. कर्म.ग्र. (दे.सू.) भा. 1, गा. 13
65. वही, पृ. 68
66. शमाद् दर्शनमोहस्य सम्यक्त्वादानमादितः।
जन्तोरनादिमिथ्यात्व कलङ्ककलि लात्मनः।। – आ.पु. 9.117
67. नमो दर्शनमोहघ्ने क्षायिकामलदृष्टये। – आ.पु. 25.82
68. कर्म.ग्र. (दे.सू.) भा. 1, गा. 14
69. कर्मग्र. (दे.सू.) भा. 1, पृ. 69-70
70. वही, पृ. 68; त.सू. 8.5 (वि.)
71. नमश्चारित्रमोहघ्ने विरागाय महौजसे।। – आ.पु. 25.82
72. कर्म.ग्र. (दे.सू.) भा. 1, गा. 14
73. वही, गा. 17
74. कृतान्तः शुद्धिरुद्धृतकृतान्तकृतविक्रियः।
उत्तस्थे सर्वसामग्र्यो मोहारिपृतनाजये।। – आ.पु. 20.234
75. कृत्स्नस्य मोहनीयस्य प्रशमादुपपादितम्।
तत्रौपशमिकं प्रापच्चारित्रं सुविशुद्धिकम्।। – आ.पु. 11.91
76. आ.पु. 17.251
77. सूक्ष्मीकृतं ततो लोभं जयन्मोह व्यजेष्ट सः।
कर्षितो ह्यरिरुग्रोऽपि सुजयो विजिगीषुणा।। – आ.पु. 20.260
78. कर्म.ग्र. (दे.सू.) भा. 1, गा. 23
79. त.सू. 8.5 (वि.)
80. कर्म.ग्र. (दे.सू.) भा. 1, पृ. 94

81. वही, गा. 23
82. वही, पृ. 97
83. स्था.सू. 2.4.105 (वि.)
84. कर्म.ग्र. (दे.सू.) भा. 1, पृ. 98
85. आ.पु. 18.74
86. कर्म.ग्र. (दे.सू.) भा. 1, गा. 52, पृ. 151
87. वही; उच्चैर्नीचैश्च – त.सू. 8.13
88. कर्म.ग्र. (दे.सू.) भा. 1, गा. 52, पृ. 152; उत्तरा सू. 23.14
89. वही; उत्तरा सू. 23.14
90. स्था.सू 2.4.105 (वि.); कर्म.ग्र. (म.मु.) भा. 1, पृ. 153
91. त.सू. 8.14 वि.; प्रज्ञा पद 23, उ.2, सू. 293
92. त.सू., (के.मु.) 8.14 वि.
93. त.सू. (के.मु.) 8.14 वि.
94. वही।
95. वही।
96. वही।
97. समूलोत्तरभेदेन कर्माण्युक्तानि कोविदैः। – आ.पु. 47.311
98. रा.वा. 1.4.10
99. सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्त स बन्धः। – त.सू. 8.2
100. स.सा. 262
101. मिथ्यादृष्टेः स एवास्य बन्धहेतुर्विपर्ययात्।
स एवाध्यवसायो यमज्ञानात्मास्य दृश्यते।। – स.सा. आत्मख्याति, 170
102. मातापितृस्नेहसम्बन्धः नो कर्मबन्धः।। – रा.वा., 8
103. द्र.सं. 33
104. वही।
105. बन्धश्चतुर्विधो ज्ञेयः प्रकृत्यादिविकल्पितः। – आ.पु. 47.312
प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशास्तद्विधयः।। – त.सू. 8.4
106. त.सू. (के.मु.) 8.4 (वि) कर्म.ग्र. भा. 1, सू. 2 (विशेषार्थ)
107. आवरणमोहविघ्नं घाति जीवगुणघातनत्वात्।
आयुष्कनाम गोत्रं वेदनीयं तथा अघातीति।। – गो. सा. (कर्म.का.) गा. 9
108. त.सू. (के.मु.) 8.4 (वि);
कर्म.ग्रा. (भा. 1) सू. 2 (विशेषार्थ)

109. त.सू. (कें.मु.) 8.4 (वि); कर्म.भा. 1, सू. 2 (विशेषार्थ)

110. वही।

111. अनादिनिधनः कालो वर्त्तना लक्षणो मतः
लोकमात्रः सुसूक्ष्माणुपरिच्छिन्नप्रमाणकः। – आ.पु. 3.2; 24.139

112. *सोऽसंख्येयोऽप्यनन्तस्य वस्तुराशेरुपग्रहे।*
वर्त्तते स्वगतानन्तसामर्थ्यपरिबृंहितः॥

यथा कुलालचक्रस्य भ्रान्तेर्हेतुरधश्शिला।
तथा कालः पदार्थानां वर्त्तनोपग्रहे मतः॥ – आ.पु. 3.3-4

113. वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य। – स.सि. 5.22

114. सोऽनन्तसमयः। – त.सू. 5.39

115. पञ्चास्ति. गा. 23

116. कल्यते क्षिप्यते प्रेर्यते येन क्रियावद् द्रव्यं स कालः॥ – रा.वा. 4.14

117. कालश्चेत्येके। – त.सू. 5.38

118. सोऽनन्तसमयः। – त.सू. 5.39

119. कालोऽन्यो व्यवहारात्मा मुख्यकालव्यापाश्रयः।
परापरत्वसंसूच्यो वर्णितः सर्वदर्शिभिः॥

वर्त्तितो द्रव्यकालेन वर्तनालक्षणेन यः।
कालः पूर्वापरीभूतो व्यवहाराय कल्प्यते॥

समयावलिकोच्छ्वास-नालिकादिप्रभेदतः।
ज्योतिश्चक्रभ्रमायत्तं कालचक्रं विदुर्बुधाः॥

भवायुष्कायकर्मादिस्थितिसंकलनात्मकः।
सोऽनन्तसमयस्तस्य परिवर्त्तोऽप्यनन्तधा॥ – आ.पु. 3.10-13

120. व्यवहारात्मकात् कालान्मुख्यकालविनिर्णयः।
मुख्ये सत्येव गौणस्य बाह्लीकादेः प्रतीतितः॥

स कालो लोकमात्रैः स्वैरणुभिर्निचितः स्थितैः।
ज्ञेयोऽन्योन्यमसंकीर्णैं रत्नानामिव राशिभिः॥ – आ.पु. 24.141-142

121. त.सू. 5.39; (टीका) व्याख्याप्रज्ञाप्ति सू. 25.5

122. उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ द्वौ भेदौ तस्य कीर्तितौ।
उत्सर्पादवसंर्पाच्च बलायुर्देहवर्ष्मणाम्॥ – आ.पु. 3.14

123. कोटीकोट्यो दशैकस्य प्रमा सागरसंख्यया।
शेषस्याप्येवमेवेष्टा तावुभौ कल्प इष्यते॥

षोढा स पुनरेकैको भिद्यते स्वभिदात्मभिः।
तन्नामान्यनुकीर्त्यन्ते श्रृणु राजन् यथाक्रमम्॥

द्विरुक्तसुषमाद्यासीत् द्वितीया सुषमा मता।
सुषमा दु:षमान्तान्या सुषमान्ता च दु:षमा।।
पञ्चमी दु:षमा ज्ञेया समा षष्ट्यतिदु:षमा।
भेदाइमेऽवसर्पिण्या उत्सर्पिण्या विपर्यया:।। – आ.पु. 3.15-18

124. समा कालविभाग: स्यात् सुदुसावर्हगर्हयो:।
सुषमा दु:षमेत्येवमतोऽन्वर्थत्वमेतयो:।।
उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ कालो सान्तर्भिदाविमौ।
स्थित्युत्सर्पावसर्पाभ्यां लब्धान्वर्थाभिधानकौ।।
कालचक्रपरिभ्रान्त्या षट्समापरिवर्त्तनै:।
तावुभौ परिवर्तेते तामिस्रेतरपक्षवत्।। – आ.पु. 3.19-21

125. सागरोपमकोटीनां कोटी स्याच्चतुराहता।
तस्य कालस्य परिमा तदा स्थितिरियं मता।। – आ.पु. 3.23

126. तदा स्थितिर्मनुष्याणांत्रिपल्योपमसम्मिता।
षट्सहस्राणि चापानामुत्सेधो वपुष: स्मृत:।। – आ.पु. 3.25

127. वज्रास्थिबन्धना: सौम्या: सुन्दराकारचारव:।
निष्टप्तकनकच्छाया दीप्यन्ते ते नरोत्तमा:।।
मुकुटं कुण्डलं हारो मेखला कटकाङ्गदौ।
केयूरं ब्रह्मसूत्रं च तेषां शश्वद् विभूषणम्।।
ते स्वपुण्योदयोद्भूतरूपलावण्यसंपद:।
रंरम्यन्ते चिरं स्त्रीभि: सुरा इव सुरालये।। – आ.पु. 3.26-28,

128. महासत्त्वा महाधैर्या महोरस्का महौजस:।
महानुभावास्ते सर्वे महीयन्ते महोदया:।। – आ.पु. 3.29

129. तेषामाहारसंप्रीतिर्जायते दिवसैस्त्रिभि:।
कुवलीफलमात्रं च दिव्यान्नं विष्वणन्ति ते।।
निर्व्यायामा निरातङ्का निर्णीहारा निराधय:।
निस्स्वेदास्ते निराबाधा जीवन्ति पुरुषायुषा:।। – आ.पु. 3.30-31

130. स्त्रियोऽपि तावदायुष्कास्तावदुत्सेधवृत्तय:।
कल्पद्रुमेषु संसक्ता: कल्पवल्ल्य इवोज्ज्वला:।। – आ.पु. 3.32

131. पुरुषेष्वनुरक्तास्तास्ते च तास्वनुरागिण:।
यावज्जीवमसंक्लिष्टा भुञ्जते भोगसंपद:।। – आ.पु. 3.33

132. स्वभावसुन्दरं रूपं स्वभावमधुरं वच:।
स्वभावचतुरा चेष्टा तेषां स्वर्गजुषामिव।। – आ.पु. 3.34

133. रुच्याहारगृहातोद्य-माल्यभूषाम्बरादिकम्।
भोगसाधनमेतेषां सर्वं कल्पतरूद्भवम्।। – आ.पु. 3.35

मनोभिरुचितान् भोगान् यस्मात् पुण्यकृतां नृणाम्।
कल्पयन्ति ततस्तज्ज्ञैर्निरुक्ताः कल्पपादपाः।। – आ.पु. 3.38

मद्यतूर्यविभूषास्त्रग्ज्योतिर्दीपगृहाङ्गकाः।
भोजनामत्र वस्त्राङ्गा दशधा कल्पशाखिनः।।

इति स्वनामनिर्दिष्टां कुर्वन्तोऽर्थक्रियाममी।
संज्ञाभिरेव विस्पष्टा ततो नातिप्रतन्यते।। – आ.पु. 3.39-40

134. तथा भुक्ता चिरं भोगान् स्वपुण्यपरिपाकजान्।
स्वायुरन्ते विलीयन्ते ते घना इव शारदाः।।

जृम्भिकारम्भमात्रेण तत्कालोत्थक्षुतेन वा।
जीवितान्ते तनुं त्यक्त्वा ते दिवं यान्त्यनेनसः।।

स्वभावमार्दवायोगवक्रतादिगुणैर्युताः।
भद्रकास्त्रिदिवं यान्ति तेषां नान्या गतिस्ततः।। – आ.पु. 3.41-43

135. ततो यथाक्रमं तस्मिन् काले गलति मन्दताम्।
यातासु वृक्षवीर्यायुः शरीरोत्सेधवृत्तिषु।। – आ.पु. 3.45

सुषमालक्षणः कालो द्वितीयः समवर्त्तत।
सागरोपमकोटीनां तिस्रः कोट्योऽस्य संमितिः।। – आ.पु. 3.46,

136. तदा मर्त्या ह्यमर्त्याभा द्विपल्योपमजीविताः।
चतुःसहस्रचापोच्चविग्रहाः शुभचेष्टिताः।। – आ.पु. 3.48

137. कलाधरकलास्पर्द्धि देह ज्योत्स्नास्मितोज्ज्वलाः
दिनद्वयेन तेऽश्नन्ति वार्क्षमन्थोऽक्षमात्रकम्। – आ.पु. 3.49

138. यथावसरसंप्राप्तस्तृतीयः कालपर्ययः।
प्रावर्त्तत सुराजेव स्वां मर्यादामलङ्घयन्।। – आ.पु. 3.52

सागरोपमकोटीनां कोट्यौ द्वे लब्धसंस्थितौ।
कालेऽस्मिन् भारते वर्षे मर्त्याः पल्योपमायुषः।। – आ.पु. 3.53

139. गव्यूतिप्रमितोच्छ्रायाः प्रियङ्गुश्यामविग्रहाः।
दिनान्तरेण संप्राप्तधात्रीफलमिताशनाः।। – आ.पु. 3.54

140. ततस्तृतीयकालेऽस्मिन् व्यतिक्रामत्यनुक्रमात्।
पल्योपमाष्टभागस्तु यदास्मिन् परिशिष्यते।।

कल्पानोकहवीर्याणां क्रमादेव परिच्युतौ।
ज्योतिरङ्गास्तदा वृक्षा गता मन्दप्रकाशताम्।। – आ.पु. 3.55-56

141. पुष्यवन्तावथाषाढ्यां पौर्णमास्यां स्फुरत्प्रभौ।
सायाह्ने प्रादुरास्तां तौ गगनोभयभागयोः।। – आ.पु. 3.57

142. जै.त.प्र. (अ.ऋ.जी.) पृ. 86

143. वही।

144. वही, पृ. 94-95
145. वही, पृ. 98
146. जै.त.प्र., (अ.ऋ.जी.) पृ. 98
147. वही, पृ. 100-101
148. जै.त.प्र. - (अ.ऋ.जी.) पृ. 101
149. जै.त.प्र. - (अ.ऋ.जी.) पृ. 101
150. वही।
151. जै.त.प्र. - (अ.ऋ.जी.) पृ. 101
152. वही, पृ. 102
153. वही।
154. वही।
155. आ.पु. 5.286 (टिप्पणी)
पल्योपमपृथक्त्ववशिष्टमायुर्यदास्य च।
156. जै.द.स्व. और वि. (दे.मु.) पृ. 152
157. पूर्वाङ्गंवर्षलक्षाणामशीतिश्चतुरुत्तरा।
तद्वर्गितं भवेत् पूर्वं तत्कोटी पूर्वकोट्यसौ।। – आ.पु. 3.218
158. पूर्वचतुरशीतिघ्नं पूर्वाङ्गं परिभाष्यते।
पूर्वाङ्गताडितं तत्तु पर्वाङ्गं पर्वमिष्यते।। – आ.पु. 3.219
159. गुणाकारविधिः सोऽयं योजनीयो यथाक्रमम्।
उत्तरेष्वपि संख्यानविकल्पेषु निराकुलम्।। – आ.पु. 3.220
160. तेषां संख्यानभेदानां नामानीमान्यनुक्रमात्।
कीर्त्यन्तेऽनादिसिद्धान्तपदरूढीनि यानि वै।। – आ.पु. 3.221
161. पूर्वाङ्गं च तथा पूर्वपर्वाङ्गं पर्वसाह्वयम्।
नयुताङ्गं परं तस्मान्नयुतं च ततः परम्।।
कुमुदाङ्गमतो विद्धि कुमुदाह्वमतः परम्।
पद्माङ्गं च ततः पद्मं नलिनाङ्गमतोऽपि च।। – आ. पु. 3.222-223
नलिनं कमलाङ्गं च तथान्यत् कमलं विदुः।
तुट्यङ्गं तुटिकं चान्यदटटाङ्गमथाटटम्।।
अममाङ्गमतो ज्ञेयममाख्यमतः परम्।
हाहाङ्गं च तथा हाहा हूहूश्चैवं प्रतीयताम्।।
लताङ्गं च लताह्वं च महत्पूर्वं च तद्द्वयम्।
शिरः प्रकम्पितं चान्यत्ततो हस्तप्रहेलितम्।।
अचलात्मकमित्येवं प्रकारः कालपर्ययः।
संख्येयो गणनातीतं विदुः कालमतः परम्।। आ.पु. 3.224-227

162. कालश्चेत्येके। – त.सू. 5.38
163. आ.पु. 9.135
164. वही, 9.107
165. वही, 7.12
166. वही, 8.193
167. वही, 7.79
168. वही, 10.170
169. वही, 7.89
170. वही, 11.145
171. वही, 7.93
172. वही, 3.15
173. वही, 3.15

पञ्चम अध्याय

आदिपुराण में पुण्य-पाप आस्त्रव संवर, निर्जरा, निर्जरा के हेतु तप, ऋद्धि, दान विमर्श

पुण्य पाप

आदिपुराण में पुण्य-पाप की अलग रूप से परिभाषा नहीं दी गई अपितु ''सात'' अथवा नौ तत्त्व''[1] के कथन से पुण्य और पाप का उल्लेख किया है। अथवा ग्रन्थकार पूर्ववर्त्तियों द्वारा पुण्य-पाप परिभाषा को शब्दशः स्वीकार कर रहे प्रतीत होते हैं।[1]

अपने सामान्यार्थ में पाप और पुण्य क्रमशः अशुभ और शुभ कर्म हैं। आत्मा को जो शुभ की ओर अग्रसर करें और इष्ट की प्राप्ति करावें, वह पुण्य हैं।[2] इसके विपरीत आत्मा को अशुभ की ओर अग्रसर करें और अनिष्ट की प्राप्ति करावें, यह पाप है।[3]

पुण्य और पाप शुभ और अशुभ कार्मण-पुद्गल हैं। ये अजीव कर्म परमाणु अपने स्वरूपानुसार शुभाशुभ परिणाम देते हैं और तदनुसार ही शुभाशुभ बन्ध भी बनते हैं। मन, वचन, काया की भली-बुरी प्रवृत्तियों द्वारा ही जीव शुभ अथवा अशुभ कर्म पुद्गलों को ग्रहण करता है। कर्मों के इस प्रकार विपाक उदित होते हैं वे ही पुण्य पाप के नाम से जाने जाते हैं।[4]

पुण्य के प्रकार

पुण्योपार्जन के नौ साधन[5] अथवा प्रकार हैं –

1. अन्न पुण्य 2. पान पुण्य 3. शयन पुण्य 4. लयन पुण्य 5. वस्त्र पुण्य 6. मन पुण्य 7. वचन पुण्य 8. काया पुण्य 9. नमस्कार पुण्य।

1. अन्न पुण्य – दया-बुद्धि से किसी को भोजन देना पुण्य है।[6]

2. पान पुण्य – दया-बुद्धि से किसी प्यासे की प्यास बुझाना पुण्य है।[7]

3. शयन-पुण्य – आराम करने के लिये किसी को आसन या बिस्तर देना शयन पुण्य है।[8]

4. लयन पुण्य – किसी को ठहरने के लिए मकान देना लयन पुण्य है।[9]

5. वस्त्र पुण्य – अनुकम्पा भाव से किसी गरीब को वस्त्र देना भी वस्त्र पुण्य है।[10]

6. मन पुण्य – मानसिक भावों को पवित्र रखना मन पुण्य है।[11]

7. वचन पुण्य – किसी को वाणी के द्वारा धैर्य एवं दिलासा देना गुणीजनों की प्रशंसा करना, हितभाव से मीठा बोलना और प्रभु-स्तुति एवं स्वाध्याय करना वचन पुण्य है।[12]

8. काय-पुण्य – गुणीजनों या दु:खियों की शरीर से सेवा करना काय-पुण्य है।[13]

9. नमस्कार पुण्य – विनय एवं नम्रता से किसी को नमस्कार करना, नमस्कार पुण्य है।[14]

पाप के प्रकार

उदित हुए अशुभ कर्म पुद्गलों और उनके कारण स्वरूप अशुभ कर्मों को पाप कहा जाता है। पुण्य की भाँति ही पाप की कर्मप्रवृत्तियाँ भी असंख्य हैं उनमें से प्रमुख अशुभ योग अठारह हैं[15] जिन्हें पाप-स्थानक भी कहते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं–

1. प्राणातिपात 2. मृषावाद 3. अदत्तादान 4. अब्रह्मचर्य 5. परिग्रह 6. क्रोध 7. मान 8. माया 9. लोभ 10. राग 11. द्वेष 12. कलह 13. अभ्याख्यान 14. पैशून्य 15. परनिन्दा 16. रति-अरति 17. माया-मृषावाद 18. मिथ्यादर्शन।

1. **प्राणातिपात** – प्राणों का अतिपात – विनाश करना या प्रमाद - (असतर्कता) वंश प्राणों का घात करना प्राणातिपात है।[16]
2. **मृषावाद** – मृषा का अर्थ है झूठ, मिथ्या, गल और वाद का अर्थ है बोलना। अर्थात् झूठ बोलना मृषावाद है।[17]
3. **अदत्तादान** – बिना दी हुई वस्तु को चोरी की बुद्धि से उठा लेना अदत्तादान है।[18]

4. **अब्रह्मचर्य** – कामराग के वशीभूत होकर स्त्री-पुरुष द्वारा परस्पर कामुक चेष्टाएँ करना अब्रह्मचर्य है। इसका दूसरा नाम मैथुन भी है।[19]

5. **परिग्रह** – किसी वस्तु पर ममत्व या आसक्ति का होना ही परिग्रह है।[20] यह परिग्रह दो प्रकार का होता है--

   (क) बाह्य परिग्रह

   (ख) आभ्यन्तर परिग्रह[21]

(क) **बाह्य परिग्रह** – बाह्य परिग्रह में खेत, मकान, धन, धान्य, कामिनी, वाहन आदि ये सभी बाह्य परिग्रह हैं।

(ख) **आभ्यन्तर परिग्रह** – आभ्यन्तर परिग्रह में ममत्व मूर्च्छा, आसक्ति आदि ये आभ्यन्तर परिग्रह है परिग्रह के अनेक भेद होते हुए भी आसक्ति रूप परिग्रह मूलतः एक है।[22]

6. **क्रोध** – क्रोध का अर्थ गुस्सा, रोष, कोप होना है। क्रोध मोहनीय कर्म के उदय से होने वाला कृत्य-अकृत्य के विवेक को हटाने वाला एवं प्रज्वलन स्वरूप आत्मा के परिणाम को क्रोध कहते हैं। क्रोधवश आत्मा किसी की बात को सहन नहीं करता और बिना विचारे अपने तथा पराये अनिष्ट के लिये प्रस्तुत हो जाता है। आत्मा की ऐसी परिणति को क्रोध कहा जाता है।[23]

7. **मान** – मान का अर्थ अहंकार है। जाति-कुल आदि विशिष्ट गुणों के कारण आत्मा में जो अहंकार जागृत होता है, उसे मान कहते हैं।[24]

8. **माया** – जीव में उत्पन्न होने वाले कपट आदि भावों को ही माया कहा जाता है। कपट, छल, माया, धोखा और ठगना ये सभी माया के पर्याय हैं। माया अपने दोषों पर पर्दा डालती है, मैत्री भाव का नाश करती है और बुराईयों का आह्वान करती है।[25]

9. **लोभ** – लोभ का अर्थ तृष्णा, लालसा है। खाने कमाने में, भोग-विलास में, अनावश्यक आसक्ति का होना लोभ है। लोभ गुणों का विनाश और अवगुणों को पैदा करता है।[26]

10. **राग** – अवगुणों का ज्ञान होने पर भी उसका परित्याग न करना राग है। अथवा माया और लोभ जिसमें अव्यक्त रूप से विद्यमान हों, ऐसा आसक्ति रूप जीव का अवगुण ही राग है।[27]

11. **द्वेष** – गुणपुंज को अवगुणपुंज समझना ही द्वेष है अथवा जिसमें क्रोध और मान अप्रकट भाव से विद्यमान हों, ऐसी अप्रीति रूप जीव का अवगुण विशेष द्वेष कहलाता है।[28]

12. **कलह** – झगड़ा, फसाद करना, विवाद-वितण्डावाद करना, कलह है, शान्ति में न स्वयं रहना और न दूसरों को रहने देना कलह है।[29]

13. **अभ्याख्यान** – किसी पर झूठा कलंक का आरोप करना अभ्याख्यान है।[30]

14. **पैशुन्य** – परोक्ष में किसी के दोष प्रकट करना अर्थात् पीठ पीछे गुप्तचरी करना या चुगली करना पैशून्य है।[31]

15. **परपरिवाद** – दूसरों की निन्दा करना। निन्दा का अर्थ है – सच्चे या झूठे दोषों को दुर्बुद्धि से प्रकट करने की वृत्ति ही परपरिवाद है।[32]

16. **रतिअरति** – रति का अर्थ है सुन्दर वस्तुओं (पदार्थों) के प्रति राग करना रति है। रति से विपरीत अरति है अर्थात् असुन्दर के प्रति द्वेष करना अरति है अर्थात् पाप में रुचि और पुण्य में अरुचि रखना अरति है।[33]

17. **मायामृषा** – माया का अर्थ – कपट, मृषा का अर्थ झूठ अर्थात् कपटपूर्वक असत्य बोलना, वेष परिवर्तन कर लोगों को छलना, झूठी गवाही देना इत्यादि मायामृषा के रूप हैं।[34]

18. **मिथ्यादर्शन शल्य** – जो सम्यग्दर्शन से विपरीत है वह मिथ्यादर्शन कहलाता है अर्थात् जीवादि तत्त्वों और देव, गुरु, धर्म आदि के प्रति श्रद्धा न करना, विपरीत श्रद्धा रखना ही मिथ्यादर्शन शल्य है।[35]

समीक्षा

मानसिक, वाचिक और कायिक क्रिया से आत्म-प्रदेशों में कम्पन होता है। उससे कर्म-परमाणु आत्मा की ओर खिंचते हैं। क्रिया शुभ होती है तो शुभकर्म परमाणु होते हैं और क्रिया अशुभ होती है तो अशुभ कर्म परमाणु आत्मा से आ चिपकते हैं। पुण्य और पाप दोनों विजातीय तत्त्व हैं। इसलिए ये दोनों आत्मा की परतन्त्रता के हेतु हैं। आचार्यों ने पुण्य कर्म को सोने और पाप-कर्म को लोहे की बेड़ी से तुलना की है।

स्वतन्त्रता के इच्छुक मुमुक्षु के लिए ये दोनों हेय हैं। मोक्ष का हेतु रत्नत्रयी सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र हैं, जो व्यक्ति इस तत्त्व को नहीं जानता वही पुण्य को उपादेय और पाप को हेय मानता है। निश्चय-दृष्टि से ये दोनों हेय हैं।

पुण्य से वैभव, वैभव से अहंकार, अहंकार से बुद्धि का नाश, बुद्धि नाश से पाप होता है इसलिए हमें पुण्य नहीं चाहिए। यह क्रम उन्हीं के लिए है, जो पुण्य की आकांक्षा (निदान) पूर्वक तप तपने वाले हैं। आत्म शुद्धि के लिए तप तपने वालों के अवांछित पुण्य का आकर्षण होता है उनके लिए यह क्रम नहीं है। वह उन्हें बुद्धि विनाश की ओर नहीं ले जाता।

पुण्य काम्य नहीं है। वे पुण्य किस काम के, जो राज्य देकर जीव को दुःख परम्परा की ओर ढकेल दें। आत्म-दर्शन की खोज में लगा हुआ व्यक्ति मर जाये, यह अच्छा है, किन्तु आत्म-दर्शन से विमुख होकर पुण्य चाहे-वह अच्छा नहीं है।

पुण्य की इच्छा करने से पाप का बन्ध होता है। आगम कहते हैं - इहलोक, परलोक, पूजा श्लाघा आदि के लिए धर्म न करो केवल आत्म-शुद्धि के लिए धर्म करो। मोक्षार्थी को काम्य और निषिद्ध कर्म में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। क्योंकि आत्म-साधक का लक्ष्य मोक्ष होता है और पुण्य संसार भ्रमण के हेतु हैं। भगवान महावीर ने कहा है - पुण्य और पाप - इन दोनों के क्षय से मुक्ति मिलती है। जीव शुभ और अशुभ कर्मों के द्वारा संसार में परिभ्रमण करता है। गीता भी यही कहती है – बुद्धिमान् सुकृत और दुष्कृत दोनों को छोड़ देता है। आश्रव, बन्ध, पुण्य और पाप ये संसार भ्रमण के हेतु हैं क्योंकि पुण्य से भोग मिलते हैं। जो पुण्य की इच्छा करता है, वह भोग की इच्छा करता है। भोग की इच्छा से संसार बढ़ता है।

पुण्य और पाप के परमाणुओं के आर्कषण-हेतु अलग-अलग है। एक ही हेतु से दोनों के परमाणुओं का आकर्षण नहीं होता। आत्मा के परिणाम या तो शुभ होते हैं या अशुभ। किन्तु शुभ और अशुभ दोनों एक साथ नहीं होते।

उत्तराध्ययन सूत्र (29.11) में गौतम ने पूछा - भगवन! श्रमण को वन्दन करने से क्या लाभ होता है। भगवान ने कहा - गौतम! श्रमण को वन्दन करने वाला नीच-गोत्र कर्म का क्षय करता है और उच्च-गोत्र कर्म का बन्ध करता है। एक शुभ प्रवृत्ति से पाप-कर्म का क्षय और पुण्य कर्म का बन्ध-इन दोनों कार्यों की निष्पत्ति होती है। तर्कमान्य से यह मान्यता अधिक संगत लगती है।

आस्रव

आस्रव का शब्दार्थ है, बहते हुए किसी पदार्थ, द्रवादि का आना, आगमन होना। जिस प्रकार झरोखे (खिड़की) से वायु और नाली से बहता हुआ जल आता है, उसी प्रकार मन, वचन, काया इन तीनों योगों से (अथवा किसी एक या दो से भी) कर्म वर्गणाओं का आत्मा में आना ही आस्रव है।

मन, वचन और काया के व्यापार (प्रवृत्ति या क्रिया) योग कहलाते हैं। इन योगों के द्वारा ही जीवों में शुभाशुभ कर्म चारों ओर से खिंचकर आते हैं। इसीलिए इनको (योगों को) ही आस्रव कहा गया।[36]

आत्मा का पाप पुण्य रूप कर्मों को ग्रहण करना ही आस्रव है।[37] पाप/पुण्य कर्मों के आत्मा तक पहुँचने का द्वार आस्रव है। मनुष्य मन, वचन, काया से प्रतिक्षण कर्मरत रहता है और आत्मा निरन्तर कर्मपुद्गल का आस्रव प्राप्त करती रहती है।

काय, वचन और मन की क्रिया योग है, वही आस्रव है।[38] कर्म के सम्बन्धित होने के कारण शुभ योग पुण्य का आस्रव है और अशुभ योग पाप का आस्रव है।[39]

आस्रव के प्रकार

आस्रव के दो प्रकार हैं[40] –

(क) भावास्रव (ख) द्रव्यास्रव।

(क) **भावास्रव** – जीव के द्वारा प्रतिक्षण मन से, वचन से, काय से जो कुछ भी शुभ या अशुभ प्रवृत्ति होती है, उसे जीव का भावास्रव कहते हैं।

(ख) **द्रव्यास्रव** – जिस प्रकार तेल से लिप्त मनुष्य के शरीर पर धूल चिपक कर संचित हो जाती है, यहाँ तेल से शरीर का लिप्त होना ही द्रव्यास्रव है।

भावास्रव के निमित्त से आकर्षित होकर जीव के प्रदेशों में प्रवेश करने वाली विशिष्ट जड़पुद्गल वर्गणाएँ द्रव्यास्रव हैं।[41]

आस्रव के भेदोपभेद

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच आस्रव के भेद बताये गये हैं।[42]

1. मिथ्यात्व

जिसमें देव के गुण न हों, उसमें देवत्व बुद्धि, गुरु के गुण न हों, उसमें गुरुत्व बुद्धि और अधर्म में धर्मबुद्धि रखना मिथ्यात्व है। सम्यक्त्व (श्रद्धान) से विपरीत होने के कारण यह मिथ्यात्व कहलाता है।[43]

मिथ्यात्व का अर्थ है वस्तु का यथार्थ श्रद्धान न होना। जीवादि तत्त्वों में आस्था न रखना अथवा विपरीत श्रद्धा रखना मिथ्यात्व है।

मिथ्याज्ञान को अविद्या कहते हैं और अतत्त्वों में तत्त्वबुद्धि होना मिथ्या ज्ञान कहलाता है। जो अरहन्त देव का कहा हुआ हो, वही तत्त्व कहा जाता है और अरहन्त भी वही हो सकता है जिसने चार प्रकार के घाती ज्ञानावरण दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्म को समाप्त कर लिया है।[44]

मिथ्यात्व के पाँच प्रकार बताये गये हैं[45]–

(क) आभिग्रहिक मिथ्यात्व (ख) अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व (ग) आभिनिवेशिक मिथ्यात्व (घ) सांशयिक मिथ्यात्व (ङ) अनाभोगिक मिथ्यात्व।

(क) **आभिग्रहिक मिथ्यात्व** – जहाँ पाखंडी की तरह अपने माने हुए (असत्) शास्त्र के ज्ञाता होकर परपक्ष का प्रतीकार करने में दक्षता होती है, वहाँ आभिग्रहिक मिथ्यात्व होता है।

(ख) **अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व** – साधारण अशिक्षित लोगों की तरह तत्त्व विवेक किये बिना ही बहकावे में आकर सभी देवों को वंदनीय मानना! सभी गुरुओं और धर्मों के तत्त्व की छानबीन किये बिना ही समान मानना, अनाभिग्रहिक है या अपने माने हुए देव, गुरु, धर्म के सिवाय सभी को निन्दनीय मानना, उनसे द्वेष या घृणा करना भी अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व है।

(ग) **आभिनिवेशिक मिथ्यात्व** – अन्तर से यथार्थ वस्तु को समझते हुए भी मिथ्या कदाग्रह (झूठी पकड़) के वश होकर जमालि की तरह सत्य को झुठलाने या मिथ्या को पकड़े रखने का कदाग्रह करना आभिनिवेशिक मिथ्यात्व है।

(घ) **सांशयिक मिथ्यात्व** – देव, गुरु और धर्म के सम्बन्ध में व्यक्ति की संशय की स्थिति बनी रहना कि 'यह सत्य है या वह सत्य है?' वहाँ सांशयिक मिथ्यात्व होता है।

(ङ) **अनाभौगिक मिथ्यात्व** – जैसे एकेन्द्रियादि जीव विचार से शून्य और विशेषज्ञान से रहित होते हैं, वैसे ही व्यक्ति के भी जब विचारजड़ हो जाता है। सम्यक्त्व या मिथ्यात्व के बारे में कुछ भी सोचता नहीं है, तब वहाँ अनाभौगिक मिथ्यात्व होता है।[46]

2. अविरति

अविरति – पाप से निवृत्त होना (हट जाना) विरति है निवृत्त नहीं होना अविरति है।

अविरति का अर्थ है - हृदय में आशा तृष्णा का अस्तित्व रहना, पाप कार्यों, आस्रव द्वारों, इन्द्रियों और मन के विषयों से विरक्त न होना।[47] अन्तरंग में निज परमात्मा स्वरूप की भावना से उत्पन्न परमसुखामृत में जो प्रीति, उससे विलक्षण तथा बाह्य विषय में व्रत आदि को धारण न करना सो अविरति है।[48]

कभी मानव के कषायों का ऐसा तीव्र उदय होता है, जिससे न तो वह सकल चरित्र ग्रहण कर सकता है और न देश चारित्र ही।[49] यह अविरति आदिपुराण में 108 प्रकार की कही गई है। इसके एक सौ आठ प्रकार कहे गये हैं।[50]

संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ के भेद से तीन प्रकार का, योगों के भेद से तीन प्रकार का, कृत, कारित और अनुमत के भेद से तीन प्रकार का तथा कषायों के भेद से चार प्रकार का होता हुआ परस्पर मिलाने से 108 प्रकार की अविरति हुई।[51]

3. प्रमाद

प्रमाद – असावधानी को प्रमाद कहते हैं। आत्मकल्याण व सद्प्रवृत्ति में उत्साह न होना एवं अनादर का भाव होना प्रमाद है।[52] अपने कर्त्तव्य के प्रति उपेक्षा और प्राप्त साधनों का दुरुपयोग तथा सदुपयोग का ज्ञानाभाव ही प्रमाद है।[53]

प्रमाद के प्रमुख भेद 5 और उत्तरभेद 15 हैं।[54]

1. **मद** – रूप, कुल, जाति, ज्ञान, तपादि पाँच प्रकार के मद का अभिमान।

2-6 **विषय** – पाँच इन्द्रियों (श्रोत, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्शन) के विषयों में आसक्ति करना विषय प्रमाद है।[55]

7-10 कषाय – क्रोध, मान, माया, लोभ चारों कषायों में प्रवृत्ति करना आश्रव है।

11-14 विकथा – स्त्री कथा, भोजन कथा, राज कथा, देश कथा इन चारों निरर्थक और पापकारी कथाओं को करना, कहना सुनना विकथा है।

15 निद्रा – आलस्य, नीन्द, सुस्ती में पड़े रहना निद्रा प्रमाद है।[56]

4. कषाय

कषाय शब्द दो शब्दों के मेल से बना है। "कष" और "आय"। कष का अर्थ संसार है। क्योंकि इसमें प्राणी विविध दु:खों के द्वारा कष्ट भोगता है, पीड़ा को प्राप्त होता है। आय का अर्थ है लाभ। जिनके द्वारा संसार की प्राप्ति (जन्म मरण) हो, वे कषाय हैं।[57] क्रोध, मान, माया, लोभ - ये चार कषाय है।[58] आत्मा के सहज स्वरूप को हानि पहुँचाने वाली बुरी प्रवृत्तियां कषाय हैं।

अनिगृहीत कषाय पुनर्भव के मूल को सींचते रहते हैं। उसे शुष्क नहीं होने देते। कषाय, कर्मों का उत्पादक है। जो दु:ख रूप धान्य को पैदा करने वाले कर्मरूपी खेत का कर्षण करते हैं, जोतते हैं, फलवान् करते हैं, वे क्रोध मानादि कषाय हैं।[59] कषाय को कृषक की उपमा देते हुए कहा गया है कि यह एक कृषक है, जो चारों गतियों को मेढ़ वाले कर्म रूपी खेत को जोत कर सुख-दु:खरूपी अनेक प्रकार के धान्य उत्पन्न करते हैं।[60]

5. योग

योग का अर्थ है - प्रवृत्ति। यह शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की होती है। मन, वचन और काय के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में जो परिस्पन्दन होता है, वह योग है। मन, वचन, काय से होने वाली आत्मा की क्रिया, कर्म परमाणुओं के साथ आत्मा का सम्बन्ध योग है।[61] योग के 15 भेद कहे गये हैं।[62]

इसके मुख्य रूप से 3 भेद हैं और उत्तर भेद 15 हैं।[63]

1. मनोयोग, 2. वचनयोग, 3. काययोग।

1. मनोयोग

यह मन की (मानसिक) प्रवृत्ति है। इसके 4 भेद हैं –

(क) सत्य मनोयोग (ख) असत्य मनोयोग (ग) मिश्र मनोयोग (घ) व्यवहार मनोयोग[64]।

2. वचन योग

वचन की प्रवृत्ति को वचन योग कहा जाता है। इसके भी चार प्रकार हैं–

(क) सत्य वचन योग (ख) असत्य वचन योग (ग) मिश्र वचन योग (घ) व्यवहार वचन योग।

3. काय योग

कायिक अथवा काय सम्बन्धी प्रवृत्ति। इसके उत्तर 7 भेद हैं–

(क) औदारिक काययोग (ख) औदारिक मिश्र काययोग (ग) वैक्रिय काययोग (घ) वैक्रिय मिश्र काययोग (ङ) आहारक काययोग (च) आहारक मिश्र काययोग (छ) कार्मण काययोग।[65]

समीक्षा

शुभ कर्म पुण्य का आस्रव है और अशुभ कर्म पाप का आस्रव है। जीवरूपी तालाब में आस्रवरूपी नाला से कर्मरूपी पानी आवे, जिससे आत्मा मलिन और भारी होकर संसार में जन्म मरण, जरा, रोग, शोक आधि-व्याधि, अशुभ कर्म बन्ध भोगता फिरे, वे आस्रव तत्त्व हैं। जैसे - नौका में छिद्र के द्वारा पानी आता है, उसी प्रकार आत्मा में योग (मन, वचन, काय और कषाय, क्रोध, मान, माया, लोभ) के द्वारा कार्मण वर्गणा के पुद्गलों का आना आस्रव कहलाता है। जिस प्रकार पानी आने से नौका भारी हो जाती है उसी प्रकार कर्मों के आगमन से आत्मा भारी हो जाती है, संसार सागर में डूब जाती है। मिथ्यात्व अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग इन कारणों से आस्रव कर्म का बन्ध होता है।

संवर

सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर अर्हत् पद प्राप्त करना जीव का परम लक्ष्य है। जब तक जीव का सम्बन्ध कर्म पुद्गलों के साथ बना रहता है तब तक जीव बन्धन मुक्त नहीं हो सकता है। अतएव कर्मपुद्गल का जीव में प्रवेश तथा तत्सम्बन्धी कारणों को रोकना परमावश्यक है।[66]

व्युत्पत्ति

संवर शब्द ''सम्'' उपसर्गपूर्वक वृ धातु से बना है। ''सम्'' पूर्वक ''वृ'' धातु का अर्थ रोकना, अटकाना होता है। कर्म बन्ध रुक जाये वह संवर है। जिस उज्ज्वल आत्म परिणाम से कर्म बँधता रुक जाये वह उज्ज्वल परिणाम संवर है। इस प्रकार ''रुकना'' ''जिससे रुके'' ये दोनों संवर कहलाते हैं। स्रु धातु का अर्थ बहना, टपकना होता है। अतः आश्रव का अर्थ कर्म पुद्गलों का आत्मा में बहना है। कर्म पुद्गलों के द्वारा इस बहाव की रुकावट को संवर कहते हैं।[67]

संव्रियन्ते निरुध्यन्ते कर्म कारणानि येन भावेन स संवरः – इस व्युत्पत्ति के अनुसार आत्मा के जिस परिणाम से आत्मा में प्रवेश करते कर्म रुक जाये अथवा कर्मों का आगमन जिससे बन्द हो जाये, उसे संवर कहते हैं। उदाहरण- जब आत्मा अपने समिति, गुप्ति, व्रत, अनुप्रेक्षा आदि शुभ परिणामों से उन आश्रवरूपी छेदों को बन्द कर देता है, रोक देता है, तो कर्मरूपी जल आत्मारूपी नौका में नहीं भर सकता और वह आत्म नौका सही सलामत संसार समुद्र को पार करके अपने चरम लक्ष्य मोक्ष में पहुँच सकती है। फिर वह डूबती नहीं।[68]

लक्षण – ''संव्रियते संवरणमात्रं वा संवरः'' अर्थात् जिसके द्वारा कर्मों का आगमन रोका जाए अथवा कर्मों के आगमन का रुकना ही संवर है।[69] जिस प्रकार नाव के छिद्र रुक जाने पर उसमें जल प्रवेश नहीं करता, इसी प्रकार मिथ्यात्वादि का अभाव हो जाने पर जीव के कर्मों का संवर होता है अर्थात् नवीन कर्मों का आस्रव नहीं होता है।[70]

आत्मा को बन्ध-भार से मुक्त करने का प्रयत्न प्रत्येक साधक धर्माचरण और साधनाओं द्वारा करता है, किन्तु वह संगृहीत बन्ध को उसी अवस्था में हल्का कर सकता है जबकि नवीन कर्मों के आगमन पर प्रतिबन्ध लगाये। इसी

प्रकार का प्रतिबन्ध आस्रवण को अवरुद्ध करता है और यही संवर है। यदि किसी जलाशय को खाली करना हो तो जल को बाहर निकालने का प्रयत्न पर्याप्त नहीं होता। हाँ यह भी अत्यावश्यक है। किन्तु जलाशय खाली तो तभी होगा; जब उसके जलपूर्ति के मार्गों (नालों आदि) को पहले बन्द कर दिया जाये। संवर इन नालों को बन्द करने के प्रयत्न के समान ही है।

संवर के प्रकार

संवर के दो प्रकार कहे जाते हैं–

(क) भाव संवर (ख) द्रव्य संवर।[71]

भाव संवर

संसार के निमित्त भाव क्रिया की निवृत्ति होना भाव संवर है[72] अथवा कर्मों के पुद्गलों के आस्रव को रोकने में जो आत्मा के भाव निमित्त बनते हैं। वह आत्म-परिणाम भावसंवर है।[73]

द्रव्य संवर

भाव संवर का निरोध होने पर तत्वपूर्वक होने वाले कर्म पुद्गल के ग्रहण का विच्छेद होना द्रव्य संवर है।[74] जो द्रव्यास्रव को रोकने में कारण है वह भी द्रव्य संवर है।[75]

आदिपुराणकार ने भाव संवर के षट् हेतु बताये हैं[76] –

1. गुप्ति, 2. समिति, 3. धर्म, 4. अनुप्रेक्षा, 5. परीषह, 6. चारित्र।

1. गुप्ति

गुप्ति अर्थात् रक्षा करना। गुप्ति[77] का अभिप्राय है - गुप्त करना, रोकना, निश्चल करना अथवा शान्त करना।[78]

कायिक, वाचिक तथा मानसिक क्रिया के सहयोग से कर्मपुद्गल आत्मा में प्रवेश करते हैं, इसी प्रवेश के निग्रह को गुप्ति कहते हैं। अथवा योगों की विवेकपूर्वक यथेच्छ प्रवृत्ति को रोकना गुप्ति है।[79]

गुप्ति तीन प्रकार की कही गई है –

(क) मनो गुप्ति (ख) वचन गुप्ति (ग) काय गुप्ति।[80]

(क) **मनोगुप्ति** – मनोयोग को दुष्ट संकल्पों, विचारों से रहित रखना, मन में दुर्ध्यान और दुश्चिन्तन न होने देना मनोगुप्ति है।

(ख) **वचन गुप्ति** – वचन योग का दुष्प्रयोग न करना, विवेकपूर्वक वचन योग को शान्त रखना अथवा मौन का आलम्बन लेना वचन गुप्ति है।

(ग) **कायगुप्ति** – काय योग का नियमन तथा निश्चलन काय गुप्ति है। यहाँ गुप्ति निवृत्ति रूप है, प्रवृत्ति रूप नही है। गुप्ति में मन, वचन, काय इन तीनों के अशुभ योगों का निरोध करना ही मुख्य है।[81]

2. समिति

समिति अर्थात् सम्यक् प्रवृत्ति, ये कर्म प्रवेश के निरोध के बाह्य उपाय है। चलने-फिरने में, बोलने-चालने में, आहार ग्रहण करने में, वस्तुओं को उठाने-रखने में और मलमूत्र निक्षेपण करने में विवेकपर्ण सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति करते हुए जीवों की रक्षा करना समिति है।[82]

समिति पाँच प्रकार की कही गई है –

(क) ईर्या समिति (ख) भाषा समिति (ग) एषणा समिति (घ) आदान निक्षेपण समिति (ङ) परिष्ठापन या सम्यक् उत्सर्ग - यह पाँच समिति कही गई हैं।[83]

(क) **ईर्या समिति** – छह काय (पाँच स्थावर और त्रस) के जीवों की रक्षा तथा उनकी दया के विचार से भूमि को भली-भान्ति देखकर (चलते समय आगे देकर) शान्तिपूर्वक धीरे-धीरे गमन करना, चलना ईर्या समिति है और सावधानी पूर्वक चलना भी ईर्या समिति है।[84]

(ख) **भाषा समिति** – हितकारी (जीवों के लिए कल्याणकारी) मित (परिमित), सत्य और सन्देहरहित, विनम्र वचन बोलना तथा विवेकपूर्वक भाषा बोलना भाषा समिति है। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि सत्य वचन भी कटु *न हों, जिससे सुनने वाले को दुःख पहुँचे। जैसे काणे को काणा कहने से उसे दुःख होता है। इसलिए सत्य होते हुए भी काणे को काणा न कहें। कटु, कठोर,* मर्मघाती भाषा का प्रयोग सत्य को भी दूषिक कर "असत्य" कोटि में पहुँचा देता है।[85]

(ग) **एषणा समिति** – भिक्षा आवश्यक साधन जो जीवन यात्रा के लिए अनिवार्य हों, निर्दोष गवेषणा करके उन्हें प्राप्त करने का प्रयास करना एषणा समिति है।[86]

(घ) **आदान निक्षेपण समिति** – प्रत्येक वस्तु को सावधानी, भली-भान्ति देखकर, प्रमार्जित करके उठाना या रखना, आदान निक्षेपण समिति है।[87]

(ङ) **परिष्ठापन समिति** – अनुपयोगी वस्तु तथा शरीर के मलादि को देखभाल कर एकान्त स्थान, जीव रहित ऐसे प्रासुक स्थान में डालना, जिससे किसी दूसरे प्राणी को कष्ट, क्लेश न हो, यह परिष्ठापन समिति है।[88]

आदिपुराण में तीन गुप्ति और पाँच समिति दोनों को मिलाकर इनका नाम आठ प्रवचन मातृकाएँ भी कहा जाता है।[89]

3. धर्म

धर्म शब्द बहुत व्यापक है, सम्पूर्ण जीवन ही इसके आयाम में समा जाता है। अत: इसकी परिभाषाएँ भी अनेक दी गई हैं।

वस्तुत: धर्म शब्द धृ धारणे धातु से व्युत्पन्न हुआ है। इसका अर्थ है-जो *धारण किया जाता है और जो दुर्गति से बचाता है वह धर्म है।*[90]

अहिंसा, सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालन करना – ये सभी सनातन धर्म कहलाते हैं।[91] प्राणियों पर अनुकम्पा करना, क्षमा धारण करना, लोभ का त्याग करना, सन्तोष करना, ज्ञान प्राप्त करना, विरक्त होना- ये सभी धर्म कहे जाते हैं।[92] इसके विपरीत भाव रखना, दया न करना, झूठ बोलना, चोरी करना आदि सभी अधर्म हैं। शिष्यों को कुगति से हटाकर सुगति में लगाने या उत्तम स्थान में पहुँचाने को भी बुद्धिमान पुरुष धर्म कहते हैं।[93]

आत्मस्वरूप की ओर ले जाने वाला तथा क्रमश: आत्मशुद्धि बढ़ाने वाला धर्म होता है। आदिपुराणकार ने धर्म को दश प्रकार कहा है[94]–

1. उत्तम क्षमा	6. उत्तम संयम
2. उत्तम मार्दव	7. उत्तम तप
3. उत्तम आर्जव	8. उत्तम त्याग
4. उत्तम शौच	9. उत्तम आकिंचन्य
5. उत्तम सत्य	10. उत्तम ब्रह्मचर्य[95]

1. **उत्तम क्षमा** – क्रोध पर विजय पाना, क्रोध के कारण उपस्थित होने पर भी शान्ति, सहिष्णुता बनाये रखना।[96]

2. **उत्तम मार्दव** – अभिमान पर विजय पाना, अहंकार के कारण उत्पन्न होने पर भी अहंकार न करना, विनम्र एवं विनीत बनकर रहना।[97]

3. **उत्तम आर्जव** – कपटरहित होना, प्रतिक्षण अपनों और परायों से निष्कपटता का व्यवहार करना, आर्जव है।[98]

4. **उत्तम शौच** – निर्लोभिता। आसक्ति और अनुराग का अभाव। यहाँ तक कि स्वयं के जीवन और आरोग्य के प्रति भी लोभ न रहे। अर्थात् सभी प्रकार की आसक्ति का त्याग।[99]

5. **उत्तम सत्य** – हित मित प्रिय वचन बोलना। सत्य में भाव, भाषा और काया तीनों की सरलता अपेक्षित होती है।

समवायांग सूत्र में साधु के मूल गुणों में भाव सच्चे, करण सच्चे, जोग सच्चे अर्थात् भाव सत्य, करण सत्य और योग सत्य बताये गये हैं।[100]

भाव सत्य का अभिप्राय है – भावों में परिणामों में सदा सत्य का भाव रहे। करण सत्य का अभिप्राय करणीय कर्त्तव्यों को सम्यक् प्रकार से करना और योग-सत्य तो मन-वचन-काया की सत्यता है ही।[101]

6. **उत्तम संयम** – सम्यक् रूप से यम उपरम (पीछे हटना) करना अर्थात् नियन्त्रण रखना ही संयम है।[102]

पाँच महाव्रतों का धारण करना, पाँच समितियों का पालन करना, चार कषायों का निग्रह करना, मन, वचन, काय रूप तीन दण्डों का त्याग करना और पाँच इन्द्रियों को जीतना ही संयम है।[103]

व्रत और समितियों का पालन, मन, वचन, काय की प्रवृत्ति का त्याग और इन्द्रियों पर विजय यह सब जिसमें होते हैं उसमें नियम से संयम धर्म होता है।[104]

7. **उत्तम तप** – इच्छाओं का निरोध करना, कष्टों को सहन करना।[105]

8. **उत्तम त्याग** – सुपात्र को दान देना। अथवा किसी वस्तु पर से अपना स्वत्व हटा लेना।[106] सचित-अचित सभी प्रकार के परिग्रह से उपरति विरक्ति ही त्याग है।[107]

9. **उत्तम आकिंचन्य** – ममत्व का अभाव। अपरिग्रही होना।[108]

10. **उत्तम ब्रह्मचर्य** – नववाड़ सहित ब्रह्मचर्य का पालन करना। काम-भोग विरति और आत्मा रमणता।[109]

इस सूत्र में इन सभी धर्मों को ''उत्तम'' विशेषण से विशेषित किया गया है। ''उत्तम'' का अभिप्राय उत्कृष्ट है, अर्थात् यह सभी धर्म उत्कृष्ट शुद्ध

निर्मल भावों से ग्रहण, धारण किये जाने चाहिए।

4. अनुप्रेक्षा

अनुप्रेक्षा का अर्थ है ''पुनः पुनः चिन्तन करना।'' सद्विचार, उत्तम भावनाएँ तथा आत्मचिन्तन इसी अनुप्रेक्षा के रूप हैं। ''प्रेक्षा'' शब्द का अभिप्राय है – देखना और अनुप्रेक्षा का अभिप्राय है – चिन्तन मननपूर्वक देखना, मन को उसमें रमाना, उन संस्कारों को दृढ़ करना। जिसका मन से (वचन से) चिन्तन किया जाये, वह अनुप्रेक्षा है।[110]

मोह ममत्व को नरम करने में भावनाओं का बल बहुत कार्य करता है। ऐसी भावनाएँ बारह हैं, जिन्हें अनुप्रेक्षा भी कहते हैं।[111] उनके नाम इस प्रकार हैं –

(क) अनित्य अनुप्रेक्षा (ख) अशरणानुप्रेक्षा (ग) संसारानुप्रेक्षा (घ) एकत्व अनुप्रेक्षा (ङ) अन्यत्व अनुप्रेक्षा (च) अशुचि अनुप्रेक्षा (छ) आस्रव अनुप्रेक्षा (ज) संवर अनुप्रेक्षा (झ) निर्जरा अनुप्रेक्षा (ञ) लोक अनुप्रेक्षा (ट) बोधि दुर्लभ अनुप्रेक्षा (ठ) धर्म अनुप्रेक्षा[112]

(क) **अनित्य अनुप्रेक्षा** – संसार के सुख, इन्द्रियों के विषय, धन, यौवन, आयु, बल और सम्पदाएँ शरीरादि सभी अनित्य कहे गये हैं अर्थात् हमेशा रहने वाले नहीं।[113]

(ख) **अशरण अनुप्रेक्षा** – धन-वैभव, ज्ञातिजन (सगे-सम्बन्धी) आदि संसार में कोई भी शरण (रक्षक) नहीं है।[114] मृत्यु, बीमारी आदि से कोई रक्षा नहीं कर सकता, ऐसा चिन्तन करना[115] इस भावना का मुख्य लक्ष्य है कि प्रत्येक व्यक्ति किसी दूसरे की शरण की इच्छा न रखें[116] (केवल परमात्मा की ही शरण स्वीकार करें) अर्थात् मृत्यु, बुढ़ापा और जन्म भय हमेशा सामने होने पर उसे किसी की भी शरण नहीं।[117]

(ग) **संसार अनुप्रेक्षा** – यह चतुर्गति (नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव) संसार दुःख से भरा है। इस सम्पूर्ण संसार के सभी प्राणी दुःखी हैं, कहीं भी सुख नहीं है। देवों के सुख की भी अन्तिम परिणति दुःख ही है तब मनुष्य गति के सुख तो हैं ही किस गिनती में और पशुओं के दुःख तो प्रत्येक को दिखाई देते हैं तथा नरक गति तो घोर कष्टों की खान है, इस प्रकार चिन्तन, विचार करना चाहिए।[118] इस चिन्तन से व्यक्ति की आसक्ति सांसारिक सुखों के प्रति आसक्ति मिटती है।[119] द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप विचित्र परिवर्तनों के कारण यह संसार अत्यन्त दुःखरूप है।[120]

(घ) **एकत्व अनुप्रेक्षा** – मनुष्य अकेला ही जन्मता है और अकेला ही मरता है, मेरी आत्मा अकेली है। इस हालत में उसका कोई साथी नहीं है। ऐसा विचारना एकत्व भावना है।[121] ''एगो में सासओं अप्पा णाण-दंसण-संजुओ'' ज्ञान दर्शन से सम्पन्न मेरी आत्मा शाश्वत है अन्य सभी संयोग अस्थायी (हमेशा रहने वाले नहीं है) है, इस भावना से आत्म-प्रतीति दृढ़ होती है। ज्ञान दर्शन स्वरूप प्राप्त होने वाला आत्मा सदा अकेला रहता है।[122]

(ङ) **अन्यत्व अनुप्रेक्षा** – शरीर कुटुम्ब, जाति, धन, वैभवादि से मैं अलग हूँ, ये मेरे नहीं, मैं इनका नहीं।[123] मैं शरीर से भिन्न हूँ, ऐसी अन्यत्व भावना के बल से शारीरिक सुख-दु:ख हमें दु:खी नहीं कर सकते। प्राय: शरीरिक सुख-दु:ख के विचार में ही मनुष्य की सब शक्ति नष्ट हो जाती है। मैं कौन हूँ यह यदि समझ में आ जाए तो इस पवित्र ज्ञान के आलोक में मनुष्य आत्मा से भिन्न ऐसे शरीर के मोह में न पड़े।[124] अर्थात् शरीर, धन, परिवार से यह आत्मा भिन्न है, ऐसी अन्यत्व अनुप्रेक्षा है।[125]

(च) **अशुचि अनुप्रेक्षा** – यह शरीर अशुचि है रक्तादि निद्यं और घृणास्पद वस्तुओं से भरा है। इस अशुचि का विचार करना अशुचि अनुप्रेक्षा है। इससे दो लाभ हैं एक तो यह कि इससे कुल एवं जातपात का मद तथा छुआछूत का ढोंग (अहंकार) दूर होता है। दूसरा लाभ यह है कि शरीर को अशुचि समझने से शारीरिक भोगों पर भी आसक्ति कम होती है। इस प्रकार शारीरिक अहंकार और आसक्ति को कम करने के लिए इस भावना का उपयोग करना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं कि शारीरिक अशुचिता के नाम पर स्वच्छता के बारे में लापरवाही रखी जाये।[126] आदिपुराण में शारीरिक अशुचि को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि शरीर के नव द्वारों से सदा मल झरता रहता है। इसलिए यह अपवित्र है।[127]

(छ) **आस्रव अनुप्रेक्षा** – आस्रवों के अनिष्टकारी और दु:खद परिणामों का चिन्तन करना। कर्मों का आगमन किन किन कारणों से होता है उन पर विचार करके उन कष्टदायी रूप का चिन्तन करना।[128] पुण्य और पाप रूप कर्मों का आस्रव होता रहता है।[129]

(ज) **संवर अनुप्रेक्षा** – दु:ख अथवा कर्मबन्ध के कारणों को आने न देने का अथवा उन्हें रोकने का विचार करना अथवा दुर्वृत्ति के द्वार बन्द करने के लिए सद्वृत्ति के गुणों का चिन्तन करना अर्थात् दु:खद आस्रवों को रोकने निरोध करने के सम्यक्त्व, व्रत, अप्रमादादि उपायों का चिन्तन करना। संवर अनुप्रेक्षा[130] और गुप्ति, समिति कारणों से कर्मों का ही संवर होता है।[131]

(झ) **निर्जरा अनुप्रेक्षा** – दु:खदुर्गति की जड़ को उखाड़ डालने, उपस्थित दु:ख को मानसिक समाधान के साथ करने अथवा दु:खावह वासना का नाश करने के बारे में विचार करना अर्थात् कर्मों के क्षय करने के उपायों का उनके स्वरूप का बार-बार चिन्तन करना निर्जरा अनुप्रेक्षा है।[132] तप के द्वारा भी कर्मों की भारी निर्जरा होती है।[133]

(ञ) **लोक अनुप्रेक्षा** – यह लोक चौदह राजु प्रमाण ऊँचा हैं।[134] लोक की शाश्वतता, अशाश्वतता आदि का चिन्तन करना। इससे तत्त्व ज्ञान विशुद्ध और दृढ़ होता है। साथ ही लोक के विषय में जो अनेक प्रकार की भ्रमित धारणाएँ फैली हुई हैं। उनका भी निरसन हो जाता है। श्रद्धा शुद्ध हो जाती है।[135]

(ट) **बोधि दुर्लभ अनुप्रेक्षा** – संसार में सब लाभ सुर्लभ है परन्तु रत्नत्रय बोधि की प्राप्ति जीव को दुर्लभ है।[136] बोधि का अभिप्राय है सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र। मनुष्य जन्म, सुशिक्षण एवं सुसंगति आदि दुर्लभ तो है ही परन्तु ये सब मिलने पर भी मनुष्य को अहंकार होने पर इन सबसे होने वाले लाभ को खो देता है, जिससे विशुद्ध सत्य की उपलब्धि नहीं हो पाती। बोधि प्राप्ति का चिन्तन करना बोधि दुर्लभ अनुप्रेक्षा है।[137]

(ठ) **धर्म अनुप्रेक्षा** – धर्म मार्ग से च्युत न होने और उसके अनुष्ठान में स्थिरता लाने के लिए ऐसा चिन्तन करना कि जिसके द्वारा सम्पूर्ण प्राणियों का कल्याण हो सकता है। ऐसे सर्व गुण सम्पन्न धर्म का सत्पुरुषों ने उपदेश किया है। यह धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा है।[138] धर्म का बार-बार चिन्तन करना।[139]

अनुप्रेक्षा का दूसरा नाम भावना है जिसका अर्थ होता है – गहरा चिन्तन। यदि चिन्तन तात्त्विक और गहरा हो तो उससे राग द्वेषादि वृत्तियों का होना रुक जाता है। अतएव ऐसे चिन्तन का संवर के (कर्म बन्ध निरोध के) उपाय रूप से उल्लेख किया गया है।[140]

5. परीषह

परिषह्यत इतिपरीषह:[141] – जो सहन किये जाए, उसे परीषह कहते हैं। इसका स्पष्ट अर्थ है आत्म साधना में जितनी बाधाएँ, संकट या रुकावटें (शरीर के अनुकूल या प्रतिकूल) आयें, उन रुकावटों को मन में आर्त्तध्यान अथवा संक्लेश रूप परिणाम किये बिना समतापूर्वक सहन करना परिषहजय है।[142]

मुक्ति की साधना में संलग्न तथा कर्मों के नाश में तत्पर साधक के गुणों को परिषह कहा गया है।[143]

मार्ग से च्युत न होने और कर्मों के क्षयार्थ, जो सहन करने योग्य हो, वे परीषह है।[144]

सर्दी गर्मी, भूख, प्यास, मच्छरादि की बाधाएँ आने पर आर्त्त परिणामों का न होना अथवा ध्यान से न हटना परिषह है। यद्यपि अल्प भूमिकाओं में साधक को परिषहों की पीड़ा का अनुभव होता है, परन्तु वैराग्य भावनाओं आदि के द्वारा वह परमार्थ से चलित नहीं होता।[145]

आदिपुराण में उन परिषहों की संख्या बाईस[146] कही गई है। परिषहों के नाम इस प्रकार हैं–

(क) क्षुधा परीषह	(ठ) आक्रोश परीषह
(ख) तृषा परीषह	(ड) वध परीषह
(ग) शीत परीषह	(ढ) याचना परीषह
(घ) उष्ण परीषह	(ण) अलाभ परीषह
(ङ) दंशमशक परीषह	(त) रोग परीषह
(च) नग्नता परीषह	(थ) तृणस्पर्श परीषह
(छ) अरति परीषह	(द) मल परीषह
(ज) स्त्री परीषह	(ध) सत्कारपुरस्कार परीषह
(झ) चर्या परीषह	(न) प्रज्ञा परीषह
(ञ) निषद्या परीषह	(प) अज्ञान परीषह
(ट) शय्या परीषह	(फ) अदर्शन परीषह

तत्त्वार्थ सूत्र में भी परीषहों की संख्या 22 ही कही गई है।[147]

(क) **क्षुधा परीषह** – भोजन को तीव्र इच्छा होने पर भी सुज्झता (निर्दोष) आहार न प्राप्त हो तो उस भोजन की वेदना को समता से सहन करना क्षुधा परीषह कहलाता है।[148]

(ख) **पिपासा (तृषा) परीषह** – बहुत अधिक प्यास लगने पर भी सचित (पापयुक्त) जल की मन में अभिलाषा न करना पिपासा परीषह है।[149]

(ग) **शीत परीषह** – सर्दी से होने वाली वेदना को समतापूर्वक सहन करना शीत परिषह है।[150]

(घ) **उष्ण परीषह** – गर्मी से होने वाली वेदना को समतापूर्वक सहन करना उष्णपरिषह है।

(ङ) **दंशमशक परीषह** – दंशमशक का अभिप्राय है – चींटी, मच्छर, साँपादि सभी प्रकार के जन्तु। इनके द्वारा पीड़ा दिये जाने पर मन में क्लेश अर्थात् दु:ख न मनाना, उन्हें समता से रहना दंशमशक परीषह है।[151]

(च) **नग्नता (अचेल) परीषह** – वस्त्र अत्यन्त जीर्ण शीर्ण हो जाने पर अब मैं अचेलक हो जाऊँगा – ऐसा सोचकर मन में खिन्नता न लाना। आचार्य इसे नग्न परीषह भी मानते हैं। अर्थात् नग्न रहना उत्तम तप है।[152]

(छ) **अरति परीषह** – स्वीकृत मोक्ष मार्ग की साधना में अनेक कठिनाईयाँ आने पर भी मन में उद्वेग अथवा मार्ग के प्रति अरुचि भाव न होने देगा।[153]

(ज) **स्त्री परीषह** – सुन्दर स्त्रियों के हाव-भावों से मन में विकृति न आने देना, इसी प्रकार स्त्री साधिका को भी पुरुष के प्रति मन में विकार न लाना। भोगों से विरक्त हुए साधक स्त्री के अपवित्र शरीर को देखकर लुभायमान नहीं होते।[154]

(झ) **चर्या परीषह**[155] – ''विहार चरिया मुणिणं पसत्था'' – आगम में कहा है साधक एक स्थान पर ही अवस्थित न हो अपितु भ्रमणशील रहे। चर्या या निगमन करते समय खेद न करना।[156]

(ञ) **निषधा-परीषह**[157] – ध्यानस्थ मुनि के समक्ष भय का प्रसंग आ जाये तब भी आसन से च्युत न होना अथवा भय का प्रसंग न आये तो भी आसन से नहीं डिगना।[158]

(ट) **शय्या परीषह**[159] – कोमल, कठोर जैसी भी शय्या मिले, उसमें खेद न करना।[160]

(ठ) **आक्रोश परीषह**[161] – कटुक कठोर, अप्रिय वचनों को सुनकर भी चित्त में क्रोध न लाना, आक्रोश परीषह है।[162]

(ड) **वध परीषह**[163] – अपने को मारने पीटने वाले व्यक्ति पर रोष न करना, उस पीड़ा को सहन करना, उसे अपना उपकारी समझना।[164]

(ढ) **याचना परीषह** – क्षुधा तृषा से अत्यन्त पीड़ित होने पर भी दीनतापूर्वक याचना न करना अथवा दाता न दे तो अभिमान या आक्रोशपूर्ण वचनों द्वारा उसे प्रताड़ित न करना।[165]

शरीर को हृष्ट-पुष्ट रखने के लिए भोजन की याचना करना ठीक नहीं। साधक मौन रहकर बिना खाये ही याचना परिषह सहन करते हैं।[166]

(ण) **अलाभ परीषह** – संयम निर्वाह योग्य वस्तुएँ आहार तथा उपकरणादि प्राप्त न हो सकें तो मन में खिन्नता न लाना।[167]

(त) **रोग परीषह** – किसी प्रकार की शारीरिक मानसिक व्याधि होने पर उसे पूर्वकृत कर्मविपाक मान कर समता से सहन करना।[168]

(थ) **तृण स्पर्श परीषह** – तृण आदि की स्पर्श जन्य पीड़ा को समता से सहना।[169]

(द) **मल परीषह** – मैले शरीर को देखकर ग्लानि न करना तथा स्नानादि की इच्छा न करना, पसीने से भीगे हुए शरीर से जुगुप्सा न करना।[170]

(ध) **सत्कार-पुरस्कार परीषह** – सत्कार मिलने पर हर्षित और न मिलने पर खेद न करना, सम भावों में निमग्न रहना।[171]

(न) **प्रज्ञा परीषह** – विद्वत्ता अथवा चमत्कारिणी बुद्धि होने पर अभिमान न करना।[172]

(प) **अज्ञान परीषह** – अधर्म और भरपूर प्रयास करने पर भी ज्ञान न हो पायें तो चित्त में उदास न होना। मन में हीन-भाव न लाना।[173]

(फ) **अदर्शन परीषह** – दीर्घकाल तक साधना (तपस्या) करने पर भी सूक्ष्म तथा अतीन्द्रिय ज्ञान या कोई विशिष्ट उपलब्धि न हो तो अपनी तपस्या को निष्फल समझकर श्रद्धा से विचलित न होना, अपितु श्रद्धा को दृढ़ रखना और साधना को उत्साह बनाये रखना। आगम में इसे "दर्शन परीषह" कहा है। जिसका तात्पर्य स्वर्ग नरक सम्बन्धी श्रद्धा अथवा दर्शन में डिगे नहीं। इस प्रकार इन परीषहों को समभावपूर्वक सहन करके इन्हें विजय करने से परीषहजय से संवर होता है।[174]

परीषहों को जीतने का फल

शीत, उष्ण, क्षुधादि बाईस परीषह हैं। उन परीषहों को सहन करने से कर्मों की बहुत भारी निर्जरा होती है। इन परीषहों पर विजय प्राप्त करना ही कर्मों की निर्जरा का श्रेष्ठ उपाय कहा गया है।[175] षरीषहों को समभावपूर्वक सहन करना। परीषह जय से संवर होता है।[176]

6. चारित्र

बाह्य और आभ्यन्तर क्रिया के निरोध से प्रादुर्भूत आत्मा की शुद्धि विशेष को चारित्र कहते हैं। अथवा संसार बढ़ाने वाली क्रियाओं से विमुख होकर मोक्ष-प्राप्ति के लिए किया जाने वाला प्रयत्न अथवा क्रिया चारित्र है[177] जिससे हित को प्राप्त करते हैं और अहित का त्याग करना ही चरित्र कहलाता है।[178] उस प्रयत्न से आत्मा के परिणामों में विशुद्धि आती है। इस विशुद्धि के तरतम भाव की अपेक्षा पाँच[179] प्रकार के चारित्र माने गये हैं। उनके नाम, इस प्रकार हैं–

(क) सामायिक चारित्र (ख) छेदोपस्थापन चारित्र (ग) परिहार विशुद्धि चारित्र (घ) सूक्ष्म सम्पराय चारित्र (ङ) यथाख्यात चारित्र।

(क) **सामायिक चारित्र**[180] – समस्त सावद्य योग (पाप क्रियाओं) अथवा राग द्वेषमूलक एवं विषय-कषाय बढ़ाने वाली क्रियाओं का, समभाव में स्थिति रहने के लिए सम्पूर्ण अशुद्ध प्रवृत्तियों का त्याग करना सामायिक चारित्र है।[181]

(ख) **छेदोपस्थापन चारित्र**[182] – प्रथम दीक्षा के उपरान्त जो जीवन भर के लिए व्रतों को ग्रहण होता है वह छेदोपस्थापनीय चारित्र है। सामान्यतः इसे बड़ी दीक्षा भी कहा जाता है।

इसका दूसरा लक्षण यह भी है-किसी दोष के कारण महाव्रत दूषित हो जाय तब नये सिरे से जो व्रतों का ग्रहण कराया जाता है, अथवा नई दीक्षा दी जाती है, वह छेदोपस्थापनीय चारित्र है। इस दशा में पूर्व दीक्षा-पर्याय के वर्षों की गणना नहीं की जाती और ज्येष्ठ (बड़ा) साधु भी नवदीक्षित बन जाता है।[183]

(ग) **परिहार विशुद्धि चारित्र** – इस चारित्र में विशिष्ट प्रकार के तप प्रधान आचार का पालन किया जाता है, वह परिहार विशुद्धि चारित्र है।[184]

(घ) **सूक्ष्मसम्पराय चारित्र** – इस चारित्र में सिर्फ लोभ (संज्वलन लोभ कषाय) जैसे हल्दी का रंग धूप आदि से शीघ्र ही छूट जाता है। इसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है। इसकी गति देवलोक की है। इसमें लोभ का बहुत ही सूक्ष्म अंश शेष रह जाता है। यह चारित्र दसवें गुणस्थान में होता है, उससे नीचे के गुणस्थान में नहीं होता।[185]

(ङ) **यथाख्यात चारित्र** – इस चारित्र में कषायों का अंश बिल्कुल भी नहीं होता।[186] इसमें आत्मा के शुद्ध निर्मल परिणाम होते हैं। इसलिए इसे

वीतराग चारित्र भी कहा जाता है। यह चारित्र 11वें से 14वें तक चार गुणस्थानों में नहीं होता है।[187]

समीक्षा

कर्म आने के द्वार को रोकना संवर है। आत्मा की राग द्वेष, मूलक अशुद्ध प्रवृत्तियों को रोकना संवर का कार्य है। गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह, चारित्र ये षट् हेतु कहे गये हैं भाव संवर के। इन हेतुओं के द्वारा साधक आत्मा में आने वाले अशुभ कर्म पुद्गलो को रोककर उनकी निर्जरा करता है तथा नये आने वाले अशुभ कर्म पुद्गलों को रोकता है। ये सभी संवर के अन्तर्गत आते हैं। आगमों में मूलरूप से संवर के पाँच भेद कहे गये हैं। कर्मो का संवर किये बिना आत्मा मुक्त नहीं हो सकता। उनके नाम इस प्रकार कहे गये हैं।

(क) **सम्यक्त्व संवर** – जीवादि तत्त्वों के प्रति सच्ची श्रद्धा करना, सम्यक्त्व संवर है।

(ख) **विरति संवर** – पाप कर्मों से निर्लिप्त रहना ही विरति संवर है।

(ग) **अकषाय संवर** – क्रोध, मान, माया, लोभ कषायों का क्षय करना अकषाय संवर है।

(घ) **अप्रमाद संवर** – प्रमाद से होने वाले आस्रव का निरोध करना अप्रमाद संवर है।

(ङ) **योग संवर** – अशुभ योगों से होने वाले आस्रव को रोकना योग संवर है और मन, वचन, काय की प्रवृत्ति का निरोध करना भी योग संवर है।

इनके अतिरिक्त हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह से निवृत्ति लेना, श्रोत-चक्षु आदि पाँचों इन्द्रियों का निग्रह करना, मन-वचन-काय का संयम रखना इत्यादि सभी संवर की कोटि में आते हैं।

निर्जरा

नि उपसर्गपूर्वक निर्जरा शब्द ''जृ'' धातु से निष्पन्न हुआ है। जिसका अर्थ होता है - जीर्ण होना, नष्ट होना। यह शब्द कर्मो के क्रमिक विनाश को इंगित करता है।

''निजार्यते तथा निर्जरणमात्रं निर्जराद्भे'' – जिसके द्वारा कर्मों का एकदेश रूप से क्षय हो अथवा जो एकदेश रूप से कर्मों का क्षय होना है, वही निर्जरा है।[188]

संवर नवीन कर्मों के आश्रव को रोकता है तो निर्जरा द्वारा पहले से आत्मा के साथ बन्धे हुए कर्मों का नाश होता है। जिस प्रकार तालाब के जल के आगमन द्वार को रोक देने पर सूर्य के ताप आदि से धीरे-धीरे जल सूख जाता है वैसे ही कर्मों के आस्रव को संवर द्वारा रोक देने पर तपादि कारणों से आत्मा के साथ पहले से बन्धे हुए कर्म शनैः शनैः क्षीण हो जाते हैं। इस दृष्टि से निर्जरा का अर्थ है—कर्म वर्गणा का आंशिक रूप से आत्मा से छूटना।[189] परिपाक से अथवा तप के द्वारा कर्मों का आत्मा से पृथक् होना निर्जरा है।[190]

आत्मा के ऊपर जो कर्मों का आवरण है उसे तप, दान एवं व्रत के द्वारा क्षय किया जाता है। कर्मक्षय का हेतु होने से इनको भी निर्जरा कहा गया है।

निर्जरा का साधन तप

तप की परिभाषा और उसके भेदोपभेद

जैन दर्शन में तप शब्द बहुत ही व्यापक अर्थ में हैं। इसके विभिन्न अपेक्षा और विविक्षाओ से अनेक लक्षण (परिभाषाएँ) दिये गये हैं। जिससे "तप" का हार्द हृदयंगम हो जाये। राजवार्तिक में तप की परिभाषा—कर्मदहनात्तपः कर्म को दहन करने के कारण तप कहा जाता है।[191]

"तापयति अष्ट प्रकारं कर्म इति तपः"।[192] अर्थात् जो आठ प्रकार के कर्मों को जलाए-तपाए, वह तप है। सर्वार्थसिद्धिकार ने—

कर्मक्षयार्थं तप्यते इति तपः[193]

जो कर्मों के क्षय के लिए अथवा उनके दहन के लिए किया जाये वह तप है। मोक्ष पंचाशत में तप का लक्षण—

तस्माद्वीर्यसमुद्रेकात् इच्छानिरोधस्तपो विदुः[194]

इच्छाओं के निरोध को ही तप कहा गया है।

जिससे कर्मों की निर्जरा हो, ऐसी वृत्ति धारण करना तप कहलाता है।[195]

वासनाओं को क्षीण (समाप्त) करने तथा समुचित आध्यात्मिक बल की साधना के लिए शरीर, इन्द्रिय और मन को जिन-जिन उपायों से तपाया जाता है वे सभी क्रियाएँ तप हैं।

इन परिभाषाओं से यह फलित होता है कि जिन क्रियाओं से कर्मों का क्षय हो और आत्मा की विशुद्धि हो, वे सभी तप हैं। आत्मशोधिनी क्रिया

तपः—आत्मा की विशुद्धि करने वाली क्रिया तप है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि कोई भी क्रिया चाहे वह अनशन हो, ऊनोदरी हो, विनयादि हो, यदि वह क्रिया कर्मक्षय तथा आत्म शुद्धि में सहायक नहीं बनती, आत्मा का अभ्युत्थान नहीं करती तो वह तप नहीं है। तप का आवश्यक उद्देश्य और लक्षण कर्मक्षय तथा आत्म विशुद्धि एवं आत्मोन्नति है।[196]

तप के प्रकार

तप बारह प्रकार के हैं[197] परन्तु मुख्य रूप से तप के दो भेद ही हैं-

1. बाह्य तप 2. आभ्यन्तर तप।

1. बाह्य तप

जिससे बाह्य शरीर का शोषण और कर्मक्षय हो वह तप बाह्य है।[198]

जिसमें शारीरिक क्रिया की प्रधानता होती है तथा जो बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा युक्त होने से दूसरों को दिखाई दे सके, वह बाह्य तप है।[199]

सरल शब्दों में देह तथा इन्द्रियों के निग्रह और नियंत्रण के लिए की जाने वाली वे सभी क्रियाएँ जो कर्मक्षय का कारण भी हों, बाह्य तप है। बाह्य तप बाहर दिखाई देने वाले तप है, उनका प्रभाव शरीर, इन्द्रियों आदि पर पड़ता दिखाई देता है, अतः इसे बाह्य तप कहा हैं।[200]

बाह्य तप बाहर दिखाई देने के कारण लोगों का ध्यान जल्दी आकर्षित होता है। इसके पालन में विशेष योग्यता की आवश्यकता नहीं होती। महावीर स्वामी ने बाह्य तप के साथ आन्तरिक तप अधिक किया था। हमारा ध्यान आभ्यन्तर तप की ओर अधिक जाना चाहिए।[201]

उपाध्याय यशोविजय कहते हैं –

तदेवं हि तपः कार्यं दुर्ध्यानं यत्र नो भवेत्।
येन योगा न हीयन्ते क्षीयन्ते नेन्द्रियाणि च।।[202]

तप ऐसा करना चाहिये जिसमें दुर्ध्यान न हो, मन-वचन-काय का बल नष्ट न हो और इन्द्रियों में क्षीणता न आए।

बाह्य तप के छह भेद होते हैं :[203]

(क) अनशन तप (ख) ऊनोदरी तप (ग) वृत्तिपरिसंख्यान तप (भिक्षाचर्या तप) (घ) रस परित्याग तप (ड़) विविक्तशय्यासन तप (च) कायक्लेश तप।[204]

(क) अनशन तप[205]

मर्यादित समय तक या जीवन के अन्त तक सभी प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन है। अशन (अन्न), पान (जलादि पेय पदार्थ) खादिम (मेवा, मिष्ठान्नादि) तथा स्वादिम मुख को सुवासित करने वाले इलायची, सुपारी आदि – इन चारों प्रकार के पदार्थों को "अनशन" शब्द से ग्रहण किया जाता है और अनशन का अभिप्राय है, इन चारों प्रकार के भोज्य पदार्थों का त्याग।[206]

अनशन तप तब कहलाता है जब शरीर के साथ-साथ आत्मशुद्धि का भी लक्ष्य हो, अपचादि की दशा में भोजन-त्याग अनशन तो है, परन्तु अनशन तप नहीं है।[207]

समय सीमा की दृष्टि से अनशन तप के मुख्य दो भेद कहे गये हैं –

(क) इत्वरिक अनशन तप – (काल की निश्चित मर्यादा सहित)

(ख) यावत्कथिक अनशन तप - (जीवन भर के लिए किया जाने वाला अनशन)।

(क) **इत्वरिक अनशन तप** – इस तप को सावकांक्ष तप भी कहा जाता है, इसमें एक निश्चित समय पूरा होने के बाद भोजन-प्राप्ति की आकांक्षा अथवा इच्छा रहती है। प्रक्रिया की दृष्टि से इसके छह भेद हैं – श्रेणी तप, प्रतर तप, घनतप, वर्गतप, वर्गवर्गतप, प्रकीर्णक तप। तथापि इसमें प्रकीर्णक तप के भेदों में निम्नलिखित तप का विशेष महत्त्व रखते हैं :

1. रत्नावली तप 2. कनकावली तप 3. मुक्तावली तप 4. लघुसिंह निष्क्रीडित तप 5. लघुसर्वतोभद्रतप 6. आयम्बिल वर्धमान तप (आचाम्ल-वर्धमान तप)[208]

इसके अतिरिक्त आदिपुराण में जिनेन्द्र गुण सम्पत्ति और श्रुतज्ञान नामक दोनों तप भी आते हैं।[209]

रत्नावली तप

रत्नावली एक आभूषण विशेष होता है। उसकी रचना के समान जिस तप का आराधन किया जाये उसको रत्नावली तप कहते हैं।[209] यह रत्नावली तप आत्मा को विभूषित करता हैं रत्नावली[210] तप पूर्ण करने में 5 वर्ष 2 महीने 28 दिन लगते हैं। ये तप चार बार में समाप्त होता है। प्रथम परिपाटी में एक वर्ष तीन मास बाईस दिन लगते हैं।[211]

कनकावली तप[212]

कनकावली – सुवर्णमय मणिरूप आभूषण विशेष का नाम है। जैसे - सुवर्णमय मणियों का हार बहुमूल्य होता है, तथा आभूषण रूप होने से शरीर की शोभा का संवर्धक होता है। वैसे ही कनकावली तप आचरण में कठिनतर होता है तथा आत्मा में विशुद्धि और निर्मलता का सम्पादन करता हुआ अन्त:करण को सुशोभित करने की महान् सामर्थ्य रखता है।[213] कनकावली तप पूर्ण करने में पाँच वर्ष नौ मास और अट्ठारह दिन लगते हैं। कनकावली तप की एक परिपाटी में एक वर्ष पाँच मास बारह दिन लगते है।[214]

मुक्तावली तप[215]

मुक्तावली शब्द का अर्थ है – मोतियों का हार। जिस प्रकार मोतियों का हार बनाते समय मोतियों की स्थापना की जाती है, उसी प्रकार जिस तप में उपवासों की स्थापना की जाए, उस तप को मुक्तावली तप कहते हैं।[216] मुक्तावली तप को पूर्ण करने में तीन वर्ष दस मास लगते हैं। प्रथम परिपाटी में 11 मास और 15 दिन लगते हैं।[217]

सिंहनिष्क्रीड़ित तप[218]

सिंहनिष्क्रीडित तप में सिंह की क्रीड़ा की तरह चढ़ते-उतरते उपवासों की परिपाटी होती है। इस तप को सम्पूर्ण करने के लिए 2 वर्ष 28 दिन लगते हैं। इसकी आराधना इस प्रकार है – पहले उपवास, फिर पारणा, फिर बेला (दो व्रत) फिर पारणा करके उपवास किया, फिर पारणा, फिर तेला आदि किया जाता है।[219]

लघु सर्वतोभद्र तप

सर्वतोभद्र तप[220] वह तप है, जिस तप की गणना करने पर, जिसके अंक सम अर्थात् बराबर हो, विषम न हो, जिधर से भी गणना की जाये, उधर से ही समान हो, उसे सर्वतोभद्र कहते हैं। यह सर्वतोभद्र तप दो प्रकार का होता है। प्रथम महत् दूसरा लघु। लघु सर्वतोभद्र तप में एक से लेकर पाँच अंक दिये जाते हैं। चारों ओर जिधर से चाहो, गणना करने पर 15 ही संख्या मिलती है। एक से पाँच तक सभी ओर से गणना करने से उसे लघुसर्वतोभद्र तप कहा जाता है। इस तप को सम्पूर्ण करने में तीन मास दस दिन लगते हैं। इसमें 75 उपवास और 25 दिन पारणे के होते हैं।[221]

आचाम्लवर्धमान तप

जिस तप में आयम्बिल तप[222] की वृद्धि हो उसे आयम्बिल[223] वर्धमान कहते हैं। इसमें एक से लेकर सौ तक आयम्बिल किए जाते हैं। अमलों की संवृद्धि होने के कारण ही इसे आचाम्लवर्धमान तप कहते हैं। इस तप की विधि इस प्रकार है –

सर्वप्रथम आयम्बिल, फिर एक उपवास, फिर दो आयम्बिल, फिर एक उपवास, इसी तरह आगे बढ़ते-बढ़ते तीन आयम्बिल, एक उपवास, चार आयम्बिल एक उपवास इसी पद्धति से मध्य में एक उपवास करते हुए अन्त में सौ आयम्बिल एक उपवास करते हैं। यह तप चौदह वर्ष तीन महीने बीस दिन में सम्पूर्ण होते हैं।[224]

(ख) यावत्कथिक अनशन तप

यह निरवकांक्ष तप है, क्योंकि इसमें भोजन की इच्छा ही नही रहती, इसमें जीवन भर के लिए आहार का त्याग कर दिया जाता है। साधारण भाषा में इसे संथारा भी कहते हैं।[225]

आदिपुराण में यावत्कथिक अनशन तप को समाधिमरण[226] या संन्यास मरण या संल्लेखना विधि[227] भी कहा गया है। जीव की अतिवृद्ध या असाध्य रोग के आने पर या किसी भयानक उपसर्ग (कष्ट) आने पर अथवा दुर्भिक्ष आदि के होने पर साधक साम्यभावपूर्वक अन्तरंग कषायों का दमन करते हुए भोजन आदि का त्याग करके धीरे-धीरे शरीर को कृश करते हुए शरीर का त्याग करना ही समाधिमरण, सल्लेखना, सन्यास मरण है।[228] आदिपुराण में सन्यास मरण तीन प्रकार का बताया गया है[229] –

1. भत्त प्रत्याख्यान 2. इंगिनी मरण 3. प्रायोपगमन।

1. **भत्त प्रत्याख्यान** – जीवन भर के लिए अन्न-जल न खाने की प्रतिज्ञा करना ही भत्त प्रत्याख्यान या भत्त प्रतिज्ञा है। इसका काल अन्तमुहूर्त से लेकर बारह वर्ष तक का है।

2. **इंगिनी मरण** – इसमें साधक अपने शरीर की सेवा स्वयं करें, किसी रोग के आने पर भी उस रोग का उपचार नहीं करते. ऐसा मरण इंगिनी मरण कहा जाता है।

3. **प्रायोपगमन** – इस सन्यास-मरण में साधक न स्वयं शरीर की सेवा, रोगादि का उपचार करते हैं न ही किसी दूसरे से करवाते हैं ऐसा मरण प्रायोपगमन मरण कहलाता है।[230]

आदिपुराण में वज्रनाभि मुनिराज अन्तिम समय शरीर और भोजन से ममत्व भाव छोड़ रत्नत्रय रूपी आराधना में लीन होकर कर्मरूपी शत्रुओं का नाश करते है। वे प्रायोपगम संन्यास को धारण करते हैं। इसमें न वे स्वय शरीर की सेवा करते हैं न दूसरे किसी प्रकार उपचार करवाते हैं। इसमें वज्रनाभि मुनि नगर, ग्राम आदि स्थान से दूर जाकर किसी वन में चले जाते हैं। ऐसे मरण को प्रायेणापगमन मरण भी कहते हैं।[131]

जिनेन्द्र गुण सम्पत्ति और श्रुतज्ञान नामक दोनों अनशन तपों को प्राय: विधिपूर्वक करने से अशुभ कर्म शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। ये दोनों प्रकार के तपों का वर्णन दिगम्बर परम्परा में ही आया है।[232]

जिनेन्द्र गुण-सम्पत्ति व्रत

जो व्रत तीर्थंकर नामक पुण्य-प्रकृति के कारणभूत सोलह भावनाएँ, पाँच कल्याणक, आठ प्रातिहार्य तथा चौंतीस अतिशय इन त्रेसठ गुणों को उद्देश्य कर जो उपवास व्रत किया जाता है, उसे जिनेन्द्र गुण-सम्पत्ति कहते हैं।[233]

तात्पर्य यह है कि इस व्रत में जिनेन्द्र भगवान के तिरसठ गुणों को लक्ष्य कर तिरसठ उपवास किये जाते हैं। जिनकी विधि इस प्रकार है – सोलह कारण भावनाओं की सोलह प्रतिपदा, पंच कल्याणों की पाँच पंचमी, आठ प्रातिहार्यों की आठ अष्टमी और चौंतीस अतिशयों की बीस दशमी और चौदह चतुर्दशी इस प्रकार तिरसठ उपवास होते हैं। बीस दशमी में जन्म के 10 अतिशयों की दश दशमियाँ, केवलज्ञान के 10 अतिशयों की 10 दशमियाँ, केवल 14 अतिशयों की 14 चतुर्दशियाँ कुल मिलाकर चौंतीस अतिशय हुए। भावना कल्याण, प्रतिहार्य, अतिशय का लक्षण, भेदों सहित विस्तृत वर्णन आगे किया गया है।[234]

भावना

भावना ही पुण्य-पाप, राग-वैराग्य, संसार व मोक्षादि का कारण है, अत: जीव को सदा कुत्सित भावनाओं का त्याग करके उत्तम भावनाएँ भानी चाहिए। सम्यक् प्रकार से भायी सोलह प्रसिद्ध भावनाएँ व्यक्ति को उत्कृष्ट तीर्थंकर पद में भी स्थापित करने को समर्थ है। अथवा वीर्यान्तराय क्षयोपशम चारित्र मोहोपशम क्षयोपशम और अंगोपांग नाम कर्मोदय की अपेक्षा रखने वाले आत्मा के द्वारा जो भायी जाती है, जिनका बार-बार अनुशीलन किया जाता है, वे भावना है। जाने हुए अर्थ को पुन: पुन: चिन्तन करना भावना है।[235] यह कारण-भावनाएँ सोलह हैं –

1. दर्शन विशुद्धि 2. विनय सम्पन्नता 3. शील और व्रतों का अतिचार रहित पालन करना 4. ज्ञान में सतत उपयोग 5. सतत संवेग 6. शक्ति के अनुसार त्याग 7. शक्ति के अनुसार तप 8. साधु समाधि 9. वैयावृत्य करना 10. अरहन्त भक्ति 11. आचार्य भक्ति 12. बहुश्रुत भक्ति 13. प्रवचन भक्ति 14. आवश्यक क्रियाओं को न छोड़ना 15. मोक्ष मार्ग की प्रभावना 16. प्रवचन वात्सल्य।

ये सोलह कारण भावनाएँ तीर्थंकर नामकर्म के आस्रव हैं।[236]

कल्याणक

जैनागम में प्रत्येक तीर्थंकर के जीवनकाल के पाँच विशिष्ट उत्सवों का उल्लेख मिलता है। उन्हें पंच कल्याणक के नाम से जाना जाता है क्योंकि वे अवसर जगत् के लिए अत्यन्त कल्याण व मंगलकारी होते हैं। जो जन्म से ही तीर्थंकर प्रकृति से लेकर उत्पन्न हुए हैं, उनके तो पाँच ही कल्याणक होते हैं। जिसके आरोप द्वारा प्रतिमा में असली तीर्थंकर की स्थापना होती है।[237]

जो जिनदेव गर्भावतारकाल, जन्मकाल, निष्क्रमणकाल (तपकल्याणक), केवलज्ञानोत्पत्तिकाल और निर्वाणसमय, इन पाँच स्थानों (कालों) में पाँच महाकल्याणकों को प्राप्त होकर महाऋद्धियुक्त सुरेन्द्र इन्द्रों से पूजित हैं।[238] *पाँच कल्याणकों का् वर्णन इस प्रकार है–*

1. **गर्भकल्याणक** – भगवान के गर्भ में आने से छह मास पूर्व से लेकर जन्मपर्यन्त 15 मास तक उनके जन्म स्थान में कुबेर द्वारा प्रतिदिन तीन बार साढ़े तीन करोड़ रत्नों की वर्षा होती रहती है। दिक्कुमारी देवियाँ माता की परिचर्या व गर्भ शोधन करती हैं। गर्भ वाले दिन से पूर्व रात्रि को माता को 16 उत्तम स्वप्न दीखते हैं जिन पर भगवान का अवतरण निश्चय कर माता-पिता प्रसन्न होते हैं।[239] यह गर्भकल्याणक उत्सव है।

2. **जन्म कल्याणक** – भगवान का जन्म होने पर देव भवनों व स्वर्गों आदि में स्वयं घण्टे आदि बजने लगते हैं और इन्द्रों के आसन कम्पायमान हो जाते हैं जिससे उन्हें भगवान के जन्म का निश्चय हो जाता है। सभी इन्द्र व देव भगवान का जन्मोत्सव मनाने को बड़ी धूमधाम से पृथ्वी पर आते हैं। इन्द्र की आज्ञा से इन्द्राणी प्रसूतिगृह में जाती है, माता को माया निद्रा से सुलाकर उसके पास एक मायामयी पुतला लिटा देती हैं जो उनका सौन्दर्य देखने के लिए 1000 नेत्र बनाकर भी सन्तुष्ट नहीं होता। ऐरावत हाथी पर भगवान् को लेकर इन्द्र सुमेरु पर्वत की ओर चलता है। वहाँ पहुँचकर पाण्डुक शिला पर

भगवान का क्षीरसागर से देवों द्वारा लाये गये जल के 1008 क्लशों द्वारा अभिषेक करता है। तदनन्तर बालक को वस्त्राभूषण से अलंकृत कर नगर में देवों सहित महान् उत्सव के साथ प्रवेश करता है। बालक के अंगूठे में अमृत भरता है और ताण्डव नृत्यादि अनेकों मायामयी आश्चर्यकारी लीलाएँ प्रकट कर देवलोक को लौट जाता है। दिक्कुमारी देवियाँ भी अपने अपने स्थानों पर चली जाती हैं।[240] यह जन्म कल्याणक उत्सव है।

3. तपकल्याणक

कुछ काल तक राज्यविभूति का भोग कर लेने के पश्चात् किसी एक दिन कोई कारण पाकर भगवान को वैराग्य उत्पन्न होता है। उस समय ब्रह्म स्वर्ग से लौकान्तिक देव भी आकर उनको वैराग्यवर्द्धक उपदेश देते हैं। इन्द्र उनका अभिषेक करके उन्हें वस्त्राभूषण से अलंकृत करते है। कुबेर द्वारा निर्मित पालकी में भगवान स्वयं बैठ जाते हैं। इस पालकी को पहले तो मनुष्य कन्धों पर लेकर कुछ दूर पृथ्वी पर चलते हैं और देवता लोग लेकर आकाश मार्ग से चलते हैं। तपोवन में पहुँचकर भगवान वस्त्रालंकार का त्यागकर केशों का लुंचन कर देते हैं और दिगम्बर मुद्रा धारण कर लेते हैं। अन्य भी अनेकों राजा उनके साथ दीक्षा धारण करते हैं। इन्द्र उन केशों को एक मणिमय पिटारे में रखकर क्षीर सागर में क्षेपण करता है। दीक्षा स्थान तीर्थ स्थान बन जाता है। भगवान बेला तेला आदि के नियमपूर्वक ऊँ नमः सिद्धेभ्यः कहकर स्वयं दीक्षा ले लेते हैं क्योंकि वे स्वयं जगद्गुरु हैं। नियम पूरा होने पर आहारार्थ नगर में जाते हैं और यथाविधि आहार ग्रहण करते हैं। दातार के घर पंचाश्चये (अतिशय) प्रकट होते हैं।[241]

4. ज्ञान कल्याणक

चार घातिया (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय) कर्मों का नाश हो जाने पर भगवान को केवलज्ञानादि अनन्त चतुष्ट्य लक्ष्मी प्राप्त होती है। तब पुष्पवृष्टि, दुन्दुभि शब्द, अशोक वृक्ष, चामर, भामण्डल, छत्रत्रय, स्वर्ण सिंहासन और दिव्य ध्वनि ये आठ प्रतिहार्य प्रगट होते हैं। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर समवसरण की रचना करता है। जिसकी विचित्र रचना से जगत् चकित होता है। बारह सभाओं में यथास्थान देव, मनुष्य तिर्यंच मुनि आर्यिका, श्रावक-श्राविका आदि सभी बैठकर भगवान के उपेदशामृत का पानकर जीवन सफल करते हैं।[242]

5. निर्वाण कल्याणक

अन्तिम समय आने पर भगवान योग निरोध द्वारा ध्यान में निश्चलता कर चार अघातियाँ कर्मों का भी नाश कर देते हैं और निर्वाण धाम को प्राप्त होते हैं। देव लोग निर्वाण कल्याणक की पूजा करते हैं। भगवान का शरीर कपूर की भान्ति उड़ जाता है। इन्द्र उस स्थान पर भगवान के लक्षणों से युक्त सिद्धशिला का निर्माण करता है।[243]

प्रतिहार्य – प्रतिहार्य का भाव है - द्वारपाल, अंगरक्षक, बोडि गार्ड, द्वारपाल का जो कर्म है वह प्रतिहार्य कहलाता है।

तीर्थंकर भगवान के आठ प्रतिहार्य हैं। वैसे भगवान की सेवा में करोड़ों देव-देवियाँ सेवा में रहते हैं। परन्तु उनमें से आठ विशेष जो प्रतिहारें अर्थात् द्वारपालों की तरह अपनी इच्छा से साथ रहते हैं। उन प्रतिहारों का जो कर्म है वे प्रतिहार्य कहे जाते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं।[244]

आठ प्रतिहार्य

1. अशोक वृक्ष, 2. तीन छत्र, 3. रत्न खंचित सिंहासन, 4. भक्ति युक्त गणों द्वारा वेष्टित रहना, 5. दुन्दुभि, 6. पुष्पवृष्टि, 7. प्रभामण्डल, 8. चौसठ चरम युक्तता – यह आठ प्रतिहार्य कहे गये हैं।[245]

अतिशय – अति + शी + अच् – अति उपसर्गपूर्वक शी धातु से अच् प्रत्यय होने पर अतिशय शब्द बना। इसका अर्थ है आधिक्य, प्रमुखता, उत्कृष्टता, इन अर्थों में लिया गया है। यहां अतिशय से भाव उत्कृष्टता से है अर्थात् तीर्थंकर भगवान के गुणों की उत्कृष्टता बताने के लिए अतिशय शब्द का प्रयोग किया गया है।[246]

चौंतीस अतिशय

1. जन्म के 10 अतिशय

(क) स्वेद रहितता

(ख) निर्मल शरीरता

(ग) दूध के समान धवल रुधिर

(घ) वज्र ऋषभ नाराच संहनन

(ङ) समचतुरस्र शरीर संस्थान

(च) अनुपमरूप

(छ) नृप चम्पक के समान उत्तम गन्ध को धारण करना

(ज) 1008 उत्तम लक्षणों का धारण

(झ) अनन्त बल

(ञ) हितमित एवं मधुर भाषण।

ये दस स्वभावित अतिशय हैं जो तीर्थंकरों के जन्म ग्रहण से ही उत्पन्न हो जाते हैं।

2. केवलज्ञान के 11 अतिशय

(क) अपने पास से चारों दिशाओं में एक सौ योजन तक सुभिक्षता

(ख) आकाश गमन

(ग) हिंसा का अभाव

(घ) भोजन का अभाव

(ङ) उपसर्ग का अभाव

(च) सबकी ओर मुख करके स्थित होना

(छ) छाया रहितता

(ज) निर्निमेष दृष्टि

(झ) विद्याओं की ईशता

(ञ) सजीव होते हुए भी नख और रोमों का समान रहना।

(ट) अट्ठारह महाभाषा तथा सात सौ क्षुद्रभाषा युक्त दिव्य ध्वनि।

इस प्रकार चार घाती कर्मों के क्षय से उत्पन्न हुए ये महान् आश्चर्य-जनक ग्यारह अतिशय तीर्थंकरों के केवलज्ञान उत्पन्न होने के बाद प्रकट होते हैं।[247]

3. देवकृत 13 अतिशय

(क) तीर्थंकरों के माहात्म्य से संख्यात योजनों तक वन असमय में ही पत्र फूल और फलों की वृद्धि से संयुक्त हो जाता है।

(ख) कंटक और रेती आदि को दूर करती हुई सुखदायक वायु चलने लगती है।

(ग) जीव पूर्व वैर को छोड़कर मैत्रीभाव से रहने लगते हैं।

(घ) उतनी भूमि दर्पणतल के समान स्वच्छ और रत्नमय हो जाती है।

(ङ) सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से मेघ कुमार देव सुगन्धित जल की वर्षा करते हैं।

(च) देव विक्रिया से फलों के भार से नम्रीभूत शालि और जौ आदि सस्य को रचते हैं।

(छ) सब जीवों को नित्य आनन्द उत्पन्न होता है।

(ज) वायु कुमार देव विक्रिया से शीतल पवन चलाता है।

(ञ) कूप और तालाब आदिक निर्मल जल से पूर्ण हो जाते हैं।

(ट) आकाश धुआँ और उल्कापातादि से रहित होकर निर्मल हो जाता है।

(ठ) सम्पूर्ण जीवों को रोग आदिक की बाधायें नहीं होती हैं।

(ड) यक्षेन्द्रों के मस्तकों पर स्थित और किरणों से उज्ज्वल ऐसे चार दिव्य धर्म चक्रों को देखकर जनों को आश्चर्य होता है।

(ण) तीर्थंकरों के चारों दिशाओं में व विदिशाओं में छप्पन सुवर्ण कमल, एक पादपीठ और दिव्य एवं विविध प्रकार से पूज्य द्रव्य हैं। यह सभी तीर्थंकरों भगवानों के 34 अतिशयों का वर्णन है।[248]

श्रुत ज्ञान नामक उपवास व्रत

इस श्रुतज्ञान उपवास व्रत में 28, 11, 2, 88, 1, 14, 5, 6, 2 और एक इस प्रकार मतिज्ञान आदि भेदों की 158 संख्या है। इनका नाम श्रुतज्ञान क्रम इस प्रकार है कि मतिज्ञान के 28, अंगों के 11, परिकर्म के 2, सूत्र के 88, अनुयोग का 1, पूर्व के 14, चूलिका के 5, अवधिज्ञान के 6, मनः पर्यवज्ञान के 2 और केवलज्ञान का एक। इस प्रकार ज्ञान के इन 158 भेदों की प्रतीतिकर जो 158 दिन का उपवास किया जाता है, उसे श्रुतज्ञान उपवास व्रत कहते हैं।[249]

दोनों तपों का फल

जिनेन्द्र गुणसम्पत्ति और श्रुतज्ञान नामक दोनों तपों का मुख्य फल केवलज्ञान की प्राप्ति और गौण फल स्वर्गादि की प्राप्ति करना है।[250]

कर्मक्षपण नामक व्रत उपवास

इस तप में 148 उपवास करने पड़ते हैं। जिन व्रतों का क्रम इस प्रकार है – 7 चतुर्थी, 3 सप्तमी, 36 नवमी, 1 दशमी, 16 एकादशी और 85 द्वादशी। कर्मों की 148 प्रकृतियों के नाश को उद्देश्यकर कर्मक्षपण नामक व्रत में 148 उपवास किये जाते हैं।[251]

(ख) ऊनोदरी तप (अवमोदर्य तप)

ऊन-कम, उदर-पेट, भूख से कम खाना ऊनोदरी है।[252] इसका दूसरा नाम अवमोदर्य तप[253] भी कहा गया है। उक्त अर्थ भोजन की अपेक्षा से है, किन्तु ऊनोदरी का वास्तविक अभिप्राय कम करना है। वह कमी भोजन, वस्त्र, उपकरण, मन, वचन, काय योगों की चपलता में भी की जाती है।[254]

(ग) वृत्तिपरिसंख्यान तप (भिक्षाचर्या तप)

वृत्तिपरिसंख्यान तप[255] का अभिप्राय है लालसा कम करना। विभिन्न वस्तुओं के प्रति अपनी इच्छाओं को कम या सीमित करना। साधु की अपेक्षा इसे भिक्षाचरी तप कहा गया हैं। साधु इस तप के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के अभिग्रह लेता है। जैसे आज इतने ही (संख्या 9 या 10) घरों में भिक्षा हेतु जाऊँगा। किन्तु श्रावक भिक्षा से भोजन प्राप्त नहीं करता। वह अपनी वृत्तियों को संक्षिप्त करता है। विविध वस्तुओं की ओर रहने वाली लालच वृत्ति को कम करना वृत्तिसंक्षेप है।[256]

(घ) रस परित्याग तप

आलस्य रहित होकर, दूध, घी, गुड़ादि रस वाले पदार्थों का त्याग करना ही रस परित्याग घोर तप है।[257] इस तप का उद्देश्य स्वादवृत्ति पर विजय पाना है। रसना इन्द्रिय को स्वादिष्ट लगने वाली और इन्द्रियों को उत्तेजित करने वाली भोज्य वस्तुओं का त्याग करना, रस परित्याग तप है।[258]

(ड़) विविक्तशय्यासन[259] तप (प्रतिसंलीनता तप)

विविक्तशय्यनासन तप या प्रतिसंलीनता का अर्थ है–अब तक जो इन्द्रिय, योग आदि बाह्य प्रवृत्तियों में लीन थे, उन्हें अन्तर्मुखी बनना, आत्मा की ओर मोड़ना ही प्रतिसंलीनता तप है[260] और परभाव में लीन आत्मा को स्वभाव में लीन बनाने की प्रक्रिया ही वस्तुतः प्रतिसंलीनता है। इसलिए संलीनता को

स्व-लीनता भी कह सकते हैं। सदा जागृत रहने वाले और इन्द्रियों को जीतने वाले, भोगोपभोग का त्याग करने वाले साधक ही प्रतिसंलीनता तप में लीन रहते हैं। साधक का बाधारहित एक स्थान में आत्म लाभ के लिए रहना प्रतिसंलीनता तप है। इसका दूसरा नाम विविक्तशय्यासन है।[261]

(च) कायक्लेश तप

कायक्लेश तप का अभिप्राय है - वर्षा, शीत और ग्रीष्म इस तरह तीनों कालों में शरीर को क्लेश या कष्ट देना अर्थात् शारीरिक कष्ट सहना कायक्लेश तप है। कायक्लेश का अर्थ है शरीर को इतना अनुशासित कर लेना साध लेना कि उपसर्ग-परिषह सहन करते हुए भी स्थिर व अव्यथित रहना कायक्लेश तप है।[262]

2. आभ्यन्तर तप

आभ्यन्तर तप को मुख्य अथवा श्रेष्ठ तप कहा जा सकता है। जिसमें मानसिक क्रिया की प्रधानता हो तथा जो मुख्य रूप से बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा न रखने के कारण दूसरों को दिखाई न दें, वह आभ्यन्तर तप है। ''आभ्यन्तरं चित्तनिरोधप्राधान्येन कर्मक्षमणा हेतुत्वादिति'' चित्तनिरोध की प्रधानता द्वारा कर्मक्षय करने वाली क्रियाएँ आभ्यन्तर तप हैं। अर्थात् आभ्यन्तर तप में चित्तविशुद्धि प्रमुख है।[263] योग शास्त्र में भी कहा गया है–

''निर्जराकरणे बाह्यच्छ्रेष्ठमाभ्यन्तरं तपः'' कर्मों की निर्जरा करने के लिये बाह्य तप की अपेक्षा आभ्यन्तर तप श्रेष्ठ है। आभ्यन्तर तप छह प्रकार का है।[264]

(क) प्रायश्चित्त तप (ख) विनय तप (ग) वैयावृत्य तप (घ) स्वाध्याय तप (ङ) व्युत्सर्ग तप (च) ध्यान तप।[264]

(क) प्रायश्चित्त तप

प्रायश्चित्त दो शब्दों का योग है– प्रायःचित्त। प्रायः का अर्थ है पाप और चित्त का अर्थ है उस पाप का विशोधन करना अर्थात् पाप को शुद्ध करने की क्रिया का नाम प्रायश्चित्त है।[265]

प्रायश्चित्त तप का अभिप्राय धारण किए हुए व्रत में प्रमादजनित दोषों का जिससे शोधन किया जा सके, वह प्रायश्चित्त तप है।[266]

(ख) विनय तप

विनय तप[267] का अभिप्राय है - व्रत, विद्या, आयु आदि में अपने से बड़ों के प्रति सम्मान का भाव रखना और उनकी उपेक्षा न करना आदि विनय तप है। ज्ञान-दर्शन-चारित्र तप और वीर्यादि गुणों की विनय करना विनय तप कहलाता है।[268]

(ग) वैयावृत्य तप

वैयावृत्य तप[269] का अर्थ है - धर्मसाधना में सहयोग करने वाली आहारादि वस्तुओं से शुश्रुषा करना वैयावृत्य है। वैयावृत्य से तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म का उपार्जन हो जाता है। नि:स्वार्थ और आग्लान भाव से गुरु, ज्येष्ठ, साधु, वृद्ध, रोगी, नवदीक्षित, आचार्य, उपाध्यायादि की सेवा करता हुआ साधक महानिर्जरा और महापर्यवसान परम मुक्ति पद को प्राप्त करता है।[270]

(घ) स्वाध्याय तप

स्वाध्याय शब्द के निर्वचन कई प्रकार से किये गये हैं - ''सु'' - सुष्ठु-भली-भान्ति ''आङ्'' मर्यादा के साथ अध्ययन को स्वाध्याय कहा जाता है। ''स्वयमध्ययनं स्वाध्याय:''-अपने आप का अध्ययन करना, निदिध्यासन चिन्तन मनन करना। स्वस्यात्मनोऽध्ययनम् - अपनी आत्मा का अध्ययन करना।

वस्तुत: स्वाध्याय तप आत्म कल्याणकारी और आत्मस्वरूप को बताने वाले ग्रन्थों का अध्ययन है। साथ ही उस ज्ञान को चिन्तन-मनन द्वारा हृदयंगम करना भी स्वाध्याय तप के अन्तर्गत है।[271] स्वाध्याय से तत्त्वों के ज्ञान में परिपूर्णता आ जाती है।

(ङ) व्युत्सर्ग तप

व्युत्सर्ग में दो शब्द हैं – वि और उत्सर्ग। वि का अर्थ है विशिष्ट और उत्सर्ग का अर्थ है त्याग। व्युत्सर्ग (वि + उपसर्ग) का अभिप्राय है विशेष प्रकार से त्यागना। नि:संगता, अनासक्ति और निर्भयता को हृदय में रमाकर जीवन की देह (शरीर) की लालसा अथवा ममत्व का त्याग व्युत्सर्ग तप हैं।[272] वन के प्रदेश, पर्वत लतागृह और श्मशान भूमि आदि एकान्त प्रदेशों में शरीर से ममत्व छोड़कर कायोत्सर्ग करने वाले साधक व्युत्सर्ग नामक तप करते हैं। इसे सामान्य रूप से कायोत्सर्ग भी कह दिया जाता है। अहंकारत्व और ममत्व का त्याग करना भी व्युत्सर्ग नामक तप है।[273]

(च) ध्यान तप

किसी एक वस्तु में जब योगी चित्त का निरोध[274] कर लेता है उसे ध्यान[275] कहते हैं। मन की एकाग्र अवस्था का नाम ध्यान है। आचार्य हेमचन्द्र ने कहा – अपने विषय में (ध्येय में) मन का एकाग्र हो जाना ध्यान है।[276] आ. भद्रबाहु ने भी यही बात कही है - कि चित्त को किसी भी विषय पर स्थिर करना, एकाग्र करना ध्यान है।[277] यह ध्यान वज्रवृषभनाराच संहनन वाले व्यक्तियों के लिए अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त तक ही सम्भव हो पाता है। जब चित्त का परिणाम स्थिर हो जाये तब वह अवस्था ध्यान कहलाती है जिस अवस्था में मन चंचल रहता है उसे अनुप्रेक्षा भावना अथवा चित्त कहते हैं।[278] यह ध्यान छद्मस्थ अर्थात् केवल ज्ञान से पहले की अवस्था या बारहवें गुणस्थानवर्ती जीवों तक के होता है[279] जिसकी वृत्ति अपने बुद्धि बल के अधीन होती है ऐसा ध्यान ही यथार्थ से ध्यान जा सकता है।[280]

ध्यान के पर्याय

योग, समाधि, धीरोध - बुद्धि की चंचलता रोकना, अन्तःसंलीनता मन को वश में करना आदि सब ध्यान के ही पर्यायवाचक हैं[281] क्योंकि आत्मा जिस परिणाम से पदार्थ का चिन्तन करता है उस परिणाम की ध्यान संज्ञा है अथवा जो परिणाम पदार्थों का चिन्तन करायें उस परिणाम को ध्यान कहते हैं।[282] यद्यपि ध्यान ज्ञान का ही पर्यायवाची है और ध्येय अर्थात् ध्यान करने योग्य पदार्थों को ही विषय बनाता है तथापि वह समष्टि रूप से देखा जाये तो ध्यान, तप, ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य रूप व्यवहार को भी धारण कर लेता है।[283]

जिस प्रकार सुख-दुःख क्रोधादि भाव चैतन्य के परिणाम कहे जाते हैं परन्तु वे सब उस चैतन्य से भिन्न रूप से अनुभव में आते हैं उसी प्रकार अन्तःकरण का संकोच करने रूप ध्यान भी चैतन्य (ज्ञान) का परिणाम कहा जाता है तथापि वह उससे भिन्न रूप होकर प्रकाशमान होता है।[284]

ध्यान के भेदोपभेद

शुभ और अशुभ के चिन्तन से ध्यान के दो भेद होते हैं –

1. प्रशस्त ध्यान 2. अप्रशस्त ध्यान।[285]

1. **प्रशस्त ध्यान** – जो ध्यान शुभ परिणामों से किया जाता है वह प्रशस्त ध्यान कहलाता है।

2. **अप्रशस्त ध्यान** – जो ध्यान अशुभ परिणामों से होता है वह अप्रशस्त ध्यान कहलाता है।

प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों ध्यानों के दो-दो भेद हैं –

प्रशस्त ध्यान के दो भेद –

(क) धर्मध्यान (ख) शुक्ल ध्यान।

अप्रशस्त-ध्यान के दो भेद हैं –

(ग) आर्त्तध्यान (घ) रौद्रध्यान।[286]

इस प्रकार आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान के भेद से ध्यान के चार भेद होते हैं।[287]

ग्रहण करने और छोड़ने योग्य ध्यान

आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल इन चार ध्यानों में से पहले दो ध्यान आर्त्त, रौद्र त्यागने योग्य हैं क्योंकि यह दोनों संसार में रुलाने वाले अर्थात् संसार में बार-बार जन्म-मरण के कारण है। धर्म और शुक्ल ये दोनों ध्यान ग्रहण करने, उपादेय योग्य है। ये दोनों शुभ और उत्तम ध्यान हैं।[288]

जगत् के समस्त तत्त्व जो जिस रूप से अवस्थित हैं, उनमें संकल्प-विकल्प रूप से रहित उदारशीलता की भावना रखकर ध्यान का आलम्बन किया जाता है।[289] अथवा यह आत्मा संसारी और मुक्त रूप से जाना जाता है - इस प्रकार आत्मा तत्त्व का चिन्तन ध्यान करने वाले जीव के लिए उपयोग सिद्ध होता है।[290] जब चित्त विशुद्ध हो जाता है तब जीव बन्ध के कारणों को नष्ट कर लेता है, इनके नष्ट होने पर संवर और निर्जरा का आगमन हो जाता है और अन्त में जीव को मोक्ष हो जाता है।[291] जो पदार्थ जिस रूप में है उसका उसी रूप में योगी चिन्तन करता जाये तो वह समस्त पदार्थ ध्यान के आलम्बन हो जाते हैं।[292]

यह स्पष्ट है कि इष्ट और अनिष्ट वस्तुओं का चिन्तन करना यद्यपि योग के लिए ध्यान की कोटि में कहा जा सकता है लेकिन ये सब अनिष्ट ध्यान की कोटि में आते हैं।[293] संकल्प विकल्प के वशीभूत हुआ जीव समस्त पदार्थों की अच्छा (अनुकूल) अथवा बुरा (प्रतिकूल) समझने लगता है। अतः उसमें राग-द्वेष की भावना उत्पन्न हो जाती है फिर वह कर्म बन्ध को प्राप्त कर लेता है।[294]

समस्त विषयों में तृष्णा बढ़ाने वाली जो मन की प्रवृत्ति है, वह संकल्प नाम से जानी जाती है। इसलिए ऐसा संकल्प दुष्प्रणिधान कहलाता है और दुष्प्रणिधान से अपध्यान होता है।[295] अतः चित्त की शुद्धि के लिए तत्त्वार्थ की भावना करनी चाहिए। ऐसा करने से ज्ञान की शुद्धि होती है और ज्ञान की शुद्धि से ध्यान की शुद्धि होती है[296]

1. आर्त्त ध्यान के लक्षण और प्रकार

''आर्त्त'' शब्द का अर्थ चिन्ता, पीड़ा, शोक, दुःख, कष्टादि है। इनके सम्बन्ध से जो ध्यान होता है, वह आर्त्तध्यान है। यह ध्यान चार प्रकार का होता है।

(क) इष्ट वस्तु के न मिलने से (ख) अनिष्ट वस्तु के मिलने से (ग) निदान से (घ) रोगादि के निमित्त से।[297]

(क) इष्ट वस्तु के न मिलने से

किसी इष्ट (प्रिय) वस्तु के वियोग होने पर उनके संयोग (प्राप्ति) के लिए मन में बार-बार उसी वस्तु की प्राप्ति का चिन्तन करना आर्त्तध्यान है। इष्ट वस्तुओं के बिना होने वाले दुःख के समय जो ध्यान होता है, वह इष्ट वियोगज ध्यान है।

(ख) अनिष्ट वस्तु के मिलने से

किसी अनिष्ट (अप्रिय) वस्तु के संयोग होने पर उसके वियोग के लिए (छोड़ने के लिए) निरन्तर उस वस्तु का चिन्तन करना आर्त्तध्यान है। अनिष्ट वस्तु के संयोग के होने पर जो ध्यान होता है वह अनिष्ट संयोगज नामक आर्त्तध्यान है।[298]

(ग) निदान

जो ध्यान भोगों की आकांक्षा (इच्छा) से होता है। वह निदान आर्त्तध्यान है। इष्ट भोगोपभोगपदार्थ के चिन्तन से जो ध्यान है, वह निदान प्रत्यय आर्त्तध्यान है। यह ध्यान दूसरे पुरुषों को भोगोपभोग की सामग्री देखने से संक्लिष्ट चित्त वाले जीव के होते हैं।

(घ) रोग के निमित्त से उत्पन्न

इस ध्यान में किसी वेदना से पीड़ित मनुष्य का उस वेदना को नष्ट करने

के लिए निरन्तर चिन्तन करना आर्त्तध्यान कहलाता है। वेदना उत्पन्न होने पर जो ध्यान होता है, वह वेदनोपगमोद्भव आर्त्तध्यान है। (प्रतिकूल वेदना से जो पैदा होता है)।[299]

इस प्रकार इष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए, अनिष्ट वस्तु की अप्राप्ति के लिए, भोगोपभोग की इच्छा के लिए और वेदना दूर करने के लिए बार-बार चिन्तन किया जाता है। वह सब आर्त्तध्यान की कोटि में आता है। आर्त्त अर्थात् पीड़ित आत्मा वाले जीवों के द्वारा चिन्तन करने योग्य यह चार प्रकार का आर्त्तध्यान कहा जाता है।[300]

आर्त्तध्यान की स्थिति

यह ध्यान कषायादि प्रमाद से उत्पन्न होता है और प्रमत्तसंयत नामक छठे गुणस्थान तक के जीवों में होता है।[301]

आर्त्तध्यान में लेश्याएँ और काल

चारों ध्यानों में आर्त्तध्यान में अत्यन्त अशुभ लेश्याएँ होती हैं। जैसे-कृष्ण, नील और कपोत इन लेश्याओं का सहारा लेकर यह ध्यान उत्पन्न होता है। इसका काल अन्तर्मुहूर्त्त का है और आलम्बन अशुभ है।[302]

आर्त्तध्यान में भाव और गति

पञ्चम पर्व में राजा दण्ड अत्यन्त विषय आसक्ति में लिप्त होने से, मायाचारी चेष्टाओं के कारण आर्त्तध्यान से तीव्र संक्लेश भावों से तिर्यञ्च आयु का बन्ध किया अर्थात् अपने भण्डारे में अजगर बना।[303] आर्त्तध्यान में जीव का क्षायोपशमिक भाव होता है और उसकी गति तिर्यञ्च की होती है। यह ध्यान खोटा है। कल्याण चाहने वाले जीवों को यह ध्यान छोड़ना चाहिए।[304]

आर्त्तध्यान के आन्तरिक चिह्न

परिग्रह में अत्यन्त आसक्ति होना, कुशीलरूप प्रवृत्ति करना, कृपणता करना, ब्याज लेकर आजीविका करना, अत्यन्त लोभ करना, भय करना, उद्वेग करना और अतिशय शोक करना आर्त्तध्यान के चिह्न है।[305]

आर्त्तध्यान के बाह्य चिह्न

शरीर का कृश हो जाना, शरीर की कान्ति हीन हो जाना, हाथों पर

कपोल रख कर पश्चाताप करना, आँसू आना आदि अनेक कार्य आर्त्तध्यान के बाह्य चिह्न कहलाते हैं।[306]

2. रौद्रध्यान का लक्षण और भेद

जो पुरुष प्राणियों (जीवों) को रुलाता है, रूद्र, क्रूर अथवा सब जीवों में निर्दयी कहलाता है, ऐसे पुरुषों में जो ध्यान होता है, उसे रौद्रध्यान कहते हैं।[307] क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों से अतिरंजित जीव के क्रूर भाव रौद्र है और इनसे सम्बन्धित तथा इसमें हर्षित होने वाली चित्त की वृत्ति रौद्रध्यान कहलाती है। रौद्रध्यान चार प्रकार का होता है–

(क) हिंसा में आनन्द मनाना

(ख) मृषावाद – झूठ बोलने में आनन्द मानना

(ग) स्तेयानन्द – चोरी करने में आनन्द मानना

(घ) संरक्षणानन्द – परिग्रह में आनन्द मानना।

तत्त्वार्थ सूत्र में भी चार प्रकार का ध्यान कहा है–

(क) हिंसा (ख) अनृत (ग) स्तेय (घ) विषय संरक्षण।

इन चार की अपेक्षा से रौद्रध्यान चार प्रकार का ही है तथा यह अविरत और देशविरत गुणस्थान वाले (जीवों) में होता है। इन्हीं चारों भेदों को (क) हिंसानुबन्धी, (ख) मृषानुबन्धी, (ग) चौर्यानुबन्धी, (घ) संरक्षणानुबन्धी कहा गया है।

''अनुबन्ध'' शब्द जो रौद्रध्यान के चारों भेदों में आया है, इसका *अभिप्राय है – आत्म परिणामों की हिंसादि पापों में अतिशय लवलीनता, एक प्रकार का विशेष गठबन्धन, जो सदा ही जीव के भावों के साथ लगा रहे।*[308]

(क) **हिंसानन्द रौद्रध्यान** – जीवों को मारने और बांधने आदि की इच्छा रखना, जीवों के अंगों-उपांगों को काटना, कष्ट देना तथा कठोर दण्ड अर्थात् यातनाएँ देना अर्थात् (पापायुक्त) क्रियाएँ करना हिंसा है। यह पहला हिंसानन्द रौद्रध्यान है।[309]

(ख) **मृषानन्द रौद्रध्यान का लक्षण** – झूठ बोलकर लोगों को धोखा देने पर जो चिन्तन किया जाता है, उसे मृषानन्द रौद्रध्यान कहा जाता हैं। कठोर वचनों का प्रयोग करना आदि इस ध्यान के बाह्य चिह्न हैं।[310]

(ग) **स्तेयानन्द रौद्रध्यान का लक्षण** – किसी दूसरे के द्रव्य को हरण करने अर्थात् चोरी करने में अपना मन लगाना, उसी का बार-बार सोचते रहना, स्तेयानन्द नामक तीसरा रौद्रध्यान है।[311]

(घ) **संरक्षणानन्द नामक रौद्रध्यान** – धन के उपार्जन करने आदि का निरन्तर चिन्तन करना संरक्षणानन्द रौद्रध्यान है। इसे परिग्रहानन्द रौद्रध्यान भी कहते हैं।[312]

उपर्युक्त तीसरे एवं चौथे प्रकारों में भौहें टेढ़ी हो जाना, मुख का विकृत हो जाना, पसीना आने लगना, शरीर कांपने लगना और नेत्रों का अतिशय लाल हो जाना आदि रौद्रध्यान के बाह्य चिह्न कहलाते हैं।[313]

रौद्रध्यान की स्थिति काल और भाव

यह ध्यान अत्यन्त अशुभ, कृष्ण, कापोत, नील तीन बुरी लेश्याओं के बल से उत्पन्न होता है। इसका समय अन्तर्मुहूर्त काल तक रहता है। रौद्रध्यान में क्षायोपशमिक भाव होता है। यह ध्यान छठे गुणस्थान से पहले पाँच गुणस्थानों में होता है।[314]

हिंसानन्द रौद्रध्यान के चिह्न

क्रूर होना, हिंसा के उपकरण तलवारादि को हाथ में रखना, हिंसक कथाएँ करना, स्वभाव में भी हिंसक विचार होना। ये सभी हिंसानन्द रौद्रध्यान के चिह्न माने गये हैं।[315]

रौद्रध्यान का फल

हिंसायुक्त भाव से जीव की गति नरक की होती है। जैसे पंचम पर्व में राजा अरविन्द जो मृत्यु से पहले हिंसक विचार मन में आने पर (जैसे - मैं मृगों को मारकर उनके खून की बावड़ी बनवाऊँ और उस रुधिर में स्नान करूँ), बहुत आरम्भ को बढ़ाने वाले रौद्रध्यान का चिन्तन करने से नरकायु का बन्ध किया और मृत्यु के पश्चात् नरक में पैदा हुआ।[316] रौद्रध्यान का फल अत्यन्त कठिन नरक गति में घोर यातनाओं अर्थात् दुःखों को प्राप्त करना है।[317]

हिंसक पुरुष, जीवों पर दया नहीं करता। हिंसक वृत्ति होने पर वह अपने आप का घात अवश्य कर लेता है। चाहे वह जीवों का वध करें, चाहे न करे। मन में हिंसक (पापकारी) भाव आने पर या संकल्प मात्र करने से तीव्र कषाय उत्पन्न कर लेता है। जीवों को मारना उनके आयु कर्म के अधीन है। परन्तु

मारने से पहले हिंसक मनुष्य अपनी आत्मा की हिंसा अवश्य कर लेता है अर्थात् अपने क्षमादि गुणों को नष्ट कर भाव हिंसा का अपराधी अवश्य बन जाता है।[318] यहाँ भाव हिंसा का उदाहरण देकर ग्रन्थकार समझता है।

स्वयंभू रमण समुद्र में एक तन्दुल नाम का छोटा मत्स्य रहता है। तन्दुल का अर्थ है - चावल। चावल के दाने के आकार जितना मत्स्य का आकार होता है। जो समुद्र में रहने वाले महामत्स्य के कान में रहता है। यद्यपि वह जीवों की हिंसा नहीं कर पाता है, केवल बड़े मत्स्य के मुख में आये हुए जीवों को ही देखता है। क्योंकि जब मत्स्य सोता है या जीवों की खाने की इच्छा नहीं होती तो महामत्स्य के मुख से छोटे-छोटे जीव आते जाते रहते हैं। वह तन्दुल मत्स्य यह सब क्रिया देखकर मन में उन्हें मारने का भाव उत्पन्न कर लेता है। केवल भाव मात्र से ही वह महामत्स्य के समान साँतवीं नरक तक में जाकर पैदा हो सकता है। यह भाव हिंसा का उदाहरण है।[319]

आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान की उत्पत्ति के कारण

अनादि काल की वासना से उत्पन्न होने वाले यह दोनों ध्यान बिना प्रयत्न के ही हो जाते हैं। साधक को दोनों का त्याग कर देना चाहिए।[320]

3. धर्मध्यान का लक्षण

जो ध्यान धर्म से सहित होता है, वह धर्मध्यान कहलाता है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों के सहित जो वस्तु का यथार्थ स्वरूप है, वही धर्म कहलाता है[321] तात्पर्य यह है कि वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं और जिस ध्यान में वस्तु के स्वभाव का निरन्तर चिन्तन किया जाता है, उस ध्यान को धर्मध्यान कहते हैं।[322] अथवा चित्त (मन) की जिस वृत्ति में शुद्ध धर्म की भावना का विच्छेद न पाया जाये, वह धर्मध्यान कहलाता है।[323] धर्मध्यान के चार भेद होते हैं –

(क) आज्ञा विचय (ख) अपाय विचय (ग) संस्थान विचय (घ) विपाक विचय।

विचय का अर्थ है - विचारणा, गहरी विचारणा, सतत विचारणा, यह चिन्तन भी है।[324]

(क) आज्ञा विचय

अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ का ज्ञान करवाने वाला जो आगम है, उसे आज्ञा

कहते हैं। क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान के विषय से रहित केवल श्रद्धान करने योग्य पदार्थों में एक आगम की ही गति होती है। अर्थात् संसार में कितने ही पदार्थ ऐसे हैं जो न प्रत्यक्ष न अनुमान से जाने जा सकते हैं। ऐसे सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थों का ज्ञान केवल आगम के द्वारा ही होता है। श्रुति, सुनृत, आज्ञा, आप्तवचन, वेदांग, आगम और आम्नाय इन पयार्यवाची शब्दों से बुद्धिमान् पुरुष उस आगम को जानते हैं आगम ज्ञान आदि और अन्त से रहित है, सूक्ष्म है, यथार्थ अर्थ को प्रकाशित करने वाला है जो मोक्ष रूप पुरुषार्थ का उपदेशक होने के कारण जीवों का हित करने वाला है, जो अपरिमित है, परवादीरहित, जिसका शासन अतिशय गम्भीर है, जो परम उत्कृष्ट है, ऐसे प्रवचन अर्थात आगम को सत्यार्थ रूप मानकर उसका चिन्तन करें।[325]

किसी सूक्ष्म विषय में अपनी मन्दबुद्धि तथा योग्य उपदेशता के अभाव में स्पष्ट निर्णय की स्थिति न बन सके, उस समय वीतराग भगवान् की आज्ञा को प्रमाण मानकर वह कैसी और किस प्रकार की हो सकती है, इस विषय में चिन्तन करना आज्ञाविचय धर्मध्यान हैं।[326]

(ख) अपाय विचय धर्मध्यान

जन्म-जरा-मरण तीन प्रकार के सन्तापादि से भरे हुए संसार रूपी समुद्र में जो प्राणी पड़े हुए हैं, उनके अपाय का चिन्तन करना अपाय विचय नामक धर्मध्यान है अर्थात् इस संसार में जीव निरन्तर दु:ख भोग रहे हैं। उनके दु:ख का बार-बार चिन्तन करना भी अपाय विचय है।[327]

अपाय का अर्थ दोष है। दोषों के स्वरूप और उनसे पीड़ा पाने के हेतुओं का चिन्तन करना अथवा उन अपायों (दु:खों) के दूर करने की चिन्ता से उन्हें दूर करने वाले अनेक अपायों का चिन्तन करना अपाय विचय है।[328]

(ग) विपाक विचय नामक धर्मध्यान

शुभ और अशुभ भेदों में विभक्त हुए कर्मों के उदय से संसाररूपी आवर्त्त की विचित्रता का जो साधक ध्यान करते हैं, उसे विपाक विचय धर्मध्यान कहते हैं। कर्मों का उदय दो प्रकार का माना जाता है। जिस प्रकार किसी वृक्ष के फल एक तो समय पाकर अपने आप पक जाते हैं, दूसरे कृत्रिम *उपायों से पकाये जाते हैं। उसी प्रकार कर्म भी अपने शुभ अथवा अशुभ* फल देते हैं अर्थात् एक तो स्थिति पूर्ण होने पर स्वयं फल देते हैं। दूसरे तपश्चरणादि के *द्वारा स्थितिपूर्ण* होने से पहले ही अपना फल देने लगते हैं। कर्मों के विपाक

(उदय) को जानने वाला साधक उन्हें नष्ट करने के लिए प्रयत्न करता है। इसलिए मोक्षाभिलाषी साधक मोक्ष के उपाय से विपाक विचय नामक धर्मध्यान का निरन्तर चिन्तन करता है।[329] अथवा कर्मों की अनुभाव शक्ति का विचार, किस कर्म का कैसा शुभ या अशुभ विपाक होता है? उन कर्मों की फलदायिनी शक्ति का चिन्तन भी विपाक विचय धर्मध्यान है।[330]

(घ) संस्थानविचय धर्मध्यान का लक्षण

लोक के आकार तथा लोक के अन्तर्गत रहने वाले जीव अजीवादि तत्त्वों का विचार करना, बार-बार चिन्तन करना संस्थान विचय नामक धर्मध्यान है।[331]

यह धर्मध्यान अप्रमत्तसंयत सातवें गुणस्थान वाले साधक को होता है और उपशान्त कषाय और क्षीण कषाय-ग्यारहवें बारहवें गुणस्थान वालों को भी संभव है।[332]

संस्थान विचय धर्मध्यान के विषय

संस्थान विचय धर्मध्यान करने वाला साधक इस लोक के ध्यान के साथ-साथ द्वीप, समुन्द्र, पर्वत, नदी, सरोवर, विमानवासी, भवनवासी तथा व्यन्तरों के रहने के स्थान और नरकों की भूमियाँ, आदि पदार्थों का भी चिन्तन करें इसके अतिरिक्त लोक में वास करने वालें संसारी और मुक्त जीव भेदोप भेद का ध्यान करें।[333]

धर्मध्यान की स्थिति और लेश्याएँ

धर्मध्यान करने वाला साधक अप्रमत्त अवस्था का आलम्बन (सहारा) कर अन्तर्मुहूर्त तक स्थित रहता है और प्रमाद रहित (सप्तम् गुणस्थानवर्ती) जीवों में ही अतिशय उत्कृष्टता को प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त अतिशय शुद्धि को धारण करने वाला, पीत्, पद्म, शुक्ल तीन शुभ लेश्याओं के बल से वृद्धि को प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शन से सहित चौथे, पाँचवें, छठे गुणस्थान में भी यह ध्यान रहता है। तात्पर्य यह है - इस ध्यान करने वाले जीव को कम से कम सम्यग्दृष्टि अवश्य होना चाहिए क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का श्रद्धान और निर्णय नहीं होता। मन्दकषायी (जिसके कषाय मन्द हो गये हैं) मिथ्यादृष्टि जीवों को जो ध्यान होता है, उसे शुभ भावना कहते हैं। इस ध्यान में जीव क्षायोपशमिक भाव से आगे बढ़ता है। इसका फल भी बहुत उत्तम होता है। अत्यन्त बुद्धिमान् जीव ही इस ध्यान को धारण करते हैं। वस्तुओं के धर्म का अनुयायी होने के कारण इसे धर्मध्यान कहते है।[334]

धर्मध्यान के बाह्य और अन्तरंग चिह्न

धर्म से प्रेम करना, प्रसन्नचित्त रहना, शुभ योग रखना, उत्तम शास्त्रों का अभ्यास करना, चित्त स्थिर रखना और आज्ञा (शास्त्र का कथन) तथा स्वकीय ज्ञान से एक प्रकार की विशेष रुचि (प्रीति अथवा श्रद्धा) उत्पन्न होना ये धर्मध्यान के बाह्य चिह्न है और बारह अनुप्रेक्षाएँ अनेक प्रकार की शुभ भावनाएँ धर्मध्यान के अन्तरंग चिह्न हैं।[335]

धर्मध्यान का फल

पञ्चम पर्व में राजा शतबल ने धर्मध्यान के प्रभाव से सम्यक्दर्शन से पवित्र होकर श्रावक के व्रत ग्रहण किये थे विशुद्ध परिणामों से अन्तिम समय समाधिमरण पूर्वक देह त्यागकर देवायु का बन्ध किया। उपवास, अवमोदर्य आदि तप करके अर्थात् महेन्द्र स्वर्ग में बड़ी-बड़ी ऋद्धियों के धारक और अणिमा, महिमा आदि गुणों से सहित सात सागर प्रमाण आयु वाला देव बना।[336]

धर्मध्यान से अशुभ कर्मों की अधिक निर्जरा होती है और शुभ कर्मों का उदय होने पर इन्द्र का सुख और स्वर्ण की प्राप्ति तो होती ही है परन्तु परम पद अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति भी होती है।[337]

4. शुक्लध्यान का लक्षण

जो ध्यान शोक को दूर करे वह शुक्ल ध्यान है। अर्थात् जीव के कषाय रूप मल के नष्ट होने पर जब आत्मा शुक्ल (सफेद) पवित्र हो जाती है, उस ध्यान की अवस्था को शुक्लध्यान कहते हैं।[338] अर्थात् यह ध्यान इष्ट वियोग-अनिष्ट-संयोग जनित शोक को जरा भी फटकने नहीं देता, और आत्मा पर लगे हुए अष्टविध कर्मफल को दूर करके उसे शुक्ल-उज्ज्वल बनाता है, इस कारण यह शुक्लध्यान कहलाता है।

शुक्लध्यान के प्रकार

यह ध्यान शुक्ल और परमशुक्ल के भेद से आगम में दो प्रकार का कहा गया है इनमें से पहला शुक्लध्यान तो छद्मस्थ अर्थात् जिन्हें केवल ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ, इस अवस्था में साधक को होता है और दूसरा परम शुक्ल ध्यान केवली भगवान (अरहन्त देव) को होता है।[339]

शुक्लध्यान और परमशुक्ल ध्यान दोनों के दो-दो भेदों को मिलाकर ध्यान के चार भेद कहे गये हैं।

शुक्लध्यान के दो भेद है –

(क) पृथक्त्व वितर्क विचार शुक्लध्यान; (ख) एकत्व वितर्क विचार शुक्लध्यान।[340]

(क) पृथक्त्व वितर्क विचार शुक्लध्यान

जिस ध्यान में वितर्क श्रुतज्ञान अर्थात् शास्त्रों के पदों का पृथक्-पृथक् रूप से विचार अर्थात् संक्रमण होता रहे उसे पृथक्त्व वितर्क विचार नामक शुक्लध्यान कहते हैं। तात्पर्य यह है – जिसमें अर्थ व्यंजन और योगों का पृथक्-पृथक् संक्रमण होता रहे अर्थात् अर्थ को छोड़कर व्यंजन (शब्द) का और व्यंजन को छोड़कर अर्थ का चिन्तन करने लगे अथवा इसी प्रकार मन, वचन और काय इन तीनों योगों का परिवर्तन होता रहे, उसे पृथक्त्व वितर्क विचार कहते हैं।[341]

(ख) एकत्व वितर्क विचार शुक्लध्यान

जिस ध्यान में वितर्क के एक रूप होने के कारण वीचार नहीं होता अर्थात् जिसमें अर्थ व्यंजन और योगों का संक्रमण नहीं होता, उसे एकत्व वितर्क वीचार नामक शुक्ल ध्यान कहते हैं।[342] अथवा इस ध्यान में वितर्क यानि श्रुत का आलम्बन तो होता है किन्तु विचार यानि चित्तवृत्ति में परिवर्तन (बदलाव) नहीं होता। किसी भी एक पर्याय पर चित्तवृत्ति निष्कम्प दीपशिखा के समान स्थिर हो जाती है। एक ही ध्येय पर चित्तवृत्ति के स्थिर रहने के कारण इसे एकत्व वितर्क शुक्लध्यान कहते हैं।[343] तीन योगों में से किसी एक योग का ध्यान करने वाला, मुनि ही यह एकत्व वितर्क शुक्लध्यान को धारण करता है। इस ध्यान में कषाय नष्ट हो जाते हैं और घाती (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय) कर्मों को क्षय कर रहा होता है, ऐसा साधक सवितर्क अर्थात् श्रुत ज्ञान सहित और अवीचार अर्थात् अर्थ व्यंजन तथा योगों के संक्रमण से रहित एकत्व वितर्क नाम के शुक्लध्यान का चिन्तन करता है।[344] पञ्चम पर्व में राजा सहस्र बल ने राज्य मोह को छोड़कर उत्कृष्ट जिनदीक्षा धारक करके शुक्लध्यान के माहात्म्य से केवल ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष पद प्राप्त किया। यही शुक्लध्यान का फल है।[345]

2. परम शुक्लध्यान

घातियाँ कर्मों के नष्ट होने से जो उत्कृष्ट केवलज्ञान प्राप्त करते हैं वे साधक सूक्ष्म क्रियापाति और समुच्छिन्न क्रिया निवर्ति शुक्लध्यान दोनों परम

शुक्लध्यान का स्वामी होता है। तात्पर्य यह है - परम शुक्लध्यान केवली भगवान को ही होता है।

केवलज्ञानी जब योगों का निरोध करने के लिए तत्पर होते हैं तब वे उसके पहले स्वभाव से ही समुद्घात करते हैं।[346] पहले समय में उनके आत्मा के प्रदेश चौदह राजू ऊँचे दण्ड के आकार होते दूसरे समय में किवाड़ के आकार होते हैं, तीसरे समय में प्रतर रूप होते हैं और चौथे समय में समस्त लोक में भर जाते हैं। वे चार समय में समस्त लोकाकाश को व्याप्त कर स्थित होते हैं उसके बाद वे रेचक अवस्था को प्राप्त होते हैं अर्थात् आत्मा के प्रदेशों का संकोच करते हैं समस्त को पूर्ण कर उसके एक-एक समय बाद ही प्रतर क्रम से एक-एक समय बाद संकोच करते हुए कपाट तथा दण्ड अवस्था को प्राप्त कर स्वशरीर में प्रविष्ट हो जाते है। पहले दो शुक्ल ध्यानों का क्षय कर देते हैं इसे समुद्घात कहते है।[347] तत्त्वार्थकार बताते है कि पहले समय में उनके आत्म के प्रदेश चौदह राजू ऊँचे दण्ड के आकार होते हैं। दूसरे समय में चौड़ाई में फैलाते है। तीसरे समय में मथानी के आकार के बनाते हैं और चौथे समय में लोक में व्याप्त कर देते हैं। फिर विपरीत क्रिया शुरु होती है। पाँचवें समय में मथानी के आकार के छठे समय में चौड़ाई के, सातवें समय में दण्डाकार और आठवें समय में आत्म प्रदेशों को अपने शरीर के मूलाकार रूप में बना लेते हैं।

जिस प्रकार प्रसारण और संकुचन की क्रिया से वस्त्र में लगे रज कण गिर जाते हैं, अलग हो जाते हैं, उसी प्रकार इस समुद्घात क्रिया से आत्म प्रदेशों से सम्बद्ध कर्म पुद्गल भी झड़ जाते हैं, पृथक् हो जाते हैं। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में सिर्फ आठ समय लगते हैं। केवली भगवान द्वारा किये जाने के कारण यह समुद्घात केवली समुद्घात कहलाता है।[348]

इस परम शुक्लध्यान के दो भेद हैं –

1. सूक्ष्मक्रियापाति, 2. समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति।[349]

(ग) सूक्ष्म क्रियापाति शुक्लध्यान

जब केवली भगवान सूक्ष्मकाया योग का अवलम्बन लेकर शेष योगों का निरोध कर देते हैं तब श्वासोच्छावास की सूक्ष्मक्रिया ही शेष रह जाती है। उस समय की आत्म परिणति का नाम सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती अप्रतिपाति इसलिए कि वहां से फिर पतन नहीं होता। योगरूपी आस्रव का निरोध करते हुए काययोग के आश्रय से वचन योग और मनोयोग को सूक्ष्म करते हैं और फिर

कायंयोग को भी सूक्ष्म कर उसके आश्रय से होने वाले सूक्ष्मक्रियापाति शुक्लध्यान का चिन्तन करते हैं।[350]

(घ) समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति शुक्लध्यान

जब सर्वज्ञ केवली भगवान श्वासोच्छवास का भी निरोध करके अयोगी बन जाते हैं तब उनके आत्म परिणाम निष्कम्प हो जाते हैं यानि योगजन्य चंचलता नहीं रहती, वे शैलेशी दशा मो प्राप्त हो जाते हैं उस समय की आत्म प्रदेशों तथा आत्म परिणति को व्युपरत क्रियाऽनिवृत्ति शुक्लध्यान भी कहा गया है। सूक्ष्म क्रियापाति शुक्लध्यान के पश्चात् जिनके समस्त योगों का बिल्कुल ही निरोध हो गया है, ऐसे वे साधक हर प्रकार के आस्रवों से रहित होकर समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति नामक शुक्लध्यान को प्राप्त होते हैं। केवली भगवान उस अतिशय निर्मल ध्यान को अन्तर्मुहूर्त्त तक धारण करते हैं और फिर समस्त कर्मों के अंशों को नष्ट कर निर्वाण अवस्था को हो जाते हैं।[351]

ध्यान की विधि

ध्यान करने वाला साधक चित्त को एकाग्र करके एकान्त स्थानों में - श्मशान में, जीर्णवन में, नदी के किनारे, पर्वत की चोटी पर, गुफा में किसी मनोहर और पवित्र प्रदेश में ध्यान लगाये, वहाँ धूप न हो, अत्यधिक गर्मी और अत्यन्त सर्दी न हो, तेज वायु न चलती हो, वर्षा न हो रही हो तथा सूक्ष्म जीवों का उपद्रव न हो, जल का प्रपात न हो, और मन्द-मन्द वायु बह रही हो वहाँ पर साधक को ध्यान लगाना चाहिए।[352]

ध्यान करते हुए साधक पर्यंक आसन में बैठकर, शरीर को सीधा रखें, अपने पर्यंक में बायाँ हाथ रखें, हथेली ऊपर की ओर रखें, दाहिने हाथ को भी बायें हाथ पर रखें। आँखें को न अधिक खोलें, न अधिक बन्द करें। धीरे-धीरे श्वास लें। ऊपर और नीचे के दोनों दाँतों की पंक्तियों को मिलाकर रखें। फिर मन की स्वच्छन्द गति को रोके और धीरे-धीरे अभ्यास करके, मन को हृदय में, मस्तक में, ललाट में, नाभि के ऊपर अथवा किसी भी जगह रखकर, रुकावटों को सहन करके जीव-अजीव आदि द्रव्यों के यथार्थ स्वरूप का बार-बार चिन्तन करते हुए ध्यान करें।[353]

ध्यान में साधक न अधिक तेज श्वास लें और न अधिक देर तक श्वासोच्छ्वास को रोकें। इन्द्रियों को पूर्णरूप से वश में करके, मन को व्याकुलता रहित करके ध्यान करें। शरीर से ममत्व छोड़ने वाला साधक ध्यान

की सिद्धि के लिए मन्द-मन्द श्वास लेना है। पलकों के लगने उघड़ने आदि का निषेध नहीं है।[354]

ध्यान में साधक को पर्यंक आसन के समान कायोत्सर्ग आसन करने की भी आज्ञा है। कायोत्सर्ग और पर्यंक ये दो सुखासन हैं और उन दोनों में भी पर्यंक आसन अधिक सुखकर माना जाता है। जिनका शरीर वज्रमयी है और जो महाशक्तिशाली है ऐसे पुरुष सभी आसनों में विराजमान होकर ध्यान के बल से अविनाशी पद मोक्ष को प्राप्त हुए हैं। कायोत्सर्ग और पर्यंक ये दो आसनों का निरूपण असमर्थ जीवों की अधिकता से किया गया है। जो उपसर्ग आदि के सहन करने में अत्यन्त समर्थ हैं ऐसे मुनियों के लिए अनेक प्रकार के आसनों के लगाने में कोई दोष नहीं है। इसके अतिरिक्त - वीरासन, वज्रासन, गोदोहासन, धनुरासन आदि अनेक आसन लगाने में कायक्लेश नामक तप की सिद्धि होती है परन्तु तप शक्ति अनुसार किया जाता है।

शरीर की स्थिति को देखकर ही साधक को ध्यान करना चाहिए। ध्यान लेटकर, खड़े होकर, बैठकर भी कर सकते हैं। हीन शक्ति धारक के लिए देश, काल, स्थान, आसन का नियम कहा गया है। पूर्णशक्ति के धारक के लिए देश, काल, स्थान, आसन का नियम कहा गया है। पूर्णशक्ति के धारक के लिए देश, काल, स्थान, आसन का कोई नियम नहीं। जो मुनि जिस समय, जिस देश में और जिस आसन में ध्यान को प्राप्त होता है वही उस मुनि के लिए उपयुक्त माना जाता है।[355]

ध्याता का लक्षण

जो साधक वज्रवृषभ नाराच संहनन नामक शरीर के धारक है तपश्चरण करने में अत्यन्त शूर-वीर है और जिस बुद्धिमान् योगी ने शास्त्रों के अर्थ का बार-बार चिन्तन-मनन किया है और जो अनेक परीषहों को सहन कर सकता है ऐसे उत्तम गुणों से युक्त ही वास्तविक ध्याता होता है।[356]

ध्यान में ध्येय वस्तु और उसका फल

जिस शब्द के आदि में अकार है, अन्त में हकार है, मध्य में रेफ है और अन्त में बिन्दु है ऐसे अर्हं इस उत्कृष्ट बीजाक्षर का ध्यान करना चाहिए। इसका ध्यान करने से साधक कभी भी दु:खी नहीं होता अथवा अर्हद्भ्यो नमः -- अर्हन्तों के लिए नमस्कार। ऐसा ध्यान कर मोक्ष की अभिलाषा रखने वाला साधक अनन्त गुणों से युक्त अर्हन्त अवस्था को प्राप्त होता है।[357]

जप करने योग्य पदार्थों में से नमः सिद्धेभ्यः, अर्थात् सिद्धों के लिए नमस्कार। ऐसे पाँच अक्षरों का जप करने से साधन मनवांछित फल पाता है।[358]

अरहन्त परमेष्ठी की ध्यान करने से जीव जन्म-मरण ये मुक्त हो जाता है।[359]

अरहन्त, सिद्ध, आचार्य उपाध्याय सभी साधुओं, इन पाँच परमेष्ठियों का बीज पदों से सहित साधक ध्यान करता है वह तत्त्वज्ञान मुनि अवश्य मोक्ष प्राप्त करता है अर्थात् इन पाँचों का बार-बार चिन्तन-ध्यान करना चाहिए।[360]

इस प्रकार उपर्युक्त बारह प्रकार के तपों को धारण करने के पश्चात् साधक को तपों के प्रभाव से अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। जिसका वर्णन आदिपुराण में इस प्रकार बताया गया है–

ऋद्धि

ऋद्धि का स्वरूप और उसके भेदोपभेद

ऋद्धि का स्वरूप

तपश्चरण के प्रभाव से कभी-कभी योगीजनों, तपस्वियों को कई चमत्कारिक शक्तियाँ उपलब्ध हो जाती हैं। उन्हें ऋद्धि कहते हैं।[361]

यह सात[362] प्रकार की होती हैं–

1. बुद्धि ऋद्धि 2. विक्रिया ऋद्धि 3. तप ऋद्धि 4. बल ऋद्धि 5. औषध ऋद्धि 6. रस ऋद्धि 7. क्षेत्र (अक्षीण) ऋद्धि।[363]

1. बुद्धि ऋद्धि

बुद्धि अवगम या ज्ञान को बुद्धि कहते हैं।[364] बुद्धि ऋद्धि चार प्रकार की होती हैं–

(क) कोष्ठ बुद्धि (ख) बीज बुद्धि (ग) पदानुसारी बुद्धि (घ) संभिन्न श्रोतृ बुद्धि।[365]

(क) **कोष्ठ बुद्धि** – जिस प्रकार कोठे (धानागार) में अनेक प्रकार के धान्य भरे रहते हैं उसी प्रकार कोष्ठ बुद्धि वाले साधकों के हृदय में भी अनेक पदार्थों का ज्ञान भरा होता है।[366]

उत्कृष्ट धारणा वाला पुरुष जो गुरु के उपदेश से नाना प्रकार के ग्रन्थों में से विस्तारपूर्वक लिंग सहित शब्द रूप बीजों को अपनी-अपनी बुद्धि से ग्रहण करके उन्हें मिश्रण के बिना बुद्धि रूपी कोठे में धारण करता है उसकी बुद्धि कोष्ठबुद्धि कही जाती है।[367]

शालि, ब्रीहि, जौ और गेहूँ आदि के आधारभूत कोथली, पल्ली आदि का नाम कोष्ठ है। समस्त द्रव्य व पर्यायों को धारण करने रूप गुण से कोष्ठ के समान होने से उसे बुद्धि को भी कोष्ठ कहा जाता है। कोष्ठ रूप जो बुद्धि होने से कोष्ठ बुद्धि कहलाती है।[368]

(ख) बीज बुद्धि – जिस प्रकार उत्तम जमीन में बायो हुआ एक भी बीज अनेक फल उत्पन्न कर देता है उसी प्रकार बीज बुद्धि के धारण साधक आगम के बीज रूप एक दो पदों को ग्रहण कर अनेक प्रकार के ज्ञान को प्रकट कर लेते है वह बीज बुद्धि ऋद्धि है।[369]

(ग) **पदानुसारी बुद्धि** – पदानुसारी बुद्धि वाला साधक आगम के आदि, मध्य, अन्त को सुनकर ही समस्त आगम को जान लेते हैं ऐसी बुद्धि पदानुसारी बुद्धि है।[369A]

(घ) **संभिन्नश्रोतृ बुद्धि** – यह बुद्धि वाला साधक नौ योजन चौड़े और बारह योजन लम्बे क्षेत्र में फैले हुए चक्रवर्ती के कटक सम्बन्धी समस्त मनुष्य और तिर्यंचों के अक्षरात्मक तथा अनक्षरात्मक मिले हुए शब्दों को एक साथ ग्रहण कर सकता है वह संभिन्नश्रोतृ वृद्धि कहलाती है।[370]

श्रोत्रेन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय का उत्कृष्ट क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्म का उदय होने पर श्रोत्रेन्द्रिय के उत्कृष्ट क्षेत्र से बाहर दसों दिशाओं से संख्यात योजन प्रमाण क्षेत्र में स्थित मनुष्यों एवं तिर्यंचों के अक्षरानक्षरात्मक बहुत प्रकार के उठने वाले शब्दों को सुनकर जिससे (युगमत्) प्रत्युत्तर दिया जाता है। वह बुद्धि संभिन्नश्रोतृ नाम बुद्धि है।[371]

2. तप ऋद्धि

कर्मक्षय करने के लिए जो तपा जाता है अर्थात् कर्मों को नष्ट करने के लिए मानसिक, शारीरिक कष्ट को समता से सहना ही तप है।[372] तप करने के पश्चात् साधक को जो अलौकिक या अद्‌भुत शक्ति उपलब्ध होती है वह तप ऋद्धि है।

तप ऋद्धि चार प्रकार की होती है–

(क) दीप्त तप ऋद्धि (ख) तप्त तप ऋद्धि (ग) उग्र तप ऋद्धि (घ) घोर तप ऋद्धि।[373]

(क) **दीप्त तप ऋद्धि**[374] – जिस ऋद्धि के प्रभाव से मन-वचन-काया से बलिष्ठ साधन ने अनेक उपवास, व्रतों के द्वारा शरीर को सूर्य की किरणों के समान देदीप्यमान बना लिया है वह दीप्त तप नामक ऋद्धि है।[375]

(ख) **तप्त तप ऋद्धि**[376] – जिस प्रकार तपी हुई लोहे की कड़ाही में गिरे हुए जलकण समाप्त हो जाते हैं उसी प्रकार इस ऋद्धि के प्रभाव से खाया हुआ अन्न धातुओं सहित क्षीण हो जाता है, अर्थात् मल-मूत्रादिरूप में परिणमन नहीं करता है, वह निज ध्यान से उत्पन्न हुई तप्त तप ऋद्धि है।[377]

(ग) **उग्र तप ऋद्धि** – जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधक उग्र तपश्चरण करता है वह उग्र तप नामक ऋद्धि है और भयानक कर्मरूपी शत्रुओं का नाश करता है।[378] उग्र तप ऋद्धि के दो भेद हैं –

(क) उग्रोग्रतप ऋद्धि (ख) अवस्थित उग्रतप ऋद्धि।[379]

(घ) **घोरतप ऋद्धि** – जिस ऋद्धि के बल से ज्वर और शूलादिक रोगों से शरीर को अत्यन्त कष्ट होने पर भी साधुजन दुर्द्धर तप को सिद्ध करते हैं, वह घोरतप ऋद्धि है।[380]

3. विक्रिया ऋद्धि

विक्रिया ऋद्धि से अभिप्राय उस ऋद्धि से है जिसके द्वारा जीव विचित्र प्रकार की शरीर रचना अथवा क्रियायें करता है। यह बात इसके भेदों के वर्णन से स्पष्ट हो जाती है। विक्रिया ऋद्धि के दो भेद हैं –

(क) क्रिया विक्रिया ऋद्धि; (ख) विक्रिया ऋद्धि।

(क) **क्रिया विक्रिया ऋद्धि** – बाह्य और आभ्यन्तर निमित्त से द्रव्य में होने वाले परिस्पन्दात्मक परिणमन क्रिया है।

परिस्पन्दन अर्थात् हलन चलन रूप अवस्था को क्रिया कहते हैं।

जो एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में गमनरूप हिलने वाली, चलने वाली हो वह क्रिया है।[381] क्रिया ऋद्धि के दो भेद हैं[382] –

1. चारण क्रिया ऋद्धि
2. आकाशगामित्व क्रिया ऋद्धि

1. **चारण क्रिया ऋद्धि** – चारण ऋद्धि के प्रभाव से साधक हमेशा सिंह के समान विचरण करते हैं। जिस प्रकार सिंह सदैव अकेला निर्भय होकर इधर-उधर घूमता है, वैसे ही चारण ऋद्धि वाला मुनि एकाकी, भयरहित अथवा चतुर्गति रूप संसार के भय से रहित होकर विहार करते हैं और वे सिंह के समान अत्यन्त धीर-वीर होते हैं।[383]

चारण क्रिया ऋद्धि के सात भेद हैं[384] –

(य) जल चारण ऋद्धि (र) जंघा चारण ऋद्धि (ल) फल चारण ऋद्धि (व) श्रेणी चारण ऋद्धि (श) तन्तु चारण ऋद्धि (ष) पुष्प चारण ऋद्धि (स) अम्बर चारण ऋद्धि।

(य) **जल चारण ऋद्धि** – इस ऋद्धि के प्रभाव से साधक जल में भी स्थल के समान चल सकते हैं और जल में विचरण करने पर भी जलकायिक और जलचर जीवों को किसी प्रकार की पीड़ा-दर्द नहीं होता।[385]

जल को छूये बिना इच्छानुसार भूमि के समान जल में गमन करने में जो समर्थ हैं और समुद्र के मध्य में दौड़ता है फिर भी जल में रहने वाले जीवों की विराधना नहीं होती वे जल चारण ऋद्धि होती है।[386]

(र) **जंघा चारण ऋद्धि** – इस ऋद्धि में प्रभाव से महर्षि बिना कदम उठाये ही आकाश में गमन कर सकते हैं।

चार अंगुल प्रमाण पृथ्वी को छोड़कर आकाश में घुटनों को मोड़े बिना या (जल्दी-जल्दी जंघाओं को उत्क्षेप निक्षेप करते हुए) जो बहुत योजनों तक गमन करता है, वे ऋद्धि जंघा चारण ऋद्धि होती है।[387]

(ल) **फलचारण ऋद्धि** – इस ऋद्धि से साधक वृक्षों पर लगे फलों पर गमन कर सकते हैं। गमन करने पर भी वनस्पतिकाय जीवों को कोई पीड़ा होती और फलों पर चलने पर भी फल टूटकर भूमि पर नहीं गिरते।[388]

(व) **श्रेणी चारण ऋद्धि** – इस ऋद्धि से साधक आकाश में श्रेणीबद्ध गमन कर सकते हैं और बीच में आये हुए पर्वत आदि भी उसे रोक नहीं सकते।[389]

(श) **तन्तु चारण ऋद्धि** – इस ऋद्धि से साधक सूत अथवा मकड़ी के जाल के तन्तुओं पर गमन कर सकता है। गमन करने पर भी जाल टूटते नहीं। ऐसी तन्तु चारण ऋद्धि होती है।[390]

(ष) **पुष्पचारण ऋद्धि** – इस ऋद्धि के प्रभाव से ऋषिजन पुष्पों कर गमन कर सकते हैं। गमन करने पर भी भार से पुष्प टूटते नहीं। न ही पुष्पों में रहने वाले जीवों को कोई वेदना होती है। पत्र, अंकुर, तृण और प्रवाल आदि पुष्प में ही आते हैं। ऐसी ऋद्धि पुष्पचारण ऋद्धि होती है।[391]

(स) **अम्बर चारण ऋद्धि** – इस ऋद्धि के प्रभाव से साधक आकाश में सर्वत्र गमनागमन कर सकता है। ये अम्बर चारण ऋद्धि है।[392]

तिलोय पण्णत्ति में उपरोक्त भेदों के अतिरिक्त चारण ऋद्धियों के भेदों का वर्णन किया गया है जैसे – अग्नि शिखाचरण, धूमचारण, मेघचारण, धाराचारण, मकड़ी तन्तुचारण, ज्योतिश्चारण, मारुतचारण ऋद्धियाँ हैं।

(ह) **अग्निशिखा चारण ऋद्धि** – जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनिजन अग्नि शिखाओं पर गमन कर सकते हैं और अग्निशिखाओं के जीवों की विराधना नहीं करते ऐसी ऋद्धि अग्निशिखाचरण ऋद्धि है।[393]

धूमचारण ऋद्धि – जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधक नीचे, ऊपर और तिरछे फैलने वाले धुएँ का सहारा लेकर अस्खलित पादक्षेप देते हुए गमन करते हैं वह धूम चारण ऋद्धि है।[394]

मेघचारण ऋद्धि – जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधक बहुत प्रकार के मेघों पर से गमन करते हैं वह अपकाय जीवों को पीड़ा नहीं पहुँचाते वह मेघचारण ऋद्धि है।[395]

धाराचारण ऋद्धि – जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनि मेघों से छोड़ी गयी जनधाराओं पर गमन करते हैं वह जल के जीवों को कष्ट नहीं पहुँचाते, वह धारा चारण ऋद्धि है।[396]

मकड़ी तन्तु चारण ऋद्धि – जिस ऋद्धि से मुनिजन मकड़ी के तन्तुओं की पंक्ति पर से गमन करते हैं, वे मकड़ी तन्तु चारण ऋद्धि है।[397]

ज्योतिश्चारण ऋद्धि – जिसमें तपस्वी नीचे, ऊपर और तिरछे फैलने वाली ज्योतिषी देवों के विमानों की किरणों का अवलम्बन करके गमन करते है।, वे ज्योतिश्चारण ऋद्धि है।[398]

मारुत चारण ऋद्धि – जिस ऋद्धि से मुनिजन नाना प्रकार की गति से युक्त वायु के प्रदेशों की पंक्तियों पर अस्खलित होकर पदविक्षेप करते हैं, वह मारुतचारण ऋद्धि है।[399]

(ख) आकाशगामिनी चारण ऋद्धि

जिस ऋद्धि के प्रभाव से पर्यंकासन में बैठकर या अन्य किसी भी आसन में बैठकर या कायोत्सर्ग शरीर से पैरों को धरती से उठाकर तथा बिना पैरों को उठाये – आकाश में गमन करने में जो कुशल होते हैं वे आकाशगामिनी चारण ऋद्धि के धारक होते हैं।

आकाश, में इच्छानुसार मानुषोत्तर पर्वत से घिरे हुए इच्छित प्रदेशों में गमन करने वाले आकाशगामी होते हैं।

चार अंगुल से अधिक प्रमाण में भूमि से ऊपर आकाश में गमन करने वाले ऋषि आकाश-चारण कहे जाते हैं। यह आकाश चारण ऋद्धि का प्रभाव है जो आकाश में गमन कर सकते हैं।[400]

2. वैक्रिय ऋद्धि[401]

जिस ऋद्धि के प्रभाव से योगी अपने शरीर को छोटे बड़े, हल्के भारी

अनेक प्रकार के रूपों में परिवर्तित कर सके वह वैक्रिय ऋद्धि है। यह अधिकतर योगियों, महर्षियों को ही प्राप्त होती है। वैक्रिय ऋद्धि के आठ भेद कहे गये हैं[402] –

(क) अणिमा वैक्रिय ऋद्धि (ख) महिमा वैक्रिय ऋद्धि (ग) गरिमा वैक्रिय ऋद्धि (घ) लघिमा वैक्रिय ऋद्धि (ङ) प्राप्ति वैक्रिय ऋद्धि (च) प्राकाम्य वैक्रिय ऋद्धि (छ) ईशित्व वैक्रिय ऋद्धि (ज) वशित्व वैक्रिय ऋद्धि।[403]

(क) **अणिमा वैक्रिय ऋद्धि** – इस ऋद्धि के प्रभाव से साधक अपने शरीर को परमाणु के समान सूक्ष्म बना सकता है।[404]

अणु के बराबर अपने शरीर को करना अणिमा ऋद्धि है। इस ऋद्धि में महर्षि अणु के बराबर छिद्र में प्रविष्ट होकर वहाँ ही चक्रवर्ती के कटक और निवेशकी विक्रिया द्वारा रचना करता है।[405]

(ख) **महिमा वैक्रिय ऋद्धि** – यह महिमा ऋद्धि अधिकतर तपोविशेष से श्रमणों को हुआ करती है। इस ऋद्धि में साधक अपने शरीर को मेरुपर्वत से भी स्थूल बना सकते हैं।[406]

(ग) **गरिमा ऋद्धि** – इस ऋद्धि में साधक अपने शरीर को वज्र के समान भारी (वजनदार) बना सकते हैं इसलिए गरिमा ऋद्धि है।[407]

(घ) **लघिमा ऋद्धि** – लघिमा ऋद्धि में महर्षि अपने शरीर को वायु से भी लघु (हल्का) कर सकते हैं।[408]

(ङ) **प्राप्ति ऋद्धि** – इस ऋद्धि में जो चाहे वह प्राप्त कर सकते हैं। इस ऋद्धि में जमीन पर बैठे ही मेरु पर्वत की चोटी छू सकते हैं। अथवा देवों के सिंहासन को कम्पायमान कर सकते हैं।[409]

भूमि पर स्थित रहकर अंगुलि के अग्रभाग से सूर्य-चन्द्रादिक को, मेरुशिखरों को तथा अन्य वस्तु को प्राप्त करना यह प्राप्ति ऋद्धि कहलाती है।[410]

(च) **प्राकाम्य ऋद्धि** – इस ऋद्धि के प्रभाव से अढ़ाई द्वीप में जहाँ चाहे वहाँ जा सकते हैं। अर्थात् जल में स्थल की तरह और स्थल में जल की तरह गमन कर सकते हैं वह प्राकाम्य ऋद्धि है।[411]

(छ) **ईशित्व ऋद्धि** – इस ऋद्धि का धारक साधक सारे जगत् पर प्रभुत्व प्राप्त कर लेता है।

सब जीवों तथा ग्राम, नगर एवं खेड़े आदिकों के भोगने की जो शक्ति उत्पन्न होती है वह ईशित्व ऋद्धि कही जाती है।

इस ऋद्धि के प्रभाव से चक्रवर्ती के समान महान् विभूति को प्राप्त कर सकता है। वह ईशित्व ऋद्धि है।

(ज) **वशित्व ऋद्धि** – इस ऋद्धि में साधक अपने तपोबल से जीव समूहवश में कर लेता है और मनुष्य, हाथी, सिंह एवं घोड़े आदिक रूप अपनी इच्छा से विक्रिया करने की अर्थात् उनका आकार बदल देने की शक्ति का नाम वशित्व ऋद्धि है।

इस ऋद्धि से विरोधी जीवों को भी वश में कर सकता है।[412]

4. औषधि वाली ऋद्धियाँ

जिस ऋद्धि के द्वारा साधक असाध्य रोग को शान्त कर दें उसे औषधीय ऋद्धि कहते हैं।[413] औषध ऋद्धि आठ प्रकार की है

(क) आमर्ष औषध ऋषि (ख) क्ष्वेल औषध ऋषि (ग) जल्ल औषध ऋषि (घ) मल्ल औषध ऋषि (ङ) विट् औषध ऋषि (वाग्विपुट औषधि) (च) सर्व औषध ऋषि (छ) आस्याविष औषध ऋषि (ज) दृष्टिविष औषध ऋषि।[414]

(क) **आमर्ष औषध ऋषि** – इस ऋद्धि से साधक के पास अनेक प्रकार की औषधियाँ उपलब्ध हो जाती हैं। जिनमें आमर्ष ऋद्धि से तप के प्रभाव से साधक के वमन की वायु अनेक रोगों को नष्ट कर सकती हैं।[415] अथवा इस ऋद्धि के धारक ऋषियों के पास जाकर उनके हस्त या पैर का स्पर्श करने मात्र से ही जीव की काया निरोगी हो जाती है। अर्थात् रोग से मुक्त हो जाता है।[416]

(ख) **क्ष्वेल औषध ऋषि** – इस ऋद्धि के प्रभाव से तपस्वी मुनि-जनों का कफ भी औषधि का कार्य करता है। तपस्वी के मुख से निकले हुए कफ को स्पर्श कर बहने वाली वायु सब रोगों को हर लेती है। यह क्ष्वेल औषधि है।[417]

(ग) **जल्ल औषध ऋषि** – पसीने के आश्रित अंगरज को जल्ल कहा जाता है। जिस ऋद्धि के प्रभाव से उस अंगरज से भी जीवों के रोग नष्ट हो जाते हैं।[418]

(घ) **मल्ल औषध ऋषि** – मल्ल औषधि के प्रभाव से जिह्वा, ओंठ, दांत, नासिका और श्रोत्रादि का मल जीवों के रोगों को नष्ट करने वाला है। इसलिए यह मल्ल औषधि ऋद्धि है।[419]

(ङ) **विट् औषध** ऋषि **(वाग्विपुट औषधि)** – वाग्विपुट औषधि को जिस साधक ने प्राप्त कर लिया है, उस साधक के मुख से निकली हुई वायु समस्त रोगों को नष्ट कर सकती है।[420]

(च) **सर्वऔषध ऋषि** – इस ऋद्धि के बल से दुष्कर तप से युक्त मुनियों का स्पर्श किया हुआ जल व वायु तथा उनके रोम और नखादिक व्याधि के हरने वाले हो जाते हैं, ऐसी सर्वौषधि नामक ऋद्धि है।[421] अर्थात् शरीर को स्पर्श कर बहती हुई वायु समस्त रोगों को नष्ट कर देती है।

(छ) **वचननिर्विष औषध ऋद्धि** – जिस ऋद्धि के प्रभाव से तिक्तादिक रस व विष से युक्त विविध प्रकार का अन्न वचन मात्र से ही निर्विषता को प्राप्त हो जाता है, वह वचननिर्विष नामक ऋद्धि है।[422] अथवा जिस ऋद्धि के प्रभाव से बहुत व्याधियों से युक्त जीव, ऋषि के वचन को सुनकर ही झट से निरोग हो जाया करते हैं, वह वचनर्निविष ऋद्धि हैं।[423]

(ज) **आस्याविष औषध ऋद्धि** – इस ऋद्धि के प्रभाव से उग्रविष से मिला हुआ आहार भी जिनके मुख में जाकर निर्विष हो जाता है अथवा मुख से निकले हुए वचन के सुनने मात्र से महाविष व्याप्त भी कोई व्यक्ति निर्विष हो जाता है, वे आस्याविष है।

(झ) **दृष्टिनिर्विष औषधि ऋद्धि** – रोग और विष से युक्त जीव जिस ऋद्धि के प्रभाव से झट देखने मात्र से ही निरोगता और निर्विषता को प्राप्त कर लेते हैं, वह दृष्टिनिर्विष ऋद्धि है।[424]

5. रस ऋद्धि

इस ऋद्धि के प्रभाव से साधक घी, दूध आदि रसों का त्याग करने की प्रतिज्ञा से भी घी, दूध आदि झरने वाली अनेक रस ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं, अर्थात् इष्ट पदार्थों के त्याग करने से उनसे अधिक महाफलों की प्राप्ति होती है।[425]

जिस ऋद्धि के द्वारा मुनि प्रत्येक खाद्य पदार्थ में रस की वृद्धि करा दें वह रस ऋद्धि कहलाती है। अर्थात् शुष्क भोजन में भी घी आदि स्रवणशील द्रव्य की प्राप्ति कराने वाली ऋद्धि रस ऋद्धि है। इसके चार भेद हैं[426] –

(क) अमृतस्रावणी ऋद्धि (ख) मधुस्रावणी ऋद्धि (ग) क्षीरस्रावणी ऋद्धि (घ) घृत-स्रावणी ऋद्धि।

(क) **अमृतस्रावणी रस ऋद्धि** – इस ऋद्धि के प्रभाव से साधक विष के समान भोजन को भी अमृत के समान मीठा बना सकता है। अर्थात् इस ऋद्धि से रूखे आहारादि क्षणभर में अमृत के समान हो जाता है।[427]

जिस ऋद्धि से महर्षि के वचनों के श्रवणकाल में शीघ्र ही दु:खादिक नष्ट हो जाते हैं वह अमृत-स्रावणी ऋद्धि है।[428]

(ख) **मधुस्रावणी रस ऋद्धि** – जिस ऋद्धि के प्रभाव से भोजन मीठा न होने पर भी मीठा हो सकता है। अर्थात् रूखा आहारादि मधुरस से युक्त हो जाता है।[429]

इस ऋद्धिधारी मुनि के मुख से निकले वचनों का श्रवण मात्र करने से मनुष्य और तिर्यंचों के दु:ख नष्ट हो जाते हैं। वह मधुस्रावणी रस ऋद्धि है।[430]

(ग) **क्षीरस्रावणी रस ऋद्धि** – जिस ऋद्धि के प्रभाव से भोजनगृह अथवा भोजन में दूध झरने लग जाता है।[431]

हस्ततल पर रखे हुए रूखे आहारादिक तत्काल ही दुग्ध परिणाम को प्राप्त हो जाते हैं, वह क्षीरस्रावी ऋद्धि है, तथा इस ऋद्धि से मुनियों के वचनों के श्रवणमात्र से ही मनुष्य तिर्यंचों के दु:खादि शान्त हो जाते हैं, उसे क्षीरस्रावणी ऋद्धि समझना चाहिए।[432]

(घ) **घृतस्रावणी रस ऋद्धि** – इस ऋद्धि के प्रभाव से भोजनगृह में घी की कमी नहीं आती अर्थात् रूखा भोजन क्षणमात्र से घृतरूप हो जाता है। इसे सर्पिरास्रावी ऋद्धि भी कहते हैं। इस ऋद्धि धारक मुनि के वचनों को सुनने से जीवों के दु:खादि शान्त हो जाते हैं।[433]

6. बल ऋद्धि

इस ऋद्धि के प्रभाव से ऋषि को बल प्राप्त हो जाता है। बल प्राप्त होने पर साधक कठिन से कठिन परीषहों को सहन कर सकता है।[434] उष्ण, शीत, आदि परीषह हैं। बल ऋद्धि के तीन भेद हैं –

(क) मन बल (ख) वचन बल (ग) काया बल।[435]

(क) **मनोयोग ऋद्धि** - जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधक समस्त द्वादशाङ्ग (बारह अंग आगम) का अन्तर्मुहूर्त में अर्थ रूप से चिन्तन मनन कर सकता है उसे मनोबल ऋद्धि कहते हैं।[436]

जिस ऋद्धि के द्वारा श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय इन दो प्रकृतियों का उत्कृष्ट क्षयोपशम होने पर अन्तर्मुहूर्त काल के भीतर सम्पूर्ण श्रुत का चिन्तन करता है या जानता है, वह मनोबल ऋद्धि है।[437]

(ख) **वचन बल ऋद्धि** – वचन बल ऋद्धि के प्रभाव से महान् साधक सम्पूर्ण द्वादशाङ्ग के शब्दों का अन्तर्मुहूर्त मात्र में उच्चारण कर लेता है, वह सभी वचन बल से ही सम्भव हो सकता है।[438]

जिह्वेन्द्रियावरण, नोइन्द्रियावरण, श्रुतज्ञान और वीर्यान्तराय का उत्कृष्ट क्षयोपशम होने पर जिस ऋद्धि के प्रकट होने से मुनि श्रमरहित और अहीनकंठ होता हुआ मुहूर्तमात्र काल के भीतर सम्पूर्ण श्रुत को जानता व उसका उच्चारण करता है, उसे वचनबल नामक ऋद्धि कहते हैं।[439]

(ग) **कायबल ऋद्धि** – इस ऋद्धि के प्रभाव से साधक शरीर सम्बन्धी अतुल्य बल से सहित होता है।[440]

जिस ऋद्धि के बल से वीर्यान्तराय प्रकृति के उत्कृष्ट क्षयोपशम की विशेषता होने पर मुनि, मास व चातुर्मासादि रूप कायोत्सर्ग को करते हुए भी श्रम से रहित होते हैं तथा शीघ्रता से तीनों लोकों को कनिष्ठ अंगुली के ऊपर उठाकर अन्यत्र स्थापित करने के लिए समर्थ होते हैं, वह कायबल नामक ऋद्धि है।[441]

7. क्षेत्र ऋद्धि

क्षि धातु का अर्थ है – निवास करना। जिसमें पुद्गलादि द्रव्य निवास करते हैं उसे क्षेत्र कहते हैं।[442] वर्तमान काल विषयक निवास को क्षेत्र कहते हैं।[443] जितने स्थान में स्थित भावों को जानता है वह नाम क्षेत्र है।[444] स्थान के बारे जो ऋद्धि प्राप्त होती है वह क्षेत्र ऋद्धि है। क्षेत्र ऋद्धि के दो भेद होते हैं–

(क) अक्षीण महानस ऋद्धि (ख) अक्षीण महालय ऋद्धि।

(क) **अक्षीण महानस क्षेत्र ऋद्धि** – जिस ऋद्धि से कोई वस्तु या स्थान क्षीण न हो वह अक्षीण महानस ऋद्धि है। भोजनशाला में खा लेने पर भी उस भोजन को चक्रवर्ती के कटक को खिलाने पर भी क्षीण नहीं होता, और छोटे से स्थान में भी बैठकर धर्मोपदेश आदि दे तो भी उस स्थान पर समस्त मनुष्य और देव आदि के बैठने पर भी वह स्थान कम नहीं होता।[445]

लाभान्तरायकर्म के क्षयोपशम से संयुक्त जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनि के आहार में से शेष, भोजनशाला में रखे हुए अन्न में से जिस किसी भी प्रिय

वस्तु को यदि उस दिन चक्रवर्ती का सम्पूर्ण कटक भी खाये तो भी वह लेशमात्र क्षीण नहीं होता। यही अक्षीणमहानस ऋद्धि है।[446]

(ख) **अक्षीण महालय ऋद्धि** – जिस ऋद्धि से समचतुष्कोण चार धनुषप्रमाण क्षेत्र में असंख्यात मनुष्य तिर्यंच समा जाते हैं, वही अक्षीण महालय ऋद्धि है।[447]

निर्जरा साधन दान

दान

दान अर्थात् अर्पण उसके कर्त्ता एवं स्वीकार करने वाले दोनों को उपकारक होना चाहिए। अर्पण करने वाले का मुख्य उपकार तो यह है कि उस वस्तु से ममता दूर होती है और उसका सन्तोष तथा समभाव बढ़ता है। स्वीकार करने का उपकार यह है कि उस वस्तु से उसकी जीवनयात्रा में सहायता मिलती है और इसके परिणामस्वरूप उसके सद्गुण खिलते हैं। दान चाहे शरीराश्रम से दिया गया हो अथवा मानसिक श्रम से दिया गया हो, शिक्षण संस्कार अथवा सहानुभूति के रूप में दिया गया हो या धन अथवा अन्य उपयोगी वस्तु का किया गया है, उसका समावेश त्याग में होता है।

दान का लक्षण

स्व और पर के उपकार के लिए मन-वचन-काया की विशुद्धि से जो अपना धन दिया जाता है, उसे दान कहते हैं।[448]

दूसरे का उपकार हो, इस बुद्धि से अपनी वस्तु का अर्पण करना दान है।[449]

रत्नत्रय से युक्त जीवों के लिए अपने वित्त का त्याग करने या रत्नत्रय के योग्य साधनों के प्रदान करने की इच्छा का नाम दान है।[450]

अनुग्रह के हेतु अपनी किसी भी वस्तु का त्याग करना, दान कहलाता है।[451] यहाँ अनुग्रह शब्द का अर्थ उपकार और कल्याण दोनों ही है। अर्थात् अपने और दूसरे के उपकार अथवा कल्याण के लिए अपने स्वामित्व की वस्तु का अतिसर्ग-त्याग कर देना दान है।

दान का महत्त्व

दान देने वाले की (दाता की) विशुद्धता दान में दी जाने वाली वस्तु तथा दान लेने वाले पात्र को पवित्र करती है। दी जाने वाली वस्तु की पवित्रता देने

वाले और लेने वाले को पवित्र करती है, इसी प्रकार लेने वाले की विशुद्धि देने वाले पुरुष को तथा दी जाने वाली वस्तु को पवित्र करती है। तात्पर्य यह है कि दान देने में दाता, देय और पात्र की शुद्धि का होना अति आवश्यक है।[452]

दान का पात्र

दान लेने वाले पुरुष को या दान जिस व्यक्ति को दिया जाता है, वे लेने वाला पात्र कहलाता है। वह पात्र रागादि दोषों से रहित और अनेक गुणों से युक्त होता है, वह पुरुष पात्र कहलाता है। जो अनेक विशुद्ध गुणों को धारण करने से पात्र (वर्तन) के समान हो वही पात्र कहलाता है। जो जहाज के तुल्य अपने गन्तव्य या इष्ट स्थान पर (अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करवाने वाला हो) पहुँचाने वाला हो, वही पात्र कहा जाता है।[453]

जो साधक मोक्ष की इच्छा करने वाले हैं वे शरीर को चलाने के लिए और ज्ञानादि गुणों की सिद्धि प्राप्त करने के लिए ही भोजन ग्रहण करते हैं। वे बल, आयु, स्वाद अथवा शरीर को पुष्ट करने की इच्छा से भोजन नहीं करते। जो साधक अपने और दूसरों को तारने वाले हैं ऐसे अनेक गुणों से युक्त ही मुनिराज पात्र हो सकते हैं। ऐसे गुण युक्त साधकों को दिया हुआ पात्र दान मोक्ष का कारण है।[454]

दान के प्रकार

शुद्ध धर्म का अवकाश न होने से गृहस्थ धर्म में दान की प्रधानता है।[455] वह दान दो भागों में विभाजित किया जा सकता है – अलौकिक व लौकिक। अलौकिक दान साधुओं को दिया जाता है। वह दान चार प्रकार का है –

1. आहार दान 2. औषध दान 3. ज्ञान दान (शास्त्र दान) 4. अभय दान।

लौकिक दान साधारण व्यक्तियों को दिया जाता है। जैसे - समदत्ति, करुणादत्ति, औषधालय, स्कूल, सदाव्रत, प्याऊ आदि खुलवाना इत्यादि। निरपेक्ष बुद्धि से सम्यक्त्वपूर्वक सद्पात्र को दिया गया अलौकिक दान दातार को परम पद मोक्ष प्रदान करता है। पात्र, कुपात्र व अपात्र को दिये गये दान में भावों की विचित्रता के कारण फल में बड़ी विचित्रता पड़ती है।[456] रत्नकरण्ड श्रावकाचार में भी दान के चार प्रकार कहे गये हैं – आहार, औषध तथा ज्ञान के साध न शास्त्रदिक उपकरण और स्थान दान को चार प्रकार का वैयावृत्य (सेवा) कहते है।[457]

(क) आहार दान

अशम, पान, खाद्य और स्वाद्य चार प्रकार का श्रेष्ठ दान आहार दान कहलाता है।[458] आहार दान देते समय दाता के लिए आवश्यक है कि उसके मन-वचन-काय शुद्ध हो, दान देते समय और उसके पहले तथा पीछे भी उसके मन में कंजूसी, ईर्ष्या आदि दुर्भाव न आयें। मधुर वचनों से पात्र का सत्कार करना चाहिए। काया से उठकर विनय करें। भक्ति और बहुमानपूर्वक विनम्र भाव से दें। दाता दान देते हुए मन में यही सोचें कि आज मेरा भाग्य उदय हुआ है कि मैं कुछ देकर स्वयं को धन्य बना सका हूँ। इस पात्र ने दान लेकर मुझे सौभाग्य प्रदान किया। पात्र तीन प्रकार के होते हैं – महाव्रती, अणुव्रती और श्रावक।

महाव्रती को दान देने का उत्तम फल है।

अणुव्रती को दान देने का मध्यम फल है।

सम्यक्त्वी श्रावक को दान सहयोग की भावना से दिया जाता है।

सामान्य पात्रों की अपेक्षा पात्र (सुपात्र) को दान देने का फल बहुत अधिक होता है।[459]

आहार दान की महिमा और फल

आहारदान की ग्रन्थकार ने इतनी महिमा बताई है – जिसे हम सोच भी नहीं सकते। आहार दान देने से जीव संसार परिभ्रमण अर्थात् संसार-सागर से पार हो जाता है अथवा जन्म मरण के बन्धन से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है। श्रद्धापूर्वक दिया हुआ आहारदान मुक्ति का कारण है। शास्त्राकार ने तो यहाँ तक कहा है कि देवलोक का देवता भी उस आहार दान की प्रशंसा करते हुए देवलोक से रत्नों, फूलों, सुवर्ण मुद्राओं की वर्षा करते हैं। आकाश में देवों द्वारा बजाये नगाड़े शब्द समस्त लोक को गूँजायमान कर देते हैं। सुगन्धि वायु चलने लगती है। देवलोक के देवता "धन्य यह दान", "धन्य यह पात्र" इस प्रकार आहार दान का उदाहरण उद्धृत किया गया है। ऐसे दान को महादान कहा गया है।[460]

उत्कृष्ट भावों से सुपात्र दान देकर जीव अनेक पुण्यों को प्राप्त करता है। पुण्य के महान् फल से जीव उच्च-कुल में जन्म लेता है। दान के प्रभाव से ही जीव तीर्थंकर-गोत्र का बन्ध करता है इतना महत्त्व है दान का!

(ख) औषध दान

उपवास, व्याधि, परिश्रम और क्लेश से परिपीड़ित जीव को देखकर उसके शरीर के योग्य दवाई देना, औषधि देना औषध दान है।[461]

(ग) शास्त्र दान या ज्ञान दान

आगम-शास्त्र को लिखाकर या छपवाकर यथायोग्य पात्रों को दिये जाते हैं वह शास्त्र दान हैं और जिन-वचनों का पढ़ाना, अध्ययन करवाना, आध्यात्मिक ज्ञान को देना शास्त्र दान है। सर्व प्राणियों के लिए जो ज्ञान का उपदेश दिया जाता है वह शास्त्र दान या ज्ञान दान है।[462]

(घ) अभय दान

मरण से भयभीत अमूक जीवों की जो प्रतिदिन रक्षा की जाती है, यह सब दानों में श्रेष्ठ दान है। जिस पर अनुग्रह करना आवश्यक है, ऐसे दुःखी प्राणियों को दयापूर्वक मन, वचन, काय की शुद्धता से रक्षा करना "अभयदान" है। अथवा दानान्तराय कर्म के अत्यन्त क्षय से अनन्त प्राणियों के समुदाय का उपकार करने वाला क्षायिक अभयदान होता है।[463]

विवेकवान् संयमी पुरुष जो प्राणियों पर दयाभाव रखते हैं वही प्राणियों को भय से रहित करते हैं, अर्थात् जीवन दान दे सकते हैं। जो संयम पालन में विवेकपूर्वक क्रिया करने वाले और सब प्राणियों को भय से रहित अर्थात् मौतरूपी भय से रहित करते हैं उसे अभय कहते हैं। उन्हें जीवन का दान देना अभयदान है। सभी का हित चाहने वाले हितेषी, दयावान् पुरुष ही अभय का दान देते हैं।[464]

अपात्र का लक्षण और फल

जो व्रत, शीलादि से रहित मिथ्यादृष्टि है, वह पात्र नहीं माना गया है अर्थात् अपात्र है। जो मनुष्य अपात्र को दान देता है वे कुमनुष्य कुयोनियों में जन्म लेते हैं। जिस प्रकार कच्चे बर्तन में रखा हुआ गन्ने का रस अथवा दूध स्वयं नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार अपात्र के लिए दिया हुआ दान स्वयं नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार अपात्र के लिए दिया हुआ दान स्वयं नष्ट हो जाता है अर्थात् व्यर्थ ही उपयोग में आता है और लेने वाले पात्र को भी नष्ट कर देता है। अहंकारादि से युक्त बनाकर विषय-वासनाओं में फँसा देता है।[465]

जिस प्रकार लोहे की नाव समुन्द्र से दूसरों का पार नहीं कर सकती। वह नाव स्वयं भी पार नहीं होती। उसी प्रकार दोष युक्त पात्र को दिया हुआ दान न स्वयं को, न ही दूसरे को संसाररूपी समुन्द्र से पार लगा सकता है।[466]

दान देने वाले के गुणों का स्वरूप

दान देने की परम्परा का आरम्भ तथा दान तीर्थ की प्रवृत्ति करने वाले श्रेयांस कुमार (भगवान् ऋषभ देव के पोत्रे) ने श्रद्धा आदि गुणों और नवधा भक्ति सहित पुण्य के लिए सबसे पहले भगवान ऋषभदेव को दान दिया था।[467] दान देने वाला सात गुणों से युक्त होना चाहिए। वे सात गुणों के नाम इस प्रकार हैं : –

1. श्रद्धा, 2. शक्ति, 3. भक्ति, 4. विज्ञान, 5. अक्षुब्धता, 6. क्षमा, 7. त्याग।[468]

1. **श्रद्धा** – श्रद्धा आस्तिक्य बुद्धि को कहते हैं। आस्तिक्य बुद्धि अर्थात् श्रद्धा के न होने पर दान देने में अनादर हो सकता है। अर्थात् दान श्रद्धा सहित देना चाहिए।

2. **शक्ति** – दान शक्ति अनुसार देना चाहिए। दान देने में आलस्य नहीं करना चाहिए। जो शक्ति को देखकर आलस्य रहित दान दिया जाता है, उसे शक्ति कहते हैं।

3. **भक्ति** – जिस पात्र को दान दिया जाता है, उस पात्र के गुणों का आदर सम्मान करना ही भक्ति है।

4. **विज्ञान** – दान देने की विधि आदि के क्रम का ज्ञान होना ही विज्ञान है।

5. **अलुब्धता** – दान देने की शक्ति को अलुब्धता कहते हैं।

6. **क्षमा** – दान देते समय सहनशीलता धारण करना क्षमा गुण है।

7. **त्याग** – दान में उत्तम द्रव्य देना ही त्याग है।[469]

दान देने का फल

ऊपर कहे हुए सात गुणों से सहित और निदानादि दोषों से रहित होकर पात्र को दान जो देता है, वह मोक्ष के लिए तत्पर होता है।[470]

नवधा भक्ति

दान विनय भक्ति सहित देना चाहिए। वह नवधा भक्ति अथवा नौ प्रकार का पुण्य कहा जाता है। वह नवधा भक्ति नौ प्रकार की है –

1. मुनिराज का पड़गाहन करना। 2. ऊँचे स्थान पर विराजित करना। 3. चरण धोना। 4. उनकी पूजा अर्चना करना। 5. नमस्कार करना। 6-7-8. मन-वचन-काय की शुद्धि करना। 9. आहार दान देते समय आहार की विशुद्धि रखना अत्यन्त बुद्धिमान् श्रेयासं कुमार ने पूर्व पर्याय के संस्कारों से प्रेरित होकर वे सभी भक्तियाँ की थीं।[471]

उत्तम दान देने की महिमा

पात्र दान की महिमा के पश्चात् अब दान देने वाले दाता की महिमा का वर्णन किया गया है कि दान देने के पश्चात् चारों और या समस्त संसार में यश कीर्ति फैल जाती है और सभी अभ्युदय की प्रशंसा करते हैं। कहते हैं – देवों द्वारा - अहो कल्याणं - अहो कल्याणं ऐसी ध्वनि सुनाई देती है, उत्तम दान यश को देने वाला होता है।[472]

संसार में दान देने की सर्वप्रथम प्रथा

संसार में सर्वप्रथम दान देने की प्रथा या दान तीर्थ की प्रवृत्ति करने वाले श्रेयांस कुमार कहे जाते हैं। उन्होंने भगवान ऋषभदेव को सबसे पहले इक्षुरस का दान दिया था। दान देने की प्रथा उसी समय से प्रचलित हुई है। दान देने की विधि तब से ही जानी जाती है।[473]

पात्र दान का महत्त्व और फल

सुपात्र को दान प्रदान करने से भोगभूमि तथा स्वर्ग के सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति होती है, अनुक्रम से मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है। जो मनुष्य उत्तम खेत में अच्छे बीज को बोता है तो उसका फल मनवांछित पूर्ण रूप से प्राप्त होता है। इसी प्रकार उत्तम पात्र में विधिपूर्वक दान देने से सर्वोत्कृष्ट सुख की प्राप्ति होती है। उत्तम कुल, सुन्दर स्वरूप, शुभ लक्षण, श्रेष्ठ बुद्धि, उत्तम निर्दोष शिक्षा, उत्तमशील, उत्तम उत्कृष्ट गुण, अच्छा सम्यक् चारित्र, उत्तम शुभ लेश्या, शुभ नाम और समस्त प्रकार के भोगोपभोग की सामग्री आदि सर्व सुख के साधन सुपात्र दान के फल से प्राप्त होते हैं।[474] तपस्वी मुनियों को नमस्कार करने से उच्चगोत्र की प्राप्ति होती है। दान देने से भोग सामग्री की उपलब्धि होती है। उपासना करने से प्रतिष्ठा, भक्ति करने से सुन्दर रूप की प्राप्ति और स्तवन करने से यश कीर्ति की प्राप्ति होती है। मुनियों के पात्र में दिया हुआ थोड़ा सा भी दान समय आने पर पृथ्वी में प्राप्त हुए वट बीज की छाया की तरह मनोवांछित फल को देने के समान होता है।[745]

पात्र दान की अनुमोदना का फल

उत्तम पात्र को दिया हुआ दान और सुपात्र को दिये हुए दान की अनुमोदना करने से जीव भोगभूमि में जन्म लेकर आजीवन निरोग रहकर सुख से जीवन व्यतीत करता है।[476] पात्र को दिये हुए दान की अनुमोदना का उत्कृष्ट फल है कि जीव उत्तम भोग-भूमि प्राप्त कर लेता है। इतना महान् फल है दान की अनुमोदना का।[477] पात्र दान से प्राप्त हुए पुण्य के कारण जीव उत्तरकुरु भोगभूमि की आयु का बन्ध कर लेता है।[478] जम्बूद्वीप सम्बन्धी मेरु पर्वत से उत्तर की ओर उत्तर कुरु नाम की भोगभूमि है जो कि स्वर्ग की शोभा से भी अधिक है। जहाँ दस प्रकार के कल्पवृक्ष है जो इन्सान की मनोवांछित इच्छा को पूर्ण करते हैं।[479]

आहार लेने की विधि-दोष युक्त आहार लेने की निषेध

मुनिराज को किस प्रकार का आहार करने योग्य है? मुनि दूसरे द्वारा दिये विशुद्ध आहार को ग्रहण करता है। जिस भोजन में साधक को शंका हो जाये कि भोजन शुद्ध है या अशुद्ध है, ऐसे आहार को मुनि ग्रहण नहीं करता। अभिहृत अर्थात् जो किसी दूसरे के घर से आया हो, साधु उसे नहीं करता। उद्दिष्ट अर्थात् जो अपने लिए भोजन तैयार किया गया हो, साधु उसे नहीं लेते। क्रयक्रीत अर्थात् बाजार से खरीदा हुआ आहार मुनिराज नहीं लेते। इन सभी प्रकार के आहार को साधक निषिद्ध आहार मानता है। घरों की पंक्तियों का उल्लंघन करके आहार नहीं लेते।[480] साधक जीभा के स्वाद से रहित, निश्चित समय पर शुद्ध आहार ग्रहण करते हैं। वे भोजन को स्वाद (चिकना, ठण्डा, गर्म, रूखा, नमक सहित, नमक रहित) रहित जैसा भी हो, वैसे ही आहार को प्राण धारण के लिए ग्रहण करते हैं और प्राण को भी धर्मसाधना करने के लिए धारण करते हैं। अल्प आहार लेकन मुनिराज शरीर को स्थिर रखते हैं और उससे संयम धारण कर मोक्ष की प्राप्ति करते हैं।[481] मुनिराज आहार मिलने पर प्रसन्न और न मिलने पर दु:खी नहीं होते। भोजन न मिलने पर साधक दु:खी न होकर यह चिन्तन करता है कि मुझे अधिक तप करने का लाभ मिलता है। साधक सदैव समभाव में रहता है। वह अपनी स्तुति, निन्दा, सुख-दुख तथा मान-सम्मान सभी अवस्था में समान रहता है।[482] वह स्तुति सुनकर सुखी, निन्दा सुनकर दु:खी नहीं होता। साधक मौन धारण करके ईर्यासिमिति (नीचे भूमि को देखकर चलता हुआ) से गमन करते हुए आहार लेने जाता है। भोजन न मिलने पर वह मौन भंग नहीं करता। अधिक तप करने से जिन तपस्वी

महात्माओं का शरीर कृश हो गया है, वे केवल शरीर की स्थिति के लिए ही भोजन ग्रहण करते हैं। भोजन न मिलने पर दोषयुक्त आहार की कभी मन में भी इच्छा नहीं करते।[483] भोजन को ग्रहण करके वे साधक तपस्वी मुनिराज फिर तप में लीन हो जाते हैं। कठिन तपस्या करने पर यदि मुनिराज का शरीर कृश हो गया है फिर भी साधक दृढ़ प्रतिज्ञा से ग्रहण किये हुए तप को करता है। बीच में छोड़ता या विराम नहीं देता। कहने का तात्पर्य यह है कि साधक जन शरीर की परवाह न करते हुए तप को दृढ़तापूर्वक पूर्ण करते हैं।[484]

दत्ति

गृहस्थ धर्म में दान के अत्यधिक महत्त्व पर अंग/आगमों में प्रकाश डाला गया है। यह दान दो प्रकार का है—लौकिक और अलौकिक। अलौकिक दान के पात्र साधु लोग हैं तो लौकिक दान के पात्र साधारण व्यक्ति होते हैं। यह लौकिक दान जो कि ''दत्ति'- शब्द से प्रचलित हैं, चार प्रकार का होता है –

1. दया दत्ति, 2. पात्र दत्ति, 3. समदत्ति, 4. अन्वय दत्ति (सकल दत्ति)।[485]

1. दया दत्ति

अनुग्रह करने योग्य प्राणियों के समूह पर दयापूर्वक मन, वचन, काय की शुद्धि के साथ उनके भय दूर करने को पण्डित लोग दयादत्ति मानते हैं।[486]

2. पात्र दत्ति

महातपस्वी मुनियों के लिए सत्कारपूर्वक पड़गाह कर जो आहार आदि दिया जाता है, उसे पात्र दान कहते हैं।[487]

3. समदत्ति

क्रियामन्त्र और व्रतादि से जो अपने समान है तथा जो संसार-समुद्र से पार कर देने वाला कोई अन्य उत्तम गृहस्थ है, उसके लिए पृथ्वी-सुवर्ण आदि देना अथवा मध्यम पात्र के लिये समान बुद्धि से श्रद्धा के साथ जो दान दिया जाता है वह समान या सम दत्ति कहलाता है।[488]

4. सकल दत्ति

अपने वंश की प्रतिष्ठा के लिए पुत्र को समस्त कुलपद्धति तथा धन के साथ अपना कुटुम्ब समर्पण करने को सकल दत्ति कहते हैं।[489]

समीक्षा

विधि, देयवस्तु, दाता और ग्राहक की विशेषता से दान की विशेषता है। विधि की विशेषता में देश, काल का औचित्य और लेने वाले के सिद्धान्त में बाधा न पहुँचे, ऐसी कल्पनीय वस्तु का अर्पण इत्यादि बातों का समावेश होता है। द्रव्य की विशेषता में दी जाने वाली वस्तु के गुणों का समावेश होता है। जिस वस्तु का दान किया जाये, वह वस्तु लेने वाले पात्र की जीवन यात्रा में पोषक होकर परिणामतः उसके निजी-गुण विकास में निमित्त बनें।

दाता की विशेषता में देने वाले पात्र के प्रति श्रद्धा न होना, तथा दान देते समय या बाद में विषाद न करना इत्यादि दाता के गुणों का समावेश होता हैं। दान लेने वाले का सत्पुरुषार्थ के लिए ही जागरूक रहना पात्र की विशेषता है। पुण्य प्राप्ति के लिए श्रद्धदि गुणों सहित जो दान देता है, वह दाता कहलाता है। दान के लिए जो वस्तु दी जाती है, उसे देय कहते हैं। आहार, दान, औषधि दान, शास्त्रदान, अभयदान। यह चार प्रकार की वस्तुएँ देय हैं। उपर्युक्त दान देन से जीव को ममत्व भाव कम होता है। वह धीरे-धीरे विरक्त होने लगता है।

निर्जरा साधन व्रत

जिस जीवात्मा के जीवन में बिल्कुल विरक्ति आ जाती है वह साधु के पाँच महाव्रत धारण कर लेता है। जिसके जीवन में थोड़ी विरक्त भावना जागृत होती है। वह श्रावक के बारह व्रतों को धारण करता है। इसीलिये व्रतों को निर्जरा का श्रेष्ठ साधन कहा गया है। व्रतों का वर्णन इस प्रकार है –

व्रत की परिभाषा

कोशकारों ने व्रत से द्विविध तात्पर्य ग्रहण किया है एक तो भक्ति या साधना के धार्मिक कृत्य, प्रतिज्ञा आदि को व्रत बतलाया है तो दूसरे पाप से आत्मा को अलग करने की प्रवृत्ति को भी व्रत कहा गया है।[490]

पापरूपी योगों - मन, वचन एवं काय से पूर्ण विरक्त होना व्रत कहलाता है।[491] हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह से निवृत्त होना व्रत है।[492]

प्रतिज्ञा करके जो नियम लिया जाता है वह व्रत है या यह करने योग्य है, यह नहीं करने योग्य है। इस प्रकार नियम करना व्रत है।[493]

सर्व निवृत्ति के परिणाम को व्रत कहते हैं। किसी पदार्थों के सेवन का अथवा हिंसादि अशुभ कर्मों का नियत या अनियत काल के लिए संकल्पपूर्वक त्याग करना व्रत है।[494]

उपासकदृशाङ्ग सूत्र में सेवन करने योग्य वस्तु का स्वेच्छा से त्याग करना ही व्रत बतलाया गया है।[495]

यावज्जीवन हिंसादि पापों की एकदेश या सर्वदेश निवृत्ति को व्रत कहते हैं।[496] वह दो प्रकार का है – श्रावकों के अणुव्रत या एकदेशव्रत तथा साधुओं के महाव्रत या सर्वदेशव्रत होते हैं। इन्हें भावना सहित निरतिचार पालने से साधक को साक्षात् मोक्ष की प्राप्ति होती है, अतः मोक्षमार्ग में इनका बहुत महत्त्व है।[497]

जैन दर्शन में व्रतों के अनुसार धर्म की दो श्रेणियाँ विभक्त की गई हैं– आगार धर्म और अनगार धर्म।[498]

आगारधर्म का अर्थ है – घर, धन, जमींजायदाद, ऐश्वर्य, सुख-सुविधा आदि से जो सम्पन्न होता है, वह आगार है, गृहस्थ है, संसारी है जो आगार द्वादश व्रतों को स्थूल अर्थात् मोटे रूप से पालन करते हैं, वे अणुव्रती कहलाते हैं।

जिन्होंने स्वेच्छा से घर गृहस्थी जैसे जंजाल का परित्याग कर दिया है, वे अनगार कहलाते हैं। अनगार को पाँच महाव्रतों का पालन अनिवार्य होता है। वह इन्हें सूक्ष्म एवं गम्भीरतापूर्वक आचरण करता है और इसी कारण वे महाव्रती कहलाते हैं।

आदिपुराण में इन्हीं व्रतों[499] को महाव्रत और अणुव्रत नाम दिया गया हैं।

आंशिक विरक्ति या एक देश व्रत अणुव्रत है। सर्वत: विरक्ति[500] या सर्वदेशव्रत महाव्रत है।

(क) महाव्रत – सूक्ष्म तथा स्थूल सभी प्रकार के हिंसादि पापों का त्याग करना महाव्रत कहलाता है।[501]

सर्वत: - पूरी तरह विरक्ति होना महाव्रत है या सर्वथा व्रतों का पालन करना महाव्रत है।[502] महाव्रत ग्रहण करने वाला साधक तीन करण-करना, करवाना अनुमोदना-और तीन योग मन, वचन, काया से व्रत हिंसादि दोषों का त्याग करता है।[503]

आंशिक विरक्ति – अंशरूप में विरक्ति होना अणुव्रत है। सर्वथा नहीं, एकदेशव्रत विरति होना अणुव्रत कहलाता है।[504]

स्थूल हिंसादि दोषों से निवृत्त होने को अणुव्रत कहते हैं।[505]

अणुव्रती श्रावक सामान्यतया तीन योग (मन, वचन, काया) और दो करण (कृत, कारित) अनुमोदना को खुला रखकर व्रत ग्रहण करता है।[506]

तात्पर्य यह है कि अहिंसादि व्रतों के पालन का विधान शास्त्रों में गृहस्थ और साधक दोनों के लिये है, परन्तु गृहस्थ के लिये व्रतों का पालन असम्भव है, व्रतों का सर्वथा पालन तो साधु ही कर सकता है। अत: गृहस्थ की अपेक्षा ये अणुव्रत है और साधु की अपेक्षा इनकी संज्ञा महाव्रत है। महाव्रत पाँच प्रकार के कहे गए हैं[507] –

(क) अहिंसा व्रत (ख) सत्य व्रत (ग) अस्तेय व्रत (घ) ब्रह्मचर्य व्रत (ङ) अपरिग्रह व्रत।

(क) **अहिंसा व्रत** – मन, वचन और शरीर के द्वारा स्थूल तथा सूक्ष्म रूप सर्व प्रकार की हिंसा से निवृत्त होना अहिंसा-व्रत अर्थात् पहला व्रत है।[508]

(ख) **सत्य व्रत** – मन, वचन और शरीर के द्वारा किसी प्रकार का भी मिथ्याभाषण न करना दूसरा सत्य व्रत है।

(ग) **अस्तेय व्रत** – किसी वस्तु को उसके स्वामी की आज्ञा के बिना ग्रहण करना स्तेय - चोरी है, उसका मन, वचन और काया से परित्याग करना अस्तेय अर्थात् अचौर्य व्रत है।[509]

(घ) **ब्रह्मचर्य व्रत** – सर्व प्रकार के मैथुन का परित्याग करना ब्रह्मचर्य व्रत कहा जाता है।[510]

(ङ) **अपरिग्रह व्रत** – लौकिक पदार्थों में मूर्च्छा-आसक्ति तथा ममत्व का होना परिग्रह है। उसको त्याग देने का नाम अपरिग्रह व्रत है।[511]

इन पाँच व्रतों में अहिंसा व्रत को प्रथम स्थान इसलिए दिया गया है कि वह इन सब में प्रधान है। बाकी के चारों व्रतों का अहिंसा की पूर्ति के लिए विधान किया गया है, अहिंसा व्रत की रक्षा में ही इन चारों की रक्षा है। जैसे पकी हुई खेती की रक्षा के लिए बाड़ की जरूरत है, उसी प्रकार ये बाकी के व्रत अहिंसा के संरक्षणार्थ ही कहे गये हैं तथा ग्रहण किये हुए इन व्रतों को स्थिर[512] रखने के लिए प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ कही गई हैं।

1. अहिंसा व्रत की पाँच भावनाएँ कही गई हैं

(क) मनोगुप्ति (ख) वचनगुप्ति (ग) ईर्यासमिति (घ) कायनियन्त्रण (ङ) आलोकित पान भोजन।[513]

(क) **मनोगुप्ति** – मनोयोग का निरोध अथवा आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान का मन में चिन्तन न करना, मन को संयम में रखना, बुराइयों से रोकना, मनोगुप्ति भावना है।[514]

(ख) **वचन गुप्ति** – सत्य और सन्देह रहित वचन बोलना अर्थात् असत्य और कष्टकारी वचनों से मन को रोकना, विवेकपूर्वक वचन बोलना, वचनगुप्ति है।[515]

(ग) **ईर्या समिति** – ईर्या शब्द में समस्त शारीरिक क्रियाओं का समावेश हो जाता है। किन्तु इसका मुख्य अभिप्राय गमनागमन की प्रवृत्ति से लिया जाता है। इस रूप में इसका अर्थ है - अपने शरीर प्रमाण अथवा साढ़े तीन हाथ आगे की भूमि देखकर चलना, जिससे किसी भी जीव का घात न हो जाए, उसे कष्ट न पहुँचे।

विस्तृत अर्थ में ईर्यासमिति का अभिप्राय है – उठना, बैठना आदि कोई भी शारीरिक क्रिया ऐसी न की जाये, जिससे किसी भी प्राणी को तनिक भी कष्ट या पीड़ा हो अथवा खिन्नता हो। सरल शब्दों में स्व पर को कष्ट न हो,

इस विवेकपूर्वक सभी शारीरिक क्रियाएँ करना ईर्यासमिति है और इस विचार का अनुचिन्तन ईर्या समिति भावना है।[516]

(घ) **काय नियन्त्रण या आदान निक्षेपण समिति** – इसका अभिप्राय है - किसी वस्तु उपकरण आदि को भली-भान्ति देखभाल कर उठाना और रखना, जिससे किसी प्राणी की विराधना न हो और उपकरणादि भी अधिक समय तक सुरक्षित रहें। उपकरण उठाने रखने में किसी जीव की विराधना न हो सतत ऐसा चिन्तन रखना आदान निक्षेपण भावना है।[517]

(ङ) **आलोकित पान भोजन** – इसका अभिप्राय है – सूर्य के प्रकाश में भोजन पान से निवृत्त हो जाना, सूर्यास्त होने के बाद कुछ भी खाने और पीने की भावना न रखना आलोकित पान-भोजन भावना है।

अंधकार में भोजन-पात्र से जीवों की विराधना तो होती ही है, साथ ही अपने स्वयं के स्वास्थ्य पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, विषैला जन्तु खाने से अनेक प्रकार के रोग हो सकते हैं।[518]

अतः अहिंसाव्रत के साधक को यह पाँच भावनाएँ भानी चाहिएँ जिससे उसका व्रत स्थिर रहे।

2. सत्यव्रत की पाँच भावनाएँ

(क) क्रोध (ख) लोभ (ग) भय (घ) हास्य (ङ) अनुवीचि भाषण।[519]

(क-ख-ग-घ) **क्रोध-लोभ-भय-हास्य-त्याग** – क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों के आवेग में मुख से कोई वचन न निकल जाये, ऐसा अनुचिन्तन मन में करते रहना। इन दुर्गुणों को निकालने का प्रयत्न करना/सत्यव्रत की भावनाएँ हैं।[520]

(ङ) **अनुवीचि भाषण (शास्त्रानुसार वचन कहना)** – पाप रहित और शास्त्र में बताई मर्यादा सहित, विचारपूर्वक वचन बोलने की भावना रखना अनुवीचि भाषा भावना है।[521]

3. अस्तेय (अचौर्य) व्रत की पाँच भावनाएँ

(क) थोड़ा आहार लेना

(ख) तपश्चरण के योग आहार लेना

(ग) श्रावक के प्रार्थना करने पर आहार लेना

(घ) योग्यविधि के विरुद्ध आहार नहीं लेना

(ङ) प्राप्त भोजन-पान में सन्तोष रखना।[522]

साधु को गृहस्थ के घरों में थोड़ा-थोड़ा भोजन लेना चाहिए जिससे गृहस्थ को कोई कष्ट न हो। संयमवृत्ति पालन के लिए ही भोजन ग्रहण करना चाहिए, स्वाद के लिए नहीं। साधु या श्रमण को श्रावक के कहने पर ही आहार लेना है अपने आप मांगकर - अपमान का भोजन नहीं लेना। साधु को आहार-पानी के दोष टालकर निर्दोष भोजन को स्वीकार करना है। निर्दोष जितना भोजन मिले उसे ही ग्रहण करना चाहिए। साधु को गुरुजनों को दिखाकर, आज्ञा लेकर भोजन लेना चाहिए। इन सभी का चिन्तन करना ही अचौर्य व्रत की भावनाएँ हैं।

4. ब्रह्मचर्य व्रत की पाँच भावनाएँ

(क) स्त्रियों की कथा का त्याग।

(ख) स्त्रियों के सुन्दर अंगोपांगों को देखने का त्याग

(ग) स्त्रियों के साथ रहने का त्याग।

(घ) स्त्रियों के साथ पहले भोगे हुए भोगों के स्मरण का त्याग

(ङ) गरिष्ठ रस भोजन का त्याग।[523]

(क) स्त्रियों की कथा का त्याग (स्त्री कथा विरति)

स्त्रियों के काम, मोह, श्रृंगार, सौन्दर्य आदि की कथा न करना। ब्रह्मचर्य व्रत की प्रथम भावना है।[524]

(ख) स्त्रियों के सुन्दर अंगोपांग के देखने का त्याग - (स्त्रीरूप दर्शन विरति)

स्त्री के मनोहर और काम स्थानों को रागपूर्वक न देखना। इनको देखने से ब्रह्मचर्य व्रत के साधक के हृदय में विकार उत्पन्न होने की सम्भावना है। यह ब्रह्मचर्य व्रत की दूसरी भावना है।[525]

(ग) स्त्रियों के साथ रहने का त्याग

स्त्री, पशु और नपुंसक जिस शय्या आसन पर बैठते हों, उसका त्याग करना। इसका अभिप्राय यह भी है कि जहाँ स्त्रियों का बार-बार आवागमन

होता हो, घर के आंगन में स्त्रियाँ बैठती हों और उन पर दृष्टि पड़ती हो, स्त्रियाँ समीप हों, समीप ही वेश्याओं का आवास हो, ऐसे स्थान पर ब्रह्मचर्य व्रत के साधक को नहीं रहना चाहिए। यह ब्रह्मचर्य व्रत की तीसरी भावना है।[526]

(घ) पूर्व भोगे हुए भोगों के स्मरण का त्याग – (पूर्वरत पूर्वक्रीडित विरति)

पूर्व में भोगी हुई रति-क्रीड़ाओं का स्मरण न करना, उन्हें भूला देना। ब्रह्मचर्य व्रत की चौथी भावना है।[527]

(ङ) गरिष्ठ भोजन का त्याग (प्रणीत आहार त्याग)

साधक को अधिक स्निग्ध और स्वादिष्ट गरिष्ठ भोजन का त्याग करना चाहिए क्योंकि रसीला आहार विकार को बढ़ाता है। यह ब्रह्मचर्य व्रत की पाँचवीं भावना है।[528]

5. अपरिग्रह व्रत की पाँच भावनाएँ

पाँच इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों में आसक्ति का त्याग

(क) स्पर्शन इन्द्रिय (ख) रसन इन्द्रिय (ग) घ्राण इन्द्रिय (घ) चक्षु इन्द्रिय (ङ) श्रोत्र इन्दिय।[529]

स्पर्शन रसना-घ्राण-चक्षु-श्रोत्र इन पाँच इन्द्रियों के मनोज्ञ विषयों में राग और अमनोज्ञ विषयों में द्वेष की भावना न रखना। सचित्त अचित्त पदार्थों में आसक्ति न करना, बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करना ये अपरिग्रह व्रत की भावनाएँ हैं।[530]

यह तो संभव नहीं कि व्रती साधक को अनुकूल प्रतिकूल स्पर्श न हो, मधुर और कटुक रस, सुगन्ध दुर्गन्ध, बीभत्स और सुन्दर रूप तथा सुखद और कर्णकटु शब्दों का ग्रहण न हो, वह तो होगा ही, लेकिन व्रती साधक को चाहिए कि उनमें राग द्वेष न करें, अनुकूल के प्रति आकर्षित न हो और प्रतिकूल के प्रति मन में अरुचि न लाये।

इन्द्रिय विषयों के प्रति समत्व भावना का बार-बार चिन्तन करना अपरिग्रह व्रत की भावनाएँ हैं।[531]

धैर्य धारण करना, क्षमा रखना, ध्यान धारण करना, परीषहों को सहन करना - ये पाँच व्रतों की उत्तर भावनाएँ हैं।[532]

उपर्युक्त पाँच महाव्रत साधु-सन्यासियों के लिए हैं। परन्तु श्रावक (गृहस्थ) के लिए अणुव्रतों का विधान है। वह अणुव्रत बारह कहे गये हैं –

श्रावक धर्म

गृहस्थ धर्म का दूसरा नाम श्रावक धर्म कहा है। गृहस्थ धर्म का पालन करने वाला पुरुष ''श्रावक'' और स्त्री ''श्राविका'' कहलाती है। ''श्रावक'' शब्द श्रवण अर्थ वाले ''श्रु'' धातु से बना है। श्रवण करना अर्थात् आत्म कल्याण के मार्ग को रसपूर्वक सुने वह श्रावक श्राविका है। श्रावक के अर्थ में ''उपासक'' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है।[533] श्रावक के बारह अणुव्रत कहे गये हैं –

(क) पाँच अणुव्रत (ख) तीन गुणव्रत (ग) चार शिक्षाव्रत।[534]

(क) पाँच अणुव्रत

1. अहिंसाणुव्रत 2. सत्याणुव्रत 3. अचौर्याणुव्रत 4. ब्रह्मचर्याणुव्रत 5.परिग्रह परिमाणाणुव्रत।[535]

(ख) तीन गुणव्रत

1. दिग्विरति गुणव्रत 2. देश विरति गुणव्रत 3. अनर्थ दण्डविरति गुणव्रत।[536]

(ग) चार शिक्षाव्रत

1. सामायिक 2. पोषधोवास 3. अतिथिसंविभाग 4. मरण समय में संथारा धारण करना।[537]

1. पाँच अणुव्रत

अणुव्रत पाँच प्रकार के होते है –

स्थानाङ्ग सूत्र में अणुव्रत के लिये और विरमण शब्द का प्रयोग भी किया गया है। अणुव्रत पाँच प्रकार के है।

1. स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत 2. स्थूल मृषावाद विरमणव्रत 3. स्थूल अदत्तादान विरमणव्रत 4. स्वदार सन्तोष व्रत 5. परिग्रह परिमाणव्रत कहे जाते है।[538]

अणुव्रत

अणु शब्द अण् धातु से उण् प्रत्यय लगाने से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है - बारीक, नन्हा, लघु। महाव्रतों की अपेक्षा गुण और साधना की दृष्टि से छोटा व्रत अणुव्रत है। कारण यह है कि श्रमणों के महाव्रतों की अपेक्षा से ये व्रत श्रावकों के लिए अल्प अर्थात् स्थूल रूप से पालनीय होते हैं। अतः अणुव्रत कहलाते हैं।[539]

स्थूल हिंसादि दोषों से निवृत्त होने को अणुव्रत कहते हैं।[540] हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह - पाँचों पापों का त्याग करना। परन्तु यह श्रावक के अणुव्रत होने से तीन योग (मन-वचन-काया) और दो करण (करना, करवाना) से त्याग किया जाता है। किन्तु अनुमोदना खुला रहता है।

साधक (मुनि) सर्वतः पापों का त्याग करता है, पर गृहस्थ श्रावक इतनी उच्च भूमिका पर पहुँचा नहीं होता उसे पारिवारिक-सामाजिक दायित्व भी पूरे करने होते हैं। वह मूलव्रतों की अंशतः साधना कर पाता है। उसे अणुव्रत कहते हैं।[541]

दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थ चारित्रसार में रात्रि भोजन त्याग को श्रावक का छठा अणुव्रत माना गया है। सर्वार्थसिद्धि में यद्यपि भोजन त्याग की गणना छठे अणुव्रत के रूप में नहीं की गई है, फिर भी वहाँ यह कहा गया है कि 'अहिंसा व्रत की' "आलोकित भोजनपान" भावना में रात्रि भोजन विरमण व्रत का अन्तर्भाव हो जाता है।[542]

2. तीन गुणव्रत

गुणव्रत - गुणों को बढ़ाने के कारण आचार्यगण इन व्रतों को गुणव्रत कहते हैं।[543] गुणव्रत तीन प्रकार के हैं –

(क) दिग्व्रत गुणव्रत (ख) देशविरति गुणव्रत (ग) अनर्थदण्डविरमण व्रत।[544]

(क) दिग्व्रत

पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण - ये चार दिशाएँ, ईशान, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य-चार विदिशाएँ, ऊर्ध्व दिशा, अधोदिशा कुल 10 दिशाएँ हैं। भिन्न-भिन्न प्रवृत्तिविषयक कार्यक्षेत्र को सीमित बनाने के लिए दिशाओं की मर्यादा बाँधना

इस व्रत का अर्थ है। इस दिग्व्रत से मर्यादित क्षेत्र में जाने आने की व्यापार करने की तथा मर्यादित क्षेत्र में उत्पन्न वस्तुओं के उपयोग आदि की प्रवृत्तियाँ नियमित हो जाती हैं।[545]

(ख) देशविरति (भोगोपभोग व्रत)

देशविरति में श्रावक दिग्व्रत की सीमा तो कम करता ही है, साथ ही भोगोपभोग आदि अन्य व्रतों में निर्धारित द्रव्यों आदि को भी कम कर लेता है कि आज इससे अधिक वस्तुओं का सेवन नहीं करूँगा। साथ ही अन्य सांसारिक प्रवृत्तियों को भी सीमित कर लेता है। इसे कई आचार्यों ने भोगोपभोग व्रत कहा है। एक बार ही जिन पदार्थों का भोग किया जाता है, उसे भोग, जिनका बार-बार भोग किया जाता है, उसे उपभोग व्रत कहा है। इसका दूसरा नाम भोगोपभोग व्रत है।[546]

(ग) अनर्थदण्डविरमणव्रत

''अनर्थ'' का अर्थ है - निरर्थक और ''दण्ड'' का अर्थ है पाप इस प्रकार अनर्थदण्ड का अर्थ हुआ - निरर्थक, निष्प्रयोजन-पापाचार, इसका त्याग अनर्थ दण्ड विरमण है। परन्तु स्थूल हिंसा किये बिना गृहस्थ जीवन का गुजारा नहीं। जैसे-भोजन बनाना, आदि आवश्यक कार्यों श्रावक के द्वारा गृहीत व्रतों में दोष नहीं लगता। अर्थात् खण्डित नहीं होते। लापरवाही से होने वाली हिंसा का त्याग ही अनर्थदण्ड विरमणव्रत है।[547]

3. चार शिक्षाव्रत

शिक्षाव्रत - अणुव्रत और गुणव्रत की निवृत्तिप्रधान चेष्टा को सदैव बनाये रखने के लिये और उसमें प्रगति लाने के लिए किसी शिक्षक एवं प्रेरणा सामग्री की आवश्यकता रहती है वह शिक्षाव्रत है।[548] अर्थात अणुव्रतों के पालन करने में जो उपकारक हों, पोषक हों वे गुणव्रत हैं। यह शिक्षाव्रत चार हैं–

(क) सामायिक व्रत (ख) देशवकासिक व्रत (ग) पौषध व्रत (घ) अतिथि संविभाग व्रत।[549]

(क) सामायिक व्रत

समस्त सांसारिक कार्यों - सावद्य कर्मों को त्याग कर कम से कम 48 मिनट (एक मुहूर्त) तक धर्मध्यान करना सामायिक व्रत है।[550]

(ख) देशवकासिक व्रत

दिग्व्रत में ग्रहण की हुई दिशाओं की सीमा तथा अन्य सभी व्रतों में ली हुई मर्यादाओं को और भी मर्यादित कर देना साथ ही देश (आंशिक) पौषध करना, दया पालना, संवर करना - देशवकाशिक व्रत है।[551]

(ग) पौषधव्रत

धर्म का पौषध करने वाला होने से यह व्रत पौषधव्रत है। इसमें आहार, शरीर, श्रृंगार, व्यापारादि सभी कार्यों को त्याग कर एक दिन-रात (अष्ट प्रहर) तक उपाश्रयादि शान्त स्थान में रहकर धर्मचिन्तन, आत्म गुणों का चिन्तन, पंचपरमेष्ठी गुण स्मरण करना।

अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा एवं अमावस्या - इन चारों पर्व तिथियों में आहार, शरीर, अब्रह्मचर्य तथा सावद्यकर्म का त्याग करना पौषधव्रत है।[552]

(घ) अतिथि संविभागव्रत

जिसके आने की कोई तिथि नहीं उसे अतिथि कहते हैं अर्थात् जिसके आने का कोई काल (समय) नहीं। वह अतिथि है। अतिथि के लिए विभाग करना अतिथि संविभाग है। वह चार प्रकार का है – भिक्षा, उपकरण, औषध और प्रतिश्रय अर्थात् रहने का स्थान जो साधक मोक्ष के लिए बद्धकक्ष है, संयम पालने में तत्पर है ऐसे अतिथि के लिए शुद्ध मन से निर्दोष भिक्षा देना, धर्म के उपकरण देना, औषधि देना, श्रद्धा पूर्वकस्थान देना, यह सभी अतिथि संविभाग व्रत में आते हैं।[553]

द्वार पर आये अतिथि (त्यागी) को अपने न्यायोपार्जित धन में से विधिपूर्वक आहारादि देना यह श्रावक का बारहवां व्रत है। इस प्रकार गृहस्थाश्रम के बारह व्रत कहे गये हैं।[554]

श्रावक प्रतिमाएँ

प्रतिमा – आध्यात्मिक क्षेत्र की श्रृंखला में श्रावक सर्वप्रथम सम्यक्त्व - श्रद्धा अर्थात् यथार्थ श्रद्धान के साथ पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों को ग्रहण करता है और पुनः आध्यात्मिक उन्नति का इच्छुक यह श्रावक राग-द्वेषरहित होकर जो उत्कृष्टतम साधना करता है, उसे ही प्रतिमा की संज्ञा से सम्बोधित किया गया है। लम्बे समय तक व्रतों का पालन करता हुआ श्रावक पूर्ण त्याग की ओर अग्रसर होता है। उत्साह बढ़ने पर एक दिन कुटुम्ब

का उत्तरदायित्व सन्तान को सौंप देता है और पौषधशाला में जाकर समय धर्मानुष्ठान में बिताने लगता है। उस समय वह उत्तरोत्तर साधुता की ओर बढ़ता है। कुछ दिनों तक अपने घर से भोजन मंगवाता है और फिर उसका भी त्याग करके भिक्षा पर निर्वाह करने लगता है। इन व्रतों को ग्यारह प्रतिमाओं के रूप में प्रकट किया गया है। प्रतिमा शब्द का अर्थ है सादृश्य। जब श्रावक साधु के सदृश होने के लिए प्रयत्नशील होता है तो उसे प्रतिमा कहा जाता है।[555] साधारणत: प्रतिमा का अर्थ है – प्रतिज्ञा विशेष। यह प्रतिज्ञा विशेष, व्रत विशेष के नाम से जानी जाती है। इन प्रतिमाओं को जीवन में आचरण करने से श्रावक भी श्रमण के समान हो जाता है, कारण वह जैसे-जैसे साधना में तल्लीन होता जाता है, वैसे-वैसे उसका आध्यात्मिक विकास भी होता जाता है।[556] इस विकास के लिए आचार्य जिनसेन जी ने आदिपुराण में ग्यारह प्रतिमाओं का विधान किया गया है।

श्रावक विवेकवान् विरक्तचित्त अणुव्रती गृहस्थ को श्रावक कहते हैं।

इसमें वैराग्य की प्रकर्षता से उत्तरोत्तर ग्यारह श्रेणियाँ हैं, जिन्हें ग्यारह प्रतिमाएँ कहते हैं। शक्तियों को न छिपाता हुआ वह निचली दशा से क्रमपूर्वक उठता चला जाता है। अन्तिम श्रेणी में इसका रूप साधु से किंचत् न्यून रहता है। गृहस्थ दशा में भी विवेकपूर्वक जीवन बिताने के लिए अनेक क्रियाओं का निर्देश किया गया है।[557] उपर्युक्त ग्यारह प्रतिमाएँ इस प्रकार हैं उपासकदृशाङ्ग सूत्र में भी श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन किया गया है।

1. दर्शन प्रतिमा 2. व्रत प्रतिमा 3. सामायिक प्रतिमा 4. पौषध प्रतिमा 5. सचित त्याग प्रतिमा 6. दिवा मैथुन त्याग प्रतिमा 7. ब्रह्मचर्य प्रतिमा 8. आरम्भ त्याग प्रतिमा 9. परिग्रह प्रतिमा 10. अनुमति प्रतिमा 11. उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा।[558]

1. दर्शन प्रतिमा

दर्शन का अर्थ है – श्रद्धा या सम्यक् दृष्टि। आत्मविकास के लिए सबसे पहले श्रद्धा का होना आवश्यक है। दर्शन के साथ प्रतिमा पद के लग जाने पर इसका अर्थ है - वीतरागदेव, पंचमहाव्रत धारी गुरु और वीतरागी साधु द्वारा बतलाए गए मार्ग पर दृढ़ विश्वास का होना।[559]

श्रावक की ग्यारह भूमिकाओं में से पहली का नाम दर्शन प्रतिमा है। इस भूमिका में यद्यपि वह यम रूप से बारह व्रतों को धारण नहीं कर पाता। पर अभ्यास रूप से उनका पालन करता है। सम्यग्दर्शन में अत्यन्त दृढ़ हो जाता

है और अष्ट मूलगुणादि भी निरतिचार पालने लगता है।[560] अथवा दर्शन प्रतिमा वाला संसार और शरीर भोगों से विरक्त पाँचों परमेष्ठियों के चरणकमलों का भक्त रहता है और सम्यग्दर्शन से विशुद्ध रहता है।[561] जो पुरुष शंकादि दोषों से निर्दोष संवेगादि गुणों से संयुक्त सम्यग्दर्शन को धारण करता है, वह सम्यग्दृष्टि (दर्शन प्रतिमा वाला) कहा गया है।[562]

2. व्रत प्रतिमा

जो शल्य रहित होता हुआ अतिचार रहित पाँचों अणुव्रतों को तथा शील सप्तक अर्थात् तीन गुणवतों और चार शिक्षाव्रतों को भी धारण करता है, निरतिचार रूप पालन करता है वह व्रत प्रतिमा है। दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र में बताया गया है जो श्रावक शीलवृत, गुणव्रत, प्राणतिपातादि विरमण, प्रत्याख्यान, और पोषधोपवास आदि का सम्यक परिपालन करना ही व्रत प्रतिमा कहा गया है।[563]

3. सामायिक प्रतिमा

जो श्रावक कायोत्सर्ग में स्थित होकर लाभ-अलाभ को, शत्रु-मित्र को, इष्ट वियोग व अनिष्ट संयोग को, तृण-कंचन को, चन्दन और कुठार को समभाव से देखता है और मन में पंच नमस्कार मन्त्र को धारण कर उत्तम अष्टप्रतिहार्यों से संयुक्त अर्हन्तजिन के स्वरूप को और सिद्ध भगवान के स्वरूप का ध्यान करता है, अथवा संवेग सहित अविचल अंग होकर एक क्षण का भी उत्तम ध्यान करता है, तो उसकी उत्तम सामायिक प्रतिमा होती है।[564] उपासक दृशाङ्ग सूत्र में सम्यग्दर्शन और अणुव्रत स्वीकार करने के पश्चात् प्रतिदिन तीन बार सामायिक करना सामायिक प्रतिमा है।

4. पौषधोपवास प्रतिमा

जो महीने-महीने चारों ही पर्वों में (दो अष्टमी और चतुर्दशी के दिनों में) अपनी शक्ति को न छिपाकर शुभ ध्यान में तत्पर होता हुआ यदि अन्त में पौषधपूर्वक उपवास करता है, वह चौथी पौषधोपवास प्रतिमा का धारी है।[565]

5. सचित त्याग प्रतिमा

आत्मा के चैतन्य विशेष रूप परिणाम को चित्त कहते हैं। जो उसके साथ रहता है, वह सचित कहलाता है। अथवा जो चित्त सहित है वह सचित कहलाता है।

जो कच्चे मूल, फल, शाक, शाखा, करीर, जमीकन्द, पुष्प और बीज नहीं खाता है, इस प्रतिमा में सचित आहार का सर्वथा त्याग कर देता है। वह दया की मूर्ति सचित त्याग प्रतिमाधारी है।[566]

6. दिवा मैथुन त्याग प्रतिमा (रात्रि भुक्ति त्याग प्रतिमा)

जैसा कि शब्द की ध्वनि से स्पष्ट हो रहा है कि श्रावक को चाहिए कि वह मर्यादा में रहे। अपनी स्त्री से मर्यादा में रहता हुआ रात्रि में ही भोगों का सेवन करे, दिन में कभी भी भोगों का सेवन न करे। इसे रात्रि भुक्ति त्याग प्रतिमा भी कहा जाता है।[567]

7. ब्रह्मचर्यप्रतिमा

जो मल के बीजभूत, मल को उत्पन्न करने वाले, मल प्रवाही, दुर्गन्धयुक्त, लज्जाजनक वा ग्लानि युक्त अंग को देखता हुआ काम-सेवन से विरक्त होता है, वह ब्रह्मचर्य प्रतिमा का धारी ब्रह्मचारी है।[568]

वे नौ प्रकार के मैथुन को सर्वथा त्याग करता हुआ (मन, वचन, काया से करना, करवाना, अनुमोदना करना यह ब्रह्मचर्य के 9 प्रकार हैं) इस प्रतिमा वाला स्त्री कथादि से भी निवृत्त हो जाता है।[569] इस प्रकार स्त्री सेवन का पूर्णरूप से त्यागी ही ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी श्रावक बन सकता है।

ब्रह्मचर्य प्रतिमा के धारक के लिए स्त्रियों से अनावश्यक वार्तालाप, उनके श्रृङ्गार तथा चेष्टाओं को देखना भी निषेध है।[570]

8. आरम्भ त्याग प्रतिमा

जो जीव हिंसा के कारण नौकरी, खेती, व्यापारादि के आरम्भ से विरक्त है, वह आरम्भ त्याग प्रतिमाधारी है।[571] अथवा जो कुछ भी थोड़ा या बहुत गृहस्थ सम्बन्धी आरम्भ होता है, वह आरम्भ से निवृत्त हुई है बुद्धि जिसकी, ऐसा आरम्भ त्यागी आठवीं प्रतिमाधारी श्रावक कहा गया है।[572]

9. परिग्रह प्रतिमा

जो बाह्य के दश प्रकार के परिग्रहों में ममता को छोड़कर निर्ममता में रत होता हुआ मायादिरहित स्थिर और सन्तोष वृत्ति धारण करने में तत्पर है वह सचित परिग्रह से विरक्त अर्थात् परिग्रह त्याग प्रतिमा का धारक है। अथवा जो

वस्त्र मात्र परिग्रह को रखकर शेष सब परिग्रह को छोड़ देता है और स्वीकृत वस्त्र मात्र परिग्रह में भी मूर्च्छा नहीं करता, उसे नौवाँ प्रतिमाधारी श्रावक है।[573]

10. अनुमति त्याग प्रतिमा

यह प्रतिमा में साधक किसी भी आरम्भ समारम्भ के कार्य को न स्वयं करता न दूसरों को कार्य करने की सलाह देना अनुमति कहलाती है अथवा कार्यशील व्यक्ति द्वारा स्वयं कार्य सम्पन्न कर लेने से उसके कृत्य पर प्रसन्न होना भी अनुमति कहलाती है। घर में रहकर भी इष्ट-अनिष्ट कार्यों के प्रति राग-द्वेष नहीं करता। भोजन के समय आमन्त्रित करने पर वह भोजन ग्रहण करता है। भले ही वह भोजन उसके निमित्त से क्यों न बनाया हो।[574]

11. उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा

जो भोजन मुनियों के उद्देश्य से तैयार किया जाता है वह साधक के योग्य नहीं है। साधक उद्दिष्ट भोजन ग्रहण नहीं करते। श्रावकों के घर ही भोजन के लिए जाते हैं और वहाँ प्राप्त हुआ निर्दोष भोजन ग्रहण करते हैं।[575]

जो पुरुष मन, वचन, काया से भोजन बनाता नहीं, दूसरों से बनवाता नहीं, बनते हुए का अनुमोदन करता नहीं, ऐसे शुद्ध भावों से भोजन ग्रहण करता है वह उद्दिष्ट त्याग ग्यारहवीं प्रतिमा का धारक श्रावक कहलाता है।[576]

प्रथम चार प्रतिमाओं के नाम दोनों ही परम्पराओं में एक समान मिलते हैं, प्रेष्य और परिग्रह भी प्रायः एकार्थक है किन्तु सचितत्याग का क्रम श्वेताम्बर परम्परा में सातवाँ है, तो दिगम्बर परम्परा में इसे पाँचवाँ स्थान प्राप्त है। श्वेताम्बर परम्परा में पाँचवीं प्रतिमा के नियम में रात्रि भोजन त्याग का वर्णन समाहित है, जबकि दिगम्बर परम्परा में दिवा मैथुन रात्रि भुक्ति त्याग को स्वतन्त्र छठी प्रतिमा माना गया है। दिगम्बर परम्परा में ब्रह्मचर्य प्रतिमा को जहाँ सातवें स्थान पर लिया गया है, वहीं श्वेताम्बर परम्परा में इसका छठा स्थान है। श्वेताम्बर परम्परा में उद्दिष्टत्याग प्रतिमा में ही अनुमतित्याग प्रतिमा समाविष्ट है किन्तु दिगम्बर ग्रन्थों में इसे स्वतन्त्र महत्ता प्रदान की गई है और दसवें स्थान पर रखा गया है। श्वेताम्बर परम्परा में इस संख्या पर उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा को रखा गया है क्योंकि इसमें श्रावक का आचार श्रमण सदृश हो जाता है। इस प्रकार से ग्यारह प्रतिमाएँ वास्तव में श्रावक की ग्यारह श्रेणियाँ हैं, जिनमें एक के पश्चात् दूसरी तीसरी श्रेणी परश्रावक स्वयं को स्थिरकर आत्मिक उत्थान के उत्तरोत्तर सोपान पर क्रमशः बढ़ता चला जाता है।

समीक्षा

बन्धे हुए कर्मों के प्रदेश पिण्ड के गलने का नाम निर्जरा है। परिपाक से अथवा तप के द्वारा कर्मों का आत्मा से पृथक् होना निर्जरा है। अथवा जिन कर्मों को भोगा जा चुका है, उन्हें आत्मा से अलग होने को ही निर्जरा कहा जाता है।

बोलचाल की भाषा में यों कह सकते हैं कि मैले कपड़े में साबुन लगाते ही मैल साफ नहीं हो जाता। जैसे-जैसे साबुन का झाग कपड़े के तार-तार में पहुँचता है वैसे-वैसे, धीरे-धीरे मैल दूर होनी आरम्भ हो जाती है यही बात निर्जरा के लिए भी समझनी चाहिए। साधक ने तपादि की साधना की, संवर से नवीन कर्मों को आने से रोक दिया किन्तु पूर्वबद्ध कर्ममल की मलीनता शनैःशनैः दूर हो जाती है। पूर्णशुद्ध अवस्था प्राप्त हो जाना मोक्ष कहलाता है।

निर्जरा शुद्धता की प्राप्ति के मार्ग में सीढ़ियों के समान है। सीढ़ियों पर क्रम-क्रम से कदम रखने पर मंजिल पर पहुँचा जाता है। वैसे ही क्रमशः निर्जरा कर मोक्ष अवस्था प्राप्त की जाती है।

अपने साथ स्वयं कर्मों का उदय में आकर झड़ते रहना सविपाक है तथा तप द्वारा समय से पहले ही कर्मों का झड़ना अविपाक निर्जरा है। सर्वार्थसिद्धि में भी निर्जरा को दो प्रकार का कहा है - सविपाकजा निर्जरा, अविपाकजा निर्जरा।

क्रम से परिपाक काल को प्राप्त हुए और अनुभवरूपी उदयावली के स्रोत में प्रविष्ट हुए ऐसे शुभाशुभ कर्मों का फल देकर जो निवृत्ति होती है वह सपिवाकजा निर्जरा है तथा आम और कटहल को औपक्रमिक क्रिया विशेष के द्वारा जिस प्रकार अकाल में पका लेते हैं, उसी प्रकार जिसका विपाककाल अभी नहीं प्राप्त हुआ है तथा जो उदयावली में प्रविष्ट कराके अनुभव किया जाता है वह अविपाकजा निर्जरा है।

वाचक उमास्वाति ने भी निर्जरा को दो प्रकार का कहा है - एक अबुद्धिपूर्वक और कुशलमूल। नरकादि गतियों में जो कर्मों के फल का अनुभव न किसी तरह के बुद्धिपूर्वक प्रयोग के बिना हुआ करता है उसको अबुद्धिपूर्वक निर्जरा कहते हैं। तप और परीषहजय कृत निर्जरा को कुशलमूल निर्जरा कहा जाता है।

आत्म-शुद्धि की दृष्टि से कर्म निर्जरा के लिये जो विवेक पूर्वक तप, ऋद्धि, दान, व्रत आदि की साधना की जाती है उससे सकाम निर्जरा होती है।

जैसे धूप में कपड़ा फैलाकर डालने से शीघ्र सूख जाता है लेकिन उसी कपड़े में पानी अधिक हो और उसको अच्छी तरह से फैलाया न जाये तो सूखने में देर लगती है। इसी प्रकार बिना ज्ञान एवं संयम से जो तप, दान, व्रत आदि क्रियाएँ की जाती हैं उनसे होने वाली जो निर्जरा होती है वह अकाम निर्जरा है। किन्तु निर्जरा निमित्त भेद से बारह प्रकार की बतायी गयी है – जैसे अग्नि एक रूप होने पर भी निमित्त के भेद से काष्ठाग्नि, पाषाणाग्नि – इस प्रकार पृथक्-पृथक् संज्ञा को प्राप्त हो अनेक प्रकार की होती है, वैसे ही कर्मपरिशाटन रूप निर्जरा वास्तव में एक ही है पर अनशन आदि तप हेतुओं की अपेक्षा से बारह प्रकार की कही जाती है।

साधक का एकमात्र लक्ष्य अनादिकाल से चले आ रहे कर्म-बन्धन से मुक्ति प्राप्त करना है और सांसारिक सुखादि की यत्किंचित् प्राप्ति की अभिलाषा में न उलझकर मुक्ति के लिए प्रयास करना है। एतदर्थ ही कहा गया है यश, कीर्त्ति, सुख एवं परलोक में वैभव आदि पाने के लिए तप, दान, व्रत, ध्यान, ज्ञान आदि नहीं करना चाहिए किन्तु एकान्त निर्जरा के लिए तप, दान, व्रत का पालन करना चाहिए।

आदिपुराण में निर्जरा के उत्कृष्ट साधनों में तप को व्रतों के पालन को श्रेष्ठ साधन बताया गया है। निःस्वार्थ भाव से बिना यश मान कीर्ति से कर्मों की निर्जरा हेतु किया गया तप कर्मों की महान् निर्जरा करता है। आदिपुराण में कई ऐसे तपस्वी साधकों का वर्णन है। जिन्होंने कठिन से कठिन दीर्घ तपस्या जैसे कनकावली, रत्नावली आदि करके अनेक ऋद्धियों, लब्धियों को प्राप्त किया है।

संदर्भ

1. अहंमास्रवो बन्धः संवरो निर्जरा क्षयः।
   कर्मणामिति तत्त्वार्था ध्येयाः सप्त नवाथवा।। – आ.पु. 21.108
2. शुभः पुण्यस्य। – त.सू. 6.3
3. अशुभः पापस्य। – त.सू. 6.4
4. जै.ध.एक.अनु. (डा. रा.मु.) अ.2, पृ. 25
5. आ.पु. 41.105
6. स्था.सू. 9.1.16 (वि.)
7. वही।
8. वही।

9. वही।
10. वही।
11. वही।
12. स्था.सू. 9.1.16 (वि.)
13. वही।
14. वही।
15. स्था.सू. 1.1.50 (वि.)
16. स्था.सू. 1.1.50 (वि.)
17. वही।
18. वही।
19. वही।
20. वही।
21. आ.पु. 10.171, 18.114, 34.172
22. स्था.सू. 1.1.50 (वि.)
23. वही।
24. वही।
25. वही।
26. वही।
27. स्था.सू. 1.1.50 (वि.).
28. वही।
29. वही।
30. वही।
31. वही।
32. वही।
33. वही।
34. स्था.सू. 1.1.50 (वि.)
35. वही।
36. आस्रवं पुण्यपापात्मकर्मणां सह संवरम्। – आ.पु. 11.108
37. मनोवाक् कार्यकर्माणि योगाः कर्मशुभाशुभम्।
यदाश्रवन्ति जन्तूनामाश्रवास्तेन कीर्तिताः।। – यो.श. (च.प्र.) गा. 74
38. कायवाङ्मनः कर्मयोगः स आस्रवः। – त.सू. 6.1-2

39. शुभ:पुण्यस्य, अशुभ: पापस्य। – त.सू. 6.3-4
40. स्था.सू., 5.2.33 (वि.)
41. स्था.सू., 5.2.33 (वि.)
42. मिथ्यात्वमव्रताचार: प्रमादा: सकषायता।
योगा: शुभाशुभजन्तो: कर्मणां बन्धहेत्व:।। – आ.पु. 47.309;
मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाबन्धहेतव:। – त.सू. 8.1
43. अदेवे देवबुद्धिर्या गुरुधीरगुरौ च या।
अधर्मधर्मबुद्धिश्च मिथ्यात्वं तद्विपर्ययात्।। – यो.श. (द्वि.प्र.) गा. 2;
त.सू. 8.1 वि.
44. मिथ्याज्ञानमविद्या स्याद् अतत्त्वे तत्त्वभावना।
आप्तोपज्ञं भवेतत्त्व माप्तौ दोषावृत्ति क्षयात्।
तस्मात्तन्मतमभ्यस्येन्मनोमलमपासितुम्।। – आ.पु. 42.32-33
45. मिथ्यात्वं पञ्चधा। – आ.पु. 47.310
46. यो.श. (द्वि.प्र.) गा. 2
47. त.सू. (के.मु.) 8.1 (वि.)
48. जै.सि.को. (भा.1) पृ. 212
49. जै.द.स्व और वि. –(आ.दे.मु.), पृ. 148
50. मिथ्यात्वं पञ्चधा साष्टशतञ्चाऽविरतिर्मता। – आ.पु. 47.310
51 आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषस्त्रिस्त्रिस्त्रिशचतुश्चैकश:।
– सर्वा.सि. 6.8
52. जै.द. स्व. और वि. (आ.दे.मु.) पृ. 198
53. स्था.सू. 6.28
54. त.सू. (के.मु.) 8.1 वि.
55. वही।
56. त.सू. (के.मु.) 8.1 (वि.)
57. कष्यन्ते प्राणी विविधदु:खैरस्मिन्निति कष: संसार: तस्य आयो लाभो येभ्यस्ते कषाया:।
– जै.द.स्व और वि. (दे.मु.) पृ. 199
58. कषायाश्चतुर्विधा: । – आ.पु. 47.310
59. दु:ख शास्य कर्मक्षेत्रं कृषन्ति फलवत् कुर्वन्तीति।
कषाया: क्रोधमानमायालोभा:। धवला 6.41
60. सुहदुक्ख बहुसस्सं कम्मक्खित्तं कसेइ जीवस्स।
संसारगदी मेरं तेण कसाओतिणं वितिं। पं.सं. प्रा. 1.109
61. त.सू. (के.मु.) 8.1 (वि.);

जै.द.स्व. और विश्ले. – दे.मु., पृ. 29
जै.ध.ए.अनु. – तत्त्वविद्या खण्ड, पृ. 29

62. योगाः पञ्चदश ज्ञेयाः सम्यग्ज्ञानविलोचनैः। – आ.पु. 47.311
63. त.सू (के.मु.) 8.1 वि.
64. वही।
65. वही।
66. जै.द. (न्या. वि. श्री) पृ. 22
67. जै.द. (न्या.वि.श्री) पृ. 22
68. प्र.व्या.सूत्र (पं. श्री हेम.च.) उपोद्० पृ. 7
69. रा.वा. 1.4.11
70. नय चक्र, 156;
(क) आस्रवनिरोधः संवर – त.सू. 9.1 (वि.)
(ख) सर्वेषामास्रवाणां तु निरोधः संवरः स्मृतः। – यो.शा 79
71. स. पुनर्भिधते द्वेधा द्रव्यभावविभेदतः। – यो.श. 79-80
72. (क) भवहेतुक्रियात्यागः स पुर्भाव संवर। – यो.श. 80
(ख) स्था. सू. 1.1.14
(ग) सर्वा. सि. 9.1
(घ) द्र.सं. 2.34
(ङ) पञ्चास्ति.का. 2.142 (अमृतचन्द्र वृत्ति)
73. त.सू. 9.1 (वि.)
74. यः कर्म पुद्गलादानच्छेदः स द्रव्यसंवर। – यो.श. 79-80
75. स्था.सू. 1.1.14 (विवेचनिका)
76. स गुप्तिसमितीधर्मसानुप्रेक्षं क्षमादिकम्।
परीषहांजयन् सम्यक्चारित्रं चाचरच्चिरम्।। – आ.पु. 20.206
स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः। – त.सू. 9.2; स्था.सू. 1.14 (वि.)
77. आ.पु. 4.15.3; 11.65; 18.66; 20.201; 34.195; 36.117; 36.139
78. त.सू. (के.मु.) 9.4 (वि.)।
79. सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः – त.सू. (के.मु.) 9.4; (वि.)
80. आ.पु. 18.66 (टीका); त.सू. (के.मु.) 9.4 (वि.)
81. त.सू. - (के.मु.) 9.4 (वि.)
82. जै.सि.को. - (भा. 4) पृ. 339
83. आ.पु. 11.65 टीका;

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गा समितयः। – त.सू.9.5

84. त.सू. (के.मु.) 9.5 (वि.)
85. वही।
86. वही।
87. वही।
88. त.सू. (के.मु.) 9.5 (वि.)
89. व्रतस्थः समितीर्गुप्ती रादधेऽसौ सभावनाः।
मात्राष्टकमिदं प्राहुः मुनेरिन्द्र सभावनाः।। – आ.पु. 11.65
90. त.सू. (के.मु.) 9.6 (वि.)
91. अहिंसा सत्यवादित्वमचौर्य व्यक्तकामता।
निष्परिग्रहता चेति प्रोक्तो धर्मः सनातनः।। – आ.पु. 5.23
92. धर्मः प्राणिदया सत्यं क्षान्तिः शौचं वितृष्णता।
ज्ञानवैराग्यसंपत्तिरधर्मस्तद्विपर्ययः।। – आ.पु. 10.15
93. धियते धारयत्युच्चैः विनेयान् कुगतेस्ततः। – आ.पु. 47.302
94. उत्तमः क्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः।
– त.सू. 9.6
95. स भेजे मतिमान् क्षान्तिं परं मार्दवमार्जवम्।
शौचं च संयमं सत्यं तपस्त्यागौ च निर्मदः।।
आकिञ्चन्यमथ ब्रह्मचर्यं च वदतां वरः।
धर्मो दशतयोऽयं हि गणेशामभिसम्मतः।। – आ.पु. 11.103-104
96. स्था.सू. 10.9
97. वही।
98. स्था.सू. 10.9
99. त.सू. (के.मु) 9.6 वि.
100. वही।
101. वही।
102. धवला - 7/2, = 1/3.7/3
103. पंच संग्रहः प्राकृत गाथा 127
104. बारस अणुवेक्खा - गाथा सं. 76
105. स्था.सू. – 10.9 (वि.)
106. वही।
107. त.सू. (के.मु.) 9.6

108 वही।

109. त.सू. (के.मु.) 9.7 वि.

110. दशैवकालिक चूर्णि - पृ. 29

111. जै.द. (न्या.वि.श्री.) पृ. 102

112. आ.पु. 11.105-109;
अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुचित्वास्रवसंवर।
निर्जरालोकबोध दुर्लभ धर्म स्वाख्यातत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः। - त.सू. 9.7

113. सोऽनुदध्यावनित्यत्वं सुखायुर्बलसम्पदाम्। - आ.पु. 11.105; त.सू. (के.मु.) 9.7 (वि.)

114. त.सू. (के.मु.) 9.7 (वि.)

115. आ.पु. 11.105

116. त.सू. (के.मु.) 9.7 वि.

117. तथाऽशरणतां मृत्युजराजन्मभये नृणाम्। - आ.पु. 11.105

118. जै.द. (न्या.वि.श्री) पृ. 102

119. त.सू. (के.मु.) 9.7 (वि.)

120. संसृतेर्दुः स्वभावत्वं विचित्रपरिवर्तनैः। - आ.पु. 11.106

121. त.सू. - (के.मु.) 9.7 (वि.); जै.द. (न्या. वि.श्री) पृ. 102-103

122. एकत्वमात्मनो ज्ञानदर्शनात्मत्वमीयुषः। - आ.पु. 11.106

123. त.सू. (के.मु.) 9.7 (वि.)

124. जै.द. (न्या.वि.श्री.) पृ. 106

125. अन्यत्वमात्मनो देहधनबन्धुकलत्रतः। - आ.पु. 11.107

126. जै.द. (न्या.वि.श्री.) पृ. 107; त.सू. - के.मु. 9.7 (वि.)

127. तथाऽशौचं शरीरस्य नवद्वारैर्मलस्त्रुतः। - आ.पु. 11.107

128. त.सू. (के.मु.) 9.7 (वि.)

129. आस्रवं पुण्यपापात्मकर्मणां सह संवरम्। - आ.पु. 11.108

130. त.सू. (के.मु.) 9.7 (वि.) जै.द. (न्या.वि. श्री) पृ. 108

131. आस्रवं पुण्यपापात्मकर्मणां सह संवरम्। - आ.पु. 11.108

132. त.सू. 9.7; जै.द. (न्या.वि.श्री) पृ. 108

133. निर्जरा विपुलां बोधेर्दुर्लभत्वं भवाम्बुधौ। - आ.पु. 11.108

134. आ.पु. 11.108 (टीका)

135. त.सू. (के.मु.) 9.7 (वि.)

136. आ.पु. 11.108 (टीका)

137. जै.द. (न्या.वि.श्री.) पृ. 109

138. त.सू. (सु.ला.सं.) 9.7 (वि.)

139. धर्म स्वाख्याततां चेति तत्वानुध्यानभावनाः। – आ.पु. 11.109

140. जै.द. - (न्या.वि.श्री.) - पृ. 110

141. आ.पु. 1.8; 11.87

142. मार्गा च्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः। – त.सू. (के.मु.) 9.8 (वि.)

143. स.सि. - 9.2.409.8

144. जै.द. (सु.ला.सं.) 9.8 (वि.)

145. जै सि. को. (भाग तृ.) पृ. 36

146. क्षुधं पिपासां शीतं च तथोष्णं दंशमक्षिकम्।
नाग्न्यं तथा रतिं स्त्रैणं चर्याशय्यां निषद्यकाम्।।
आक्रोशं वधयाञ्चे च तथा लाभमदर्शनम्।
रोगं च सतृणस्पर्शप्रज्ञाज्ञाने मलं तथा।।
ससत्कारपुरस्कारमसोढैतान् परीषहान्।
मार्गाच्यवनमाशंसुः महतीं निर्जरामपि।। – आ.पु. 11.100-102

147. क्षुत्पिपासा शीतोष्णदंशमशकनाम्न्यारतिस्त्रीचर्चानिषद्या।
शय्याऽऽक्रोशवधयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कार-
पुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि। – त.सू. 9.9

148. त.सू. (के.मु.) 9.9 (वि.)
क्षुधं पिपासां शीतोष्णं सदंशमशकद्वयम्।
मार्गाच्यवनसंसिद्धयै द्वन्द्वानि सहते स्म सः।। – आ.पु. 36.116

149. वही; त.सू. - (के.मु.) 9.9 (वि.)

150. त.सू. (के.मु.) 9.9 (वि.); आ.पु. 36.116

151. वही।

152. त.सू. (के.मु.) 9.9 (वि.); आ.पु. 36.117

153. वही; आ.पु. 36.118 (टीका)

154. वही;
नास्यासीत् स्त्रीकृता बाधा भोगनिर्वेदमायुषः।
शरीरमशुचिस्त्रैणं पश्यतश्चर्मपुत्रिकाम्।। – आ.पु. 36.119

155. स्थितश्चर्यां निषद्यां च शय्यां चासोढ हेलया।
मनसाऽनभि सन्धित्सन्नुपानच्छयनासनम्।। – आ.पु. 36.120

156. त.सू. - (के.मु.) 9.9 (वि.)

157. आ.पु. 36.120

158. त.सू. - (के.मु.) 9.9 (वि.)

159. आ.पु. 36.120
160. त.सू. - (के.मु.) 9.9 (वि.)
161. स सेहे वधमाक्रोशं परमार्थविदां वरः।
शरीरके स्वयं त्याज्ये निःस्पृहोऽनभिनन्दथुः। – आ.पु. 36.121
162. त.सू. (के.मु.) 9.9 (वि.)
163. आ.पु. 36.121
164. त.सू. (के.मु.) 9.9 (वि.)
165. त.सू. - (के.मु.) 9.9 (वि.)
166. याचित्रियेण नास्येष्टा विष्वाणेन तनुस्थितिः।
तेन वाचंयमो भूत्वा याञ्चाबाधामसोढ सः।। – आ.पु. 36.122
167. त.सू. - (के.मु.) 9.9 (वि.)
168. वही।
169. वही।
170. वही।
171. त.सू. - (के.मु.) 9.9 (वि.)
172. वही।
173. वही।
174. वही।
175. परीषहजयादस्य विपुला निर्जराऽभवत्।
कर्मणां निर्जरोपायः परीषहजयः परः।। – आ.पु. 36.128
176. त.सू. - (के.मु.) 9.18 (वि.)
177. सामायिकच्छेदोपसामीप्यपरिहारविशुद्धि।
सूक्ष्मसम्पराययथाख्यातमिति चारित्रम्।। – त.सू. 9.18; उत्तरा. 28.32–33
178. भ.आ. - वि. 8.41.11
179. उत्तरा. सू. 28.32 (वि.)
180. अप्रतिक्रमणे धर्मे जिनाः सामायिकवह्नये। – आ.पु. 20.171
181. त.सू. (सु.ला.स.) 9.18 (वि.)
182. छेदोपस्थापनाभेद प्रपञ्चोऽन्योन्य योगिनाम्। – आ.पु. 20.172
183. त.सू. 9.8
184. वही।
185. त.सू. - (के.मु.) 9.18 (वि.)
186. यथाख्यातमवाप्योरुचारित्रनिष्कषायकम्। – आ.पु. 47.247

187. त.सू. - (के.मु.) 9.18 (वि.)
188. निर्जीयते निरस्यते यथा निरसनमात्रं वा निर्जरा। निर्जरैव निर्जरा। – रा.वा. 4.12.27
189. सर्व. सि. 1.4.17
190. कर्मणां विपाकतस्तपसा व शाटो निर्जरा। – त.भा.(हरिभद्रीय वृत्ति) 1.4
191. जै.सि.को. - भा. 2 पृ. 357
192. त.सू. (के.मु.) 9.19 वि.
193. स.सि. 9.19 412.11
194. मोक्ष पंचाशत् 48
195. जै.द. (न्या.वि.श्री.) पृ. 159
196. त.सू. - (के.मु.) 9.19-21 (वि.)
197. ततः संयमसिद्धयर्थस तपो द्वादशात्मकम्। – आ.पु. 20.174
198. बाह्यशरीररयपरिशोषणेन कर्मक्षपणहेतुत्वादिति। – समवायांग 6, अभदेववृत्ति
199. त.सू. - (के.मु.) 9.19-21 (वि.)
200. जै.द. - (न्या.वि.श्री.), पृ. 155-156
201. वही
202. जै.द. (न्या.वि.श्री.) - पृ. 157.
203. तपोऽनशनमाद्यंस्याद् द्वितीयमवमोदरम्।
तृतीयं वृत्तिसंख्यानं रसत्यागश्चतुर्थकम्।।
पञ्चमं तनुसंतापो विविक्तशयनासनम्।
षष्ठमित्यस्य बाह्यानि तपांस्यासन् महाधृते।। – आ.पु. 18.67-68
204. अनशनावमौदर्यवृत्तिपसिंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशाः बाह्यं तपः। – त. सू. 9.19
205. आ.पु. 6.142
206. त.सू. - (के.मु.) 9.20 (वि.)
207. वही
208. वही
209. आ.पु. - 7.31, 44
210. अन्तकृत. सू. 8.10 वि.
211. वही, 8.2
212. आ.पु. 7.39
213. अन्तकृत.सू. 8.2 वि.
214. वही, 8.9

215. आ.पु. 7.30
216. अन्तकृत.सू. 8.9 वि.
217. वही
218. आ.पु. 7.23
219. अन्तकृत सू. 8.3 वि.
220. आ.पु. 7.42; 7.77
221. अन्तकृत. सू. 8.6
222. वही आयम्बिल का अर्थ है स्वाद रहित रूक्ष भोजन ग्रहण करना। (टिप्पणी)
223. अन्तकृत सू. 8.10
224. त.सू. - (के.मु.) 9.19 (वि.)
225. वही
226. आ.पु. - 5.142 (टीका) 5.226,, 6.57, 10.118;
227. आ.पु. 5.248
228. जै.सि.को. भा. 4, पृ. 381
229. प्रायोपगमनं कृत्वा धीरः स्वपरगोचरान्।
उपकारानसौ नैच्छत् शरीरेऽनिच्छतां गतः।। (भावार्थ) – आ.पु. 5.234
230. वही
231. ततः कालात्यये धीमान् श्रीप्रभादौ समुन्नते।
प्रायोपवेशनं कृत्वा शरीराहारमत्यजत्।।

रत्नत्रयमयीं शय्यामधिशय्य तपोनिधिः।
प्रायेणोपविशत्यस्मिन्नित्यन्वर्थमापिपत्।।

प्रायेणोपगमो यस्मिन् रत्नत्रितयगोचरः।
प्रायेणापगमो यस्मिन् दुरितारिकदम्बकान्।।

प्रायेणास्माज्जनस्थानादपसृत्य गमोऽटवेः।
प्रायोपगमनं तज्ज्ञैर्निरुक्तं श्रमणोत्तमैः।। – आ.पु. 11.94-97

232. ततः कल्याणि कल्याणं गृहाणोपोषितं व्रतम्।
जिनेन्द्रगुणसंपत्तिं श्रुतज्ञानमपि क्रमात्।।

कृतानां कर्मणामार्ये सहसा परिपाचनम्।
तपोऽनशनमाम्नातं विधियुक्तमुपोषितम्।। – आ.पु. 6.141-142

233. तीर्थकृत्त्वस्य पुण्यस्य कारणानीह षोडश।
कल्याणान्यत्र पञ्चैव प्रातिहार्याष्टकं तथा।।

234. अतिशेषाश्चतुस्त्रिंशदिमानुद्दिश्य सद्गुणान्।
या साऽनुष्ठीयते भव्यैः संपञ्जिनगुणादिका।। (भावार्थ) आ.पु. 6.143-144

235. जै.सि.को. भा. 3, पृ. 235
236. त.सू. 6.24
237. जै.सि.को. भा. 2, 31-32
238. वही
239. प.पु. 3.112-157; ह.पु. 37.1-47; आ.पु. 12.84-195
240. आ.पु. 13.4-216; ह.पु. 38.54, तथा 31.15 (वृत्तान्त), प.पु. 3.158-214
241. आ.पु. 17.46-253; ह.पु. 55.100-129
242. आ.पु. 22-23 सर्ग पूर्ण, प.पु. 4.21.52
243. वही, 47.343-354; ह.पु. 65.1-17
244. उत्तरा सू. वृत्ति - अ. 16, श्लो. 327 पृ. 354.
245. जम्बूद्वीप सं. - अधि. 13, गा. 122-130
246. संस्कृत हिन्दी कोष 'आप्टे' पृ. 19
247. ति.प. 4.896-914
248. ति.पं.-4.896-914;
जम्बूद्वीप. सं. अधि. 13, गा. 93-114
249. आ.पु. 6.146-150
250. उशन्ति ज्ञानसाम्राज्यं विध्योः फलमथैनयोः।
स्वर्गाद्यपि फलं प्राहुरनयोरनुषङ्गजम्।। – आ.पु. 6.151
251. टिप्पणी आ.पु. 7.18
252. त.सू. - (के.मु.) 9.20 (वि.)
253. आ.पु. 20.175
254. त.सू. - (के.मु.) 9.20 (वि.); जै.द.स्व और वि. - (दे.मु.) पृ. 212
255. आ.पु. 20.176
256. त.सू. - (के.मु.) 9.20 (वि.)
257. आ.पु. 20.177
258. त.सू. 9.19 (वि.)
259. आ.पु. 20.178
260. त.सू. 9.19
261. जै.द. (न्या.वि. श्री) पृ. 160
262. आ.पु. 20.178; त.सू. 9.19 वि.
263. यो.श. (हे.च.) 5.91
264. प्रायश्चित्तादिभेदेन षोढैवाभ्यन्तरं तपः। आ.पु. 18.69;

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम्। – त.सू. 9.20

265. आ.पु. 20.190;

प्रायः पापं विनिर्दिष्टं चित्तं तस्य विशोधनम्। – धर्म. सं. 3, अधि;
अपराधो वा प्रायः चित्तं शुद्धिः
प्रायस्-चित्तं-प्रायश्चित्तं-अपराधविशुद्धिः।
– रा.वा. 9.22.1; त.सू. (के.मु.) 9.20 (वि.)

266. आ.पु. 20.191; त.सू. 9.20 (वि.)

267. जै.ध. एक अनु. (डा. रा.मु.) - पृ. 32 (तत्त्वखण्ड); आ.पु. 20.191

268. आ.पु. 20.194, त.सू. (के.मु.) 9.20 वि.

269. जै.द.स्व और वि. - (दे.मु.) - पृ. 217; आ.पु. 20.193

270. त.सू. - (के.मु.) 9.20 (वि.)

271. त.सू. - (के.मु.) 9.20 (वि.)

272. विविक्तेषु वनान्नाद्रिकुञ्जप्रेतवनादिषु।
मुहुर्व्युत्सृष्टकायस्य व्युत्सर्गाख्यमभूत्पः।।
देहाद् विविक्तमात्मानं पश्यन्गुप्तित्रयीं श्रितः।
व्युत्सर्गं स तपो भेजे स्वस्मिन् गात्रेऽपि निस्पृहः।। – आ.पु. 20.200-201;
त.सू. 9.20 वि.

273. गमनाभोजनशयनाध्ययनादिषु क्रियाविशेषेषु अनियमेन
वर्तमानस्य एकस्याः क्रियायाः कर्तृत्वेनावस्थानं निरोध इत्यवगम्यते ...।
– रा.वा. 9.27.5.624.29

274. एकाग्रयेण निरोधो यश्चित्तस्यैकत्र वस्तुनि। – आ.पु. 21.8

275. ध्यानं तु विषये तस्मिन्नेकप्रत्ययसंततिः।
अभि. चिन्ता. को. 1.48

276. चित्तस्सेगग्गया हवइ झाण। – आ.नि. 14.56

277. संहनन का लक्षण - यस्योदयादस्थिबन्धनविशेषो भवति तत्संहनन नाम- जिसके उदय से अस्थियों का बन्धन विशेष होता है वह संहनन नामकर्म है।
– स.सि. 8.11.390.5

संहनन के भेद - जो शरीर संहनन नामकर्म है, वह छह प्रकार का है -

(क) वज्र ऋषभ नाराच शरीर संहनन नामकर्म
(ख) वज्रनाराच शरीर संहनन नामकर्म
(ग) नाराच शरीर संहनन नामकर्म
(घ) अर्धनाराच शरीर संहनन नामकर्म
(ङ) कीलक शरीर संहनन नामकर्म
(च) असंप्राप्त सृपाटिका शरीर संहनन नामकर्म
– ष.खं., आ. 6.1, 9-1 सू. 36-73

हड्डियों के संचय को संहनन कहते हैं, वेष्टन को ऋषभ कहते हैं। व्रज के समान अभेद होने से व्रजऋषभ कहलाता है। व्रज के समान जो नाराज है वह वज्रनाराच कहलाता है। ये दोनों अर्थात् वज्र ऋषभ और व्रजनाराच, जिस वज्र संहनन में होते हैं, वह वज्रऋषभ वज्रनाराच शरीर संहनन है। – ध. 6.1, 9-1, 36, 73-8.

278. स्थिरमध्यवसानं यत्तद्ध्यानं यच्चलाचलम्।
सानुप्रेक्षाथवा चिन्ता भावना चित्तमेव वा।। – आ.पु. 21.9

279. छद्मस्थेषु भवेदेतल्लक्षणं विश्वदृश्वनाम्।
योगास्रवस्य संरोधे ध्यानत्वमुपचर्यते।। – आ.पु. 21.10

280. धीब लायत्तबृत्तित्वाद् ध्यानं तज्ञैर्निरुच्यते।
यथार्थमभिसंधानादपध्या नमतोऽन्यथा।। – आ.पु. 21.11

281. योगो ध्यानं समाधिश्च धीरोधः स्वान्तनिग्रहः।
अन्तः संलीनता चेति तत्पर्यायाः स्मृता बुधैः।। – आ.पु. 21.12

282. ध्यायत्यर्थाननेनेति ध्यानं करणसाधनम्।
ध्यायतीति च कर्तृत्वं वाच्यं स्वातन्त्र्यसंभवात्।। – आ.पु. 21.13

283. यद्यपि ज्ञानपर्यायो ध्यानाख्यो ध्येयगोचरः।
तथाप्येकाग्रसंदृष्टो धत्ते बोधादिवान्यताम्।। – आ.पु. 21.15

284. हर्षामर्षादिवत् सोऽयं चिद्धर्मोऽप्यबबोधितः।
प्रकाशते विभिन्नात्मा कथंचित् स्तिमितात्मकः।। – आ.पु. 21.16

285. आ.पु. 21.27

286. प्रशस्तमप्रशस्तं च ध्यानं संस्मर्यते द्विधा।
शुभाशुभाभिसंधानात् प्रत्येकं तद्द्वयं द्विधा।। – आ.पु. 21.27 (टीका)

287. चतुर्धा तत्खलु ध्यानमित्याप्तैरनुवर्णितम्।
आर्तं रौद्रं च धर्म्यं च शुक्लं चेति विकल्पतः।। – आ.पु. 21.28

288. हेयमाद्यं द्वयं विद्धि दुर्ध्यानं भववर्धनम्।
उत्तरं द्वितयं ध्यानमुपादेयं तु योगिनाम्।। – आ.पु. 21.29

289. ध्यानस्यालम्बनं कृत्स्नं जगत्तत्वं यथास्थितम्।
विनात्मात्मीयसंकल्पादौदासीन्ये निवेशितम्।। – आ.पु. 21.17

290. अथवा ध्येयमध्यात्मतत्त्वंमुक्तेतरात्मकम्।
तत्तत्वचिन्तनं ध्यातुरुपयोगस्य शुद्धये।। – आ.पु. 21.18

291. उपयोगविशुद्धौ च बन्धहेतून् व्युदस्यत्।
संवरो निर्जरा चैव ततो मुक्तिरसंशयम्।।

292. मुमुक्षोर्ध्यातुकामस्य सर्वमालम्बनं जगत्।
यद्यद्यथास्थितं वस्तु तथा तत्तद्वयव स्यतः।। – आ.पु. 21.19-20.

293. शुभाभिसन्धि तो ध्याने स्यादेवं ध्येयकल्पना।
प्रीत्यप्रीत्यभिसंधानाद सद्ध्याने विपर्ययः।। – आ.पु. 21.22

294. संकल्पवशगो मूढो वस्त्विष्टानिष्टतां नयेत्।
रागद्वेषौ तत स्ताभ्यां बन्धं दुर्मोचमश्नुते।। – आ.पु. 21.24

295. संकल्पो मानसी वृत्तिर्विषयेष्वनुतर्षिणी।
सैव दुष्प्रणिधानं त्यादपध्यानमतो विदुः।। – आ.पु. 21.25

296. तरमादाशयशुद्धयर्थमिष्टा तत्त्वार्थभावना।
ज्ञानशुद्धिरतस्तस्यां ध्यानशुद्धिरुदाहृता।। – आ.पु. 21-26

297. ऋते भवभथार्तं स्याद् ध्यानमाद्यं चतुर्विधम्।
इष्टानवाप्त्यनिष्टाप्ति निदानासात हेतुकम्।। – आ.पु. 21.31 (टीका)

298. विप्रयोगे मनोज्ञस्य तत्संयोगानुतर्षणम्।
अमनोज्ञार्थसंयोगे तद्धियोगानुचिन्तनम्।। – आ.पु. 21.32 (टीका)

299. निदानं भोगकाङ्क्षोत्थं संक्लिष्टस्यान्यभोगतः।
स्मृत्यन्वाहरणं चैव वेदनार्त्तस्य तत्क्षये।। – आ.पु. 21.33 (टीका)

300. आ.पु. - 21.36-37

301. प्रमादाधिष्ठितं तत्तु षड्गुणस्थानसंश्रितम्।। – आ.पु. 21.37

302. आ.पु. - 21.38 (टीका);
(लेश्या शब्द "लिश्" धातु से बना है। लिश् का अर्थ है – चिपकना, संबद्ध होना अर्थात जिसके कर्म आत्मा के साथ चिपकते हैं, बंधते हैं, उसे लेश्या कहते हैं। – नि.प्र. 12.1

303. सोऽत्यन्तविषयासक्तिकृतकौटिल्यचेष्टितः।
बबन्ध तीव्रसंक्लेशात् तिरश्चामायुरार्त्तधीः।। – आ.पु. 5.120

304. क्षायोपशमिकोऽस्य स्याद् भावस्तिर्यग्गतिः फलम्।
तस्माद् दुर्ध्यानमार्ताख्यं हेयं श्रेयोऽर्थिनामिदम्।। – आ.पु. 21.39

305. मूर्च्छा कौशील्यकैनाश्च कौसीद्यान्यतिगृध्नुता।
भयोद्वे गानुशोकश्च लिङ्गान्यार्तस्मृतानि वै।। – आ.पु. 21.40

306. बाह्यं च लिङ्गमार्तस्य गात्रग्ला निर्विवर्णता।
हस्तन्यस्तकपोलत्वं साश्रुतान्यच्च तादृशम्।। – आ.पु. 21.41

307. प्राणिनां रोदनाद् रुद्रः क्रूरः सत्त्वेषु निर्घृणः।
पुमांस्तत्र भवं रौद्रं विद्धि ध्यानं चतुर्विधम्।। – आ.पु. 21.42; 9.29 (वि.)

308. हिंसा नृतस्तेया विषयसंरक्षणेऽभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः। – त.सू. 9.36 वि.

309. वधबन्धाभि संधानमङ्गच्छेदोपतापने।
दण्ड पारुष्यमित्यादिहिंसानन्दः स्मृतो बुधैः।। – आ.पु. 21.45

310. मृषानन्दो मृषावादैरति सन्धानचिन्तनम्।
वाक् पारुष्यादिलिङ्गं तद् द्वितीयं रौद्रमिष्यते।। – आ.पु. 21.50

311. स्तेयानन्दः परद्रव्यहरणे स्मृतियोजनम्। – आ.पु. 21.51

312. भवेत् संरक्षणानन्दः स्मृतिरर्थार्जनादिषु।। – आ.पु. 21.51

313. बाह्यं तु लिङ्गमस्याहुर्भ्रूभङ्गं मुखविक्रियाम्।
प्रस्वेदमङ्गकं पञ्च नेत्रयोश्चातिताम्रताम्।। – आ.पु. 21.53

314. हिंसानन्दमृषानन्दस्तेयसंरक्षणात्मकम्।
षष्ठात्तु तद्गुणस्थानात् प्राक् पञ्चगुणभूमिकम्।।
प्रकृष्टतरदुर्लेश्यात्रयोपोद्बलवृंहितम्।
अन्तर्मुहूर्तकालोत्थं पूर्ववद्भाव इष्यते।। – आ.पु. 21.43-44

315. अनानृशंस्यं हिंसोपकरणादानतत्कथाः।
निसर्गहिंस्रता चेति लिङ्गान्यस्य स्मृतानि वै।। – आ.पु. 21.49

316. पुरा किलारविन्दाख्यः प्रख्यातः खचराधिपः।
रुधिरस्नानरौद्राभिसंधिः श्वाभ्रीं विवेश सः।। – आ.पु. 21.48; 5.92

317. नारकं दुःखमस्याहुः फलं रौद्रस्य दुस्तरम्। – आ.पु. 21.52

318. हिंसानन्दं समाधाय हिंस्रः प्राणिषु निर्घृणः।
हिनस्त्यात्मानमेव प्राक् पश्चाद् हन्यान्न वा परान्।। – आ.पु. 21.46 (टीका)

319. सिक्थमत्स्यः किलैकोऽसौ स्वयम्भूरमणाम्बुधौ।
महामत्स्यसमान्दोषानवाप स्मृतिदोषतः।। – आ.पु. 21.47 (टीका)

320. प्रयत्नेन विनैवैतदसद्ध्या नद्वयं भवेत्।
अनादिवासनोद्भूतमतस्तद्विसृजेन्मुनिः।। – आ.पु. 21.54 (टीका)

321. तत्रानपेतं यद्धर्मात्तद्ध्यानं धर्म्यमिष्यते।
धर्म्यो हि वस्तु याथात्म्यमुत्पादादि त्रयात्मकम्।। – आ.पु. 21.133

322. आ.पु. 21-133 (टीका)

323. त.सू. 9.29 वि.

324. तदाज्ञापायसंस्थानविपाकविचयात्मकम्।
चतुर्विकल्पमाम्नातं ध्यानमाम्नायवेदिभिः।। – आ.पु. 21.134; (वि.)
आज्ञज्ञपायविपाकसंस्थानविचयायधर्ममप्रमत्तसंयतस्य। –त.सू. 9.37 (वि.)

325. तत्राज्ञेत्यागमः सूक्ष्मविषयः प्रणिगद्यते।
दृश्यानुमेयवर्ज्ये हि श्रद्धेयांशे गतिः श्रुतेः।। – आ.पु. 21.135-140

326. त.सू. 9.37 (वि.)

327. तापत्रयादिजन्माबिधगतापायविचिन्तनम्। – आ.पु. 21.141

328. त.सू. 9.37 (वि.)

329. शुभाशुभविभक्तानां कर्मणां परिपाकतः।
भवावर्तस्य वैचित्र्यमभि संदधतो मुनेः।। – आ.पु. 21.143-147

330. त.सू. 9.37 (वि.)

331. संस्थानविचयं प्राहुर्लोकाकारानुचिन्तनम्।

तदन्तर्भूत जीवादितत्त्वान् वीक्षणलक्षितम्।। – आ.पु. 21.148; त.सू. 9.37

332. उपशान्तक्षीणकषाययोश्च। – त.सू. 9.38

333. द्वीपाब्धिवलयानद्रीन् सरितश्च सरांसि च।
विमानभवनव्यन्तरावासनरकक्षिती:।।

त्रिजत्सन्निवेशे न सममेतान्यथागमम्।
भावान् मुनिरनुध्यायेत् संस्थानविचयोपग:।।

जीवभेदांश्च तत्रत्यान् ध्यायेन्मुक्तेतरात्मकान्।
ज्ञत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वद्रष्टृत्वादींश्च तद्गुणान्।। – आ.पु. 21.149-151

334. तदप्रमत्ततालम्बं स्थितिमान्तर्मुहूर्तिकीम्।
दधानमप्रमत्तेषु परां कोटिमधिष्ठितम्।।

सद्दृष्टिषु यथाम्नायं शेषेष्वपि कृतस्थिति।
प्रकृष्टशुद्धिमल्लेश्यात्रयोपोद्बल वृंहितम्।। – आ.पु. 21.155-156; 157-158

335. प्रसन्नचित्तता धर्मसंवेग: शुभयोगता।
सुश्रुतत्वं समाधानमाज्ञाधिगमजा रुचि:।।

भवन्त्येतानि लिङ्गानि धर्मस्यान्तर्गतानि वै।
सानुप्रेक्षाश्च पूर्वोक्ता विविधा: शुभभावना:।। – आ.पु. 21.159-160

336. आ.पु. 5.140-143

337. स्वर्गापवर्गसंप्राप्तिं फलमस्य प्रचक्षते।
साक्षात्स्वर्गपरिप्राप्ति: पारम्पर्यात् परंपदम्।। – आ.पु. 21.163

338. कषायमल विश्लेषात् शुक्लशब्दाभिधेयताम्।
उपेयिवदिदं ध्यानं सान्तर्भेदं निबोध मे।। – आ.पु. 21.166

339. शुक्लं परमं शुक्लं चेत्याम्नाये तद्द्विधोदितम्।
छद्मस्थस्वामिकं पूर्वं परं केवलिनां मतम्।। – आ.पु. 21.167

340. द्वेधाद्यं स्यात् पृथक्त्वादि वीचारान्तवितर्कणम्।
तथैकत्वाद्यवीचार पदान्तं च वितर्कणम्।। – आ.पु. 21.168

341. पृथकत्वेन वितर्कस्य वीचारो यत्र तद्विदु:।
सवितर्क सवीचारं पृथक्त्वादिपदाह्वयम्।। – आ.पु. 21.170

342. एकत्वेन वितर्कस्य स्याद् यत्राविचरिष्णुता।
सवितर्कमवीचारमेकत्वादि पदाभिधाम्।। – आ.पु. 21.171; 21.172-173

343. त.सू. (के.मु.) 9.41 (वि.)

344. आ.पु. 21.184-186

345. आ.पु. 5.146-153

346. स्नातक: कर्मवैकल्यात् कैवल्यं पदमापिवान्।
स्वामी परमशुक्लस्य द्विधा भेदमुपेयुष:।

स हि योगनिरोधार्थमुद्यतः केवली जिनः।
समुद्घातविधिं पूर्वमावि:कुर्यान्निसर्गतः।। – आ.पु. 21.188-189

347. आ.पु. 21.190-193.

348. ता.सू. (के.मु.) 10.3 वि.

349. पुनरन्तर्मुहूर्त्तेन निरुन्धन् योगमास्रवम्।
कृत्वा वाङ्मनसे सूक्ष्मे काययोगव्यपाश्रयात्।।

सूक्ष्मीकृत्य पुनः काययोगं च तदुपाश्रयम्।
ध्यायेत् सूक्ष्मक्रियं ध्यानं प्रतिपातपराङ्मुखम्।। – आ.पु. 21.194-195

350. ततो निरुद्धयोगः सन्नयोगी विगतास्रवः। त.सू. (के.मु.) 9.41.46 वि.
समुच्छिन्नक्रियं ध्यानमनिवर्ति तदा भजेत्।। – आ.पु. 21.196

351. त.सू. 9.41-46 वि. आ.पु. 21-197

352. आ.पु. 21.57-59

353. आ.पु. 21.60-64

354. आ.पु. 21.65-66

355. आ.पु. 21.69-74

356. आ.पु. 21.75-87

357. आ.पु. 21.231-232

358. आ.पु. 21.233

359. वही, 21.234

360. वही, 21.235-236

361. जै.सि.को. (भा.-1) पृ. 475

362. आ.पु. 1.121; 2.9

363. जै.सि.को. (भा.1), पृ. 478

364. जै.सि.को. (भा.1), पृ. 478

365. कोष्ठबुद्धे नमस्तुभ्यं नमस्ते बीजबुद्धये।
पदानुसारिन् संभिन्नश्रोतस्तुभ्यं नमो नमः।। – आ.पु. 2.67; टीका 11.80

366. वही

367. जै.सि.को. (भा.1), पृ. 479

368. आ.पु. 2.67 (टीका)

369. वही।

369A. आ.पु. 2.67 (टीका)

370. ति.प. 4.984-986

371. जै.सि.को. (भा. 1), पृ. 479

372. कर्मक्षयार्थं तप्यत इति तपः।। – स.सि. 9.6.412.11

373. स दीप्त तपसा दीप्तो भेजे (भ्रेजे) तप्ततपाः परम्।
तेपो तपोऽग्रयमुग्रं च घोरांघो (होऽ) रातिमर्मभित्।। – आ.पु. 11.82; ति.प. 4.1052

374. ति.प. 4.1052, आ.पु. 11.82 (टीका)

375. आ.पु. 11.82 (टीका); ति.प. 4.1052-1054

376. ति.प. 4.1053

377. आ.पु. 11.82 (टीका)

378. आ.पु. 11.82 (टीका)

379. ति.प. 4.1050

380. जै.सि.को. (भा. 1) 483

381. जै.सि.को. - (भा. 1) पृ. 477-482

382. वही

383. भजन्त्येकाकिनो नित्यं वीतसंसारभीतयः।
प्रवृद्धनरवरा धीरा यं सिंहा इव चारणाः।। – आ.पु. 4.90

384. जल जङ्घा फल श्रेणी तन्तुपुष्पाम्बर श्रयात्।
चारणर्द्धिजुषे तुभ्यं नमोऽक्षीणमहर्द्धये।। – आ.पु. 2.73

385. आ.पु. 2.73 (टीका); ति.पं. 4.1036

386. आ.पु. 2.73 (टीका); ति.प. 4.1037

387. आ.पु. 2.73 (टीका)

388. वही।

389. वही।

390. वही, 2.73 (टीका)

391. वही।

392. ति.प. 4.1041.

393. ति.प. 4.1042

394. ति.प. 4.1043

395. ति.प. 4.1044

396. ति.प. 4.1045

397. ति.प. 4.1046

398. ति.प. 4.1047

399. जै.सि.को., (भा. 1) पृ. 483
400. जै.सि.को. (भा. 1), पृ. 482
401. नमस्ते विक्रियर्द्धीनामष्टधा सिद्धिमीयुषे। – आ.पु. 2.71 (टीका)
402. आ.पु. 2.71 (टीका)
403. ति.प. 4.1026
404. आ.पु. 2.71 (टीका)
405. जै.सि.को., (भा. 1) 480
406. आ.पु. 2.71 (टीका)
407. वही। आ. पु.
408. ति.प. 4.1028
409. आ.पु. 2.71 (टीका)
410. वही
411. जै.सि.को., (भा. 1) पृ. 480-481
412. जै.सि.को., (भा. 1) पृ. 481
413. आमर्ष क्ष्वेलवाग्वि प्रुड्जल्लसर्वौषधे नमः। – आ.पु. 2.71; ति.प., 4.1067
414. आ.पु. 2.71 (टीका)
415. ति.प. 4.1069.1072
416. आ.पु. 2.71 (टीका)
417. आ.पु. 2.71 (टीका)
418. वही।
419. आ.पु. 2.71 (टीका)
420. ति.प. 4.1073; आ.पु. 2.71 (टीका)
421. ति.प. 4.1074; आ.पु. 2.71 (टीका)
422. ति.प. 4.1075
423. रा.वा. 3, 36, 3.203.30
424. ति.प. 4.1076
425. रस त्याग प्रतिज्ञस्य रससिद्धिरभून्मुनेः।
सूते निवृत्तिरिष्टार्थादधिकं हि महत् फलम्।। – आ.पु. 11.86
426. नमोऽमृतमधुक्षीर सर्पिरास्त्रविणेऽस्तु ते। – आ.पु. 2.72
427. आ.पु. 2.72 (टीका); ति.प. 4.1084
428. ति.प. 4.1084; आ.पु. 2.72 (टीका)

429. आ.पु. 2.72 (टीका); ति.पु. 4.108

430. ति.प. 4.1083; आ.पु. 2.72 (टीका)

431. ति.प. 4.1080-1081; आ.पु. 2.72 (टीका)

432. आ.पु. 2.72 (टीका); ति.पु. 4.1081-1082

433. ति.प. 4.1086-1087; आ.पु. 2.72

434. स बलर्द्धिर्बलांधानादसोढोग्रान् परीषहान्। अन्यथा तादृशं द्वन्द्वं कः सहेत सुदुस्सहम्।।
– आ.पु. 11.87

435. नमो मनोवचः काय बलिनां ते बलीयसे। – आ.पु. 2.72

436. आ.पु. 2.72 (टीका)

437. जै.सि.को. (भा. 1) पृ. 485

438. ति.प. 4.1061-1062; आ.पु. 2.72 (टीका)

439. जै.सि.को., भा.1 पृ.485

440. आ.पु. 2.72 (टीका)

441. ति.प. 4.1065-1066

442. जै.सि.को., भा.1 पृ. 485

443. क्षेत्रं निवासो वर्तमानकालविषयः। – स.सि. 1.8.39.7

444. जै.सि.को., भा.1 पृ. 478

445. ति.प. 4.1088

446. आ.पु. 2.72 (टीका)

447. ति.प. 4.1089-1091.

448. का चेद्दानस्य संशुद्धि श्रृणु भी भरताधिप।
अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानं त्रिशुद्धिकम्।। – आ.पु. 20.135

449. परानुग्रहबुद्ध्या स्वस्यातिसर्जनं दानम्। जै.सि.को., (भा 2) पृ. 421

450. वही

451. अनुग्रहार्थं स्वस्याति सर्गोदानम्। – त.सू. 7.33.

452. त.सू. (के.मु.) 7.34 (वि.)

453. पात्रं तत्पात्र वज्ज्ञेयं विशुद्धगुणधारणात्।
यानपात्रमिवाभीष्टदेशे संप्रापकं च यत्।। – आ.पु. 20.144

454. ततः परमनिर्वाणसाधनं रूपमुद्वहन्।
कायस्थित्यर्थमाहारमिच्छन् ज्ञानादिसिद्धये।।
न वाञ्छन् बलमायुर्वा स्वादं वा देहपोषणम्।
केवलं प्राणधृत्यर्थं संतुष्टो ग्रासमात्रया।।

पात्रं भवेद् गुणैरेभिर्मुनिः स्वपरतारकः।
तस्मै दत्तं पुना तृन्यन्नमपुनर्जन्मकारणम्।। – आ.पु. 20.146-148

455. जै.सि.को. (भा. 2), पृ. 420

456. वही

457. आ.पु. 20.138;
आहारोषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन।
वैयावृत्यं ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्राः।। – रत्न. श्रा. 117

458. जै.सि.को., (भाग 2) पृ. 421

459. त.सू. 7.34 (वि.) – आ.पु. 20.99

460. दातुराहारदानस्य महानिस्तारकात्मने। त्रिजगत्सर्वभूतानां हितार्थ मार्गदेशिने।।
श्रेयान् सोमप्रभेणामा लक्ष्मीमत्या च सादरम्। रस मिक्षोरदात् प्रासुमुत्तानीकृतपाणये।।
– आ.पु. 20.99-100-105 तक

461. जै.सि.को. (भा. 2), पृ. 421-422

462. वही।

463. जै.सि.को. (भा. 2), पृ. 422

464. संयमक्रियया सर्वप्राणिभ्योऽभयदायिने। – आ.पु. 20.98

465. कुदृष्टिर्यो विशीलश्च नैव पात्रमसौ मतः।
कुमानुषत्वमाप्नोति जन्तुर्ददपात्रके।
अशोधितमिवालाबु तद्धि दानं प्रदूषयेत्।।
आमपात्रे यथाक्षिप्तं मङ्क्षु क्षीरादि नश्यति।
अपात्रेऽपि तथा दत्तं तद्धि स्वं तञ्च नाशयेत्।। – आ.पु. 20.141-143

466. न हि लोहमयं यानपात्रमुत्तारयेत् परम्।
तथा कर्मभराक्रान्तो दोषवान्नैव तारकः।। – आ.पु. 20.145

467. श्रद्धादिगुणसम्पन्नः पुण्यैर्नवभिरन्वितः।
प्रादाद्भगवते दानं श्रेयान् दानादि तीर्थकृत। – आ.पु. 20.81

468. श्रद्धा शक्तिश्च भक्तिश्च विज्ञानं चाप्यलुब्धता।
क्षमा त्यागश्च सप्तैते प्रोक्ता दानपतेर्गुणाः।। – आ.पु. 20.82

469. श्रद्धास्तिक्यमनास्तिक्ये प्रदाने स्यादनादरः
भवेच्छक्तिरनालस्यं भक्तिः स्यात्तद्गुणादरः।
विज्ञानं स्यात् क्रमज्ञत्वं देयासक्तिरलुब्धता
क्षमा तितिक्षा ददतस्त्यागः सद्व्ययशीलता।। – आ.पु. 20.83-84

470. इति सप्तगुणोपेतो दाता स्यात् पात्रसंपदि।
व्यपेतश्च निदानादेर्दोषान्निश्रेयसोद्यतः। – आ.पु. 20.85

471. प्रतिग्रहणमत्युच्चैः स्थानेऽस्य विनिवेशनम्।
पादप्रधावनं चार्चा नतिः शुद्धिश्चसा त्रयी।।
विशुद्धिश्चा शनस्येति नवपुण्यानि दानिनाम्।
स तानि कुशलो भेजे पूर्वं संस्कारचोदितः।। – आ.पु. 20.86-87

472. अहो श्रेय इति श्रेयस्तच्छ्रेयश्चेत्यभूत्तदा।
श्रेयो यशोमयं विश्वं सद्दानं हि यशः प्रदम्।। – आ.पु. 20.122

473. तदादि तदुपज्ञं तद्दानं जगति पप्रथे।
ततो विस्मयमासेदुः भरताद्या नरेश्वराः।। – आ.पु. 20.123

474. जै.सि.को. (भा. 2), पृ. 423

475. वही।

476 दानाद् दानानुमोदाद् वा यत्र पात्र समाश्रितात्।
प्राणिनः सुखमेधन्ते यावज्जीवमनामयाः।। – आ.पु. 9.85

477. नृपदानानुमोदेन कुरुष्वार्यास्ततोऽभवन्।
कालान्ते ते ततो गत्वा श्रीमदैशानकल्पजाः।। – आ.पु. 8.212

478. पात्रदानात्त पुण्येन बद्धोदक्कुरूजायुषौ।
क्षणात् कुरुन् समासाद्य तत्र तौ जन्म भेजतुः।।
जम्बूद्वीपमहामेरोरुत्तरां दिशमाश्रिताः।
सन्त्युदक्कुरवो नाम स्वर्गश्रीपरिहासिनः।। – आ.पु. 9.33-34

479. आ.पु. 8.35-36

480. शङ्कितामिहृतो दिदृष्ट क्रयक्रीतादि लक्षणम्।
सूत्रे निषिद्धमाहारं नैच्छन्प्राणात्ययेऽपि ते।।
भिक्षां नियतवेलायां गृहपङक्त्यनतिक्रमात्।
शुद्धामाददिरे धीरा मुनिवृतौ समाहिताः।। – आ.पु. 34.199-200

481. शीतमुष्णं विरूक्षं च स्निग्धं सलवणं न वा।
तनुस्थित्यर्थमाहारमाजहुस्ते गतस्पृहाः।।
अक्षम्रक्षणमात्रं ते प्राणधृत्यै विषष्वणुः।
धर्मार्थमेव च प्राणान् धारयन्ति स्म केवलम्।। – आ.पु. 34.201-202

482. न तुष्यन्ति स्म ते लब्धौ व्यषीदन्नाप्य लब्धितः।
मन्यमानास्तपोलाभमधिकं धृतकल्मषाः।।
स्तुति-निन्दां सुखं-दुखं तथा मानं विमाननाम्।
समभावेन तेऽपश्यन् सर्वत्र समदर्शिनः।। – आ.पु. 34.203-204

483. वाचंयमत्वमास्थायचरन्तो गोचरार्थिनः।
निर्यान्ति स्माप्यलाभेनलाभानाञ्जन् मौनसङ्गरम्।।
महोपवासम्लानाङ्गा यतन्ते स्म तनुस्थितौ।
तत्राप्यशुद्धमाहारं नैषिषुर्मनसाऽप्यमी।। – आ.पु. 34.205-206

484. गोचराग्रगता योग्यं भुक्त्वान्नमविलम्बितम्।
प्रत्याख्याय पुनर्वीरा निर्ययुस्ते तपोवनम्।।
तपस्तापतनु भूततनवोऽपि मुनीश्वराः।
अनुबद्धात्तपो योगान्न चेलुर्द्धढसङ्गराः।। – आ.पु. 34.207-208

485. वार्ता विशुद्धवृत्त्या स्यात् कृष्यादीनामनुष्ठितिः।
चतुर्धा वर्णिता दत्तिः दर्यापात्रसमान्वयैः।। – आ.पु. 38.35

486. सानुकम्पमनुग्राह्ये प्राणिवृन्देऽभयप्रदा।
त्रिशुद्धयनुगता सेयं दयादत्तिर्मता बुधैः।। – आ.पु. 38.36

487. महातपोधनायार्चाप्रतिग्रहपुरःसरम्।
प्रदानमशनादीनांपात्र दानं तदिष्यते।। – आ.पु. 38.37

488. समानायात्मनाऽन्यस्मै क्रियामन्त्रव्रतादिभिः।
निस्तारकोत्तमायेह भूहेमाद्यतिसर्जनम्।। – आ.पु. 38.38

489. समानदत्तिरेषा स्यात् पात्रे मध्यमतामिते।
समानप्रतिपत्त्यैव प्रवृत्ता श्रद्धयाऽन्विता।। – आ.पु. 38.39

490. दे. (आप्टे) संस्कृत हिन्दी कोष, पृ. 993

491. सावद्यविरतिं कृत्स्नामूरीकृत्य प्रबुद्धधीः।
तद्भेदान् पालयामासव्रतसंज्ञाविशेषिताम्।। – आ.पु. 20.158

492. हिंसाऽनृत्स्तेया ऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्। – त.सू. 7.1

493. व्रतमभिसंधिकृतो नियमः, इदं कर्त्तव्यमिदं न कर्त्तव्यमिति वा। – स.सि. 7.1.342.6
सर्वनिवृत्तिपरिणामः। – प.प्र. 2.52.172.5 (टी)

494. संकल्पपूर्वकः सेव्ये नियमों शुभकर्मणः।
निवृत्तिर्वा व्रतं स्याद्वा प्रवृत्तिः शुभकर्मणे।। – सा.ध.2.80

495. उपा.सू. 26-316.

496. महच्चाणु च दोषाणां कृत्स्नदेशनिवृत्तितः। – आ.पु. 39.3

497. जै.सि.को. - (भा. 3) पृ. 633

498. स्था. सू. 2.1.107; त. सू. 7.14

499. व्रता बिष्करणं दीक्षा द्विद्याम्नातं च तद्व्रतम्। – आ.पु. 39.3

500. देशसर्वतोऽणुमहती। – त.सू. 7.2

501. महाव्रतं भवेत् कृत्स्नहिंसाद्यागोविवर्जितम्। – आ.पु. 39.4

502. त.सू. (के.मु.) 7.2 (टीका)

503. वही।

504. विरतिः स्थूलहिंसादिदोषेभ्योऽणुव्रतं मतम्। – आ.पु. 39.4

505. वही।

506. त.सू. - (के.मु.) 7.2 (टीका)

507. स्था. सू. 5.1.1;

दयाङ्गनापरिष्वङ्गः सत्ये नित्यानुरक्तता।
अस्तेयव्रततात्पर्य ब्रह्मचर्यैकतानता।।
परिग्रहेष्वना संगो विकाला शनवर्जनम्।। – आ.पु. 20.159-160

508. स्था.सू. 5.1.1 (वि.)

509. वही।

510. वही।

511. वही।

512. स्था. सू. 5.1.1 (वि.)

513. तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पंच पंच। – त.सू. 7.3;

मनोगुप्तिर्वचोगुप्तिरीर्या कायनियन्त्रणे।
विष्वाणसमितिश्चेति प्रथमव्रतभावनाः।। – आ.पु. 20.161

514. त.सू. (के.मु.) 7.3 (वि.)

515. त.सू. (के.मु.) 9.5 (वि.)

516. त.सू. (के.मु.) 7.3 वि.

517. वही।

518. वही।

519. क्रोधलोभभयत्यागा हास्यासंग विसर्जनम्।
सूत्रानुगा च वाणीति द्वितीयव्रतभावनाः।। – आ.पु. 20.162

520. त.सू. (के.मु.) 7.3 (वि.)

521. वही।

522. मितोचिताभ्यनुज्ञातग्रहणान्यग्रहोऽन्यथा।
संतोषो भक्तपाने च तृतीयव्रतभावनाः।। – आ.पु. 20.163

523. स्त्री कथालोकसंसर्गप्राग्रतस्मृतयोजनाः।
वर्ज्या वृष्यरसेनामा चतुर्थव्रतभावनाः।। – आ.पु. 20.164

524. त.सू. (के.मु.) 7.3 (वि.)

525. वही।

526. त.सू. (के.मु.) 7.3 (वि.)

527. वही।

528. वही।

529. बाह्याभ्यन्तरभेदेषु सचिताचित्वस्तुपु।
इन्द्रियार्थेष्वना संगो नैस्संग्यव्रतभावनाः।। – आ.पु. 20.165

530. त.सू. (के.मु.) 7.3 (वि.)

531. वही

532. धृतिमत्ता क्षमावत्ता ध्यानयोगैकतानता।
परीषहैरभङ्गश्च व्रतानां भावनोत्तरा।। – आ.पु. 20.166

533. जै.द. (न्या.वि.श्री), पृ. 50.

534. पञ्चैवाणुव्रतान्येषां त्रिविधं च गुणव्रतम्।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि व्रतान्याहुर्गृहाश्रमे।। – आ.पु. 10.162

535. स्थूलात् प्राणातिपाताच्च मृषावादाञ्च चौर्यतः।
परस्त्रीसेवनातृष्णा प्रकर्षाच्च निवृत्तयः।। – अ.पु. 10.163

536. दिग्देशानर्थदण्डेभ्यो विरतिः स्याद्गुणव्रतम्।
भोगोपभोगसंख्यानमप्याहुस्तद्गुणव्रतम्।। – आ.पु. 10.165

537. समतां प्रोषधविधिं तथैवातिथिसंग्रहम्।
मरणान्ते च संन्यासं प्राहुः शिक्षाव्रतान्यपि।। – आ.पु. 10.166

538. स्था.सू. 5.1.1

539. आप्टे संस्कृत हिन्दी कोष पृ. 15

540. आ.पु. 10.163

541. त.सू. (के.मु.) 7.15 (वि.)

542. पंचधाऽणुव्रतं राज्यभक्तिः षष्ठमणुव्रतं चारित्र सा. 13.3

543. रतन. क. श्रा. 67. सवार्थ सि. - 7.1

544. आ.पु. 10.165

545. जै.द. (न्या. वि.श्री) पृ. 64

546. त.सू. (के.मु.) 7.16 (वि.)

547. जै.द. (न्या.वि.श्री.) पृ. 66

548. वि.सू. (ज्ञा. मु.,) द्वि श्रुतस्कन्ध। पृ. 591

549. आ.पु. 20.162

550. त.सू. (के.मु.) 7.16 (वि.)

551. वही।

552. त.सू. (के.मु.) 7.16 (वि.)

553. स.सि. 7.21.362.

554. त.सू. (के.मु.) 7.16 (वि.)

555. उपा.सू. (आ.आ.रा.जी.) पृ. 68 प्रस्ता.।

556. स्था.टी. (अभय सूरि टीका) पृ. 61

557. सद्दर्शनं व्रतोद्योतं समतां प्रोषधव्रतम्।
सचितसेवाविरतिमह:स्त्रीसंगवर्जनम्।।
ब्रह्मचर्यमथारम्भपरिग्रहपरिच्युतिम्।
तत्रानुमननत्यागं स्वोद्दिष्टपरिवर्जनम्।।
स्थानानि गृहिणां प्राहुरेका दशगणाधिपा:।
स तेषु पश्चिमं स्थानमाससाद क्रमान्नृप:।। – आ.पु. 10.159-181

558. उपा.सू. 1.67 (टी.)

559. जै.सि.को. भा. 2, पृ. 416

560. च.सा. पृ. 5

561. सु.र.सं. श्लोक सं. 14

562. रत्न श्रा. श्लोक सं. 138

563. वसु.श्रा.गा. 276-278; दशा.सू., 6 दशा

564. रत्न.श्रा. श्लोक 140; उपा.सू. 1.68 टी.

565. सर्वा. सि. 7.35.371.6

566. द.सं. 45.195.5

567. रत्न.श्री. 7.8 श्लोक 143

568. वसु.श्री. गा. 297; द्र.सं. 45.8 (टीका)

569. उपा.सू. 1.68 टी.

570. रत्न.श्रा. श्लोक-144

571. वसु.श्रा. गा.-298

572. रत्न.श्रा. श्लोक-145

573. वसु.श्रा.गा. 299

574. रत्न.श्रा. श्लोक 146; दशा.सू. 6

575. प.पु. 4.91.97

576. अमित.श्रा.; अधि. 7.77.

षष्ठ अध्याय

आदिपुराण में ईश्वर सम्बन्धी विभिन्न धारणायें और रत्नत्रय विमर्श

ईश्वर सृष्टिकर्ता नहीं

उपर्युक्त आठ तत्त्वों की मीमांसा से यह स्पष्ट हो गया कि सृष्टि निर्माण में किसी अन्य तत्त्व (ईश्वर आदि) अथवा शक्ति का योगदान रहता हो – यह बात परिलक्षित नहीं होती। क्योंकि जीवादि पदार्थों के निवास करने के लिए इस लोक को ईश्वर ने नहीं बनाया। यह लोक अकृत्रिम है, नित्य है – हमेशा रहने वाला है। यह लोक आकाश के ठीक मध्य-भाग में स्थित है। कई लोगों का विचार है कि लोक को बनाने वाला कोई अवश्य है। अगर बनाने वाला है तो सृष्टि बनाने से पहले वह कहाँ रहता था। किस स्थान पर सृष्टि की रचना की। यदि माने आधाररहित और नित्य है तो उसने सृष्टि को कैसे बनाया और बनाकर किस स्थान पर रखा।[1]

दूसरी बात यह है कि ईश्वर एक है, शरीर रहित है तो एक ईश्वर अनेक रूपों वाले संसार की रचना करने में समर्थ नहीं हो सकता तथा शरीररहित अमूर्तिक से मूर्ति वस्तुओं की रचना नहीं हो सकती। जैसे-शरीरधारी कुम्हार बना सकता है। न कि बिना शरीर के। एक विचार यह है कि संसार में कोई पदार्थ सामग्री कारण के बिना नहीं बनाये जा सकते। तब ईश्वर कारण-सामग्री के बिना लोक को कैसे बना सकेगा? यदि पहले कारण-सामग्री को बनाता है और बाद में लोक को बनाता है तो अनवस्था दोष आता है।[2]

यदि वह कारण-सामग्री स्वभाव से ही सिद्ध माने तो यह बात चरितार्थ नहीं होती है ऐसी स्थिति में ईश्वर की अकारणता स्वत: सिद्ध है। यदि कहें कि ईश्वर स्वतन्त्र है तथा सृष्टि बनाने में समर्थ है इसलिए सामग्री के बिना ही इच्छामात्र से लोक को बना लेता है ऐसा मानना उचित नहीं।[3] ईश्वर कृतकृत्य है अर्थात् सब कार्य पूर्ण कर चुका है कोई कार्य शेष नहीं रह गया

है तो ईश्वर को सृष्टि बनाने की क्या आवश्यकता थी? अगर अकृत्कृत्य मानें तो सम्पूर्ण लोक को बनाने में समर्थ नहीं हो सकता। जिस प्रकार अकृत्कृत्य कुम्हार केवल घटादि का ही निर्माण कर सकता है, संसार का नहीं।[4]

अगर ईश्वर निराकार है, निष्क्रिय, सर्वव्यापी और विकाररहित है तो ऐसे ईश्वर से साकार पदार्थों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। किसी कार्य को करने के लिए हस्त-पादादि कर्त्ता को कोई क्रिया अवश्य करनी पड़ती है और क्रिया कोई शरीरधारी ही कर सकता है और नहीं। ईश्वर को सक्रिय मानें तो इस लोक को बनाना असम्भव है। क्योंकि क्रिया वही करेगा जिसके अधिष्ठान से कुछ क्षेत्र बाकी रहा हो परन्तु ईश्वर तो सर्वव्यापी है। अगर ईश्वर विकाररहित है तो सृष्टि बनाने की इच्छा ही नहीं होगी।[5]

यदि विचार करें ईश्वर कृत्कृत्य है वह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की अभिलाषा नहीं रखता ऐसे ईश्वर को सृष्टि बनाने से क्या लाभ? सृष्टि की रचना को ईश्वर की क्रीड़ा-मात्र मानने पर ईश्वर को बड़ा मोही, अज्ञानी, मानना पड़ेगा तथा निष्प्रयोजन ही कोई उत्पादक मानना पड़ेगा जोकि एक मूर्ख का भी नहीं होता।[6]

अगर यह कहें ईश्वर कर्मों के अनुसार जीवों के शरीर की रचना करता है, जीव जैसा कर्म करता है वैसे ही उसके शरीर की रचना बनती है तो ईश्वर नहीं ठहरता। वह कर्मों की अपेक्षा करने से जुलाहे की तरह परतन्त्र हो जायेगा। परतन्त्र होने से ईश्वर नहीं कहलायेगा। ईश्वर तो सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र हुआ करता है।[7] जीव अपने कर्मों के अनुसार सुख-दुःख भोगता है तो ईश्वर की पुष्टि व्यर्थ लगती है। ईश्वर बड़ा दयालु है, उपकार के लिए सृष्टि की रचना करता है तो ईश्वर को सभी जीवों को सुखी बनाना चाहिए था अर्थात् दुःखरहित बनाना था। संसार का बहुत अधिक भाग ऐसा है जो दुःखी है। दयालु होने पर किसी को दुःखी और किसी को सुखी क्यों बनाता है?[8] इसके साथ ही यह भी प्रश्न है कि यह संसार सत् था या असत् सत् होने पर उसका निर्माण व्यर्थ होगा क्योंकि सत् त्रैकाल बाह्य होता है यदि असत् है तो असत् की उत्पत्ति नहीं की जा सकती। जैसे-आकाश कमल की उत्पत्ति नहीं हो सकती।[9]

इसके साथ ही यदि ईश्वर ही लोक को बनाने वाला है, समस्त जीव ईश्वर की सन्तान है, ईश्वर जन्म देने और संहार करने वाला भी है तो ईश्वर को अपनी सन्तान को नष्ट करने का घोर पाप भी लगता है। यदि ईश्वर दुष्ट जीवों को नष्ट करने के लिए संहार करता है तो इससे अच्छा है उसे पैदा ही न करता। अब बात यह है कि शरीरादि की उत्पत्ति किसी बुद्धिमान कारण से

ही हो सकती है। उसी प्रकार सृष्टि की रचना भी किसी विशेष बुद्धिमान पुरुष अर्थात् ईश्वर द्वारा ही हो सकती है।[10] यह हेतु ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करने में समर्थ नहीं। क्योंकि विशेष प्रकार की रचना अन्य विशेष प्रकार से ही हो सकती है। इस संसार में शरीर, इन्द्रियाँ सुख-दुःख आदि जितने भी अनेक प्रकार के पदार्थ देखे जाते हैं उन सबकी उत्पत्ति चेतन-आत्मा के साथ सम्बन्ध रखने वाले कर्मरूपी विधाता के द्वारा ही होती है।[11] इसलिए प्रतिज्ञापूर्वक कह सकते हैं कि संसारी जीवों के अंग-उपांग आदि में जो विचित्रता पायी जाती है वह सब निर्माण नामक कर्मरूपी विधाता की कुशलता से ही उत्पन्न होती है। इन कर्मों की विचित्रता से अनेक रूपता को प्राप्त हुआ यह लोक ही इस बात को सिद्ध कर देता है कि शरीर, इन्द्रिय आदि अनेक रूपधारी संसार का कर्त्ता संसारी जीवों की आत्माएँ ही हैं और कर्म उनके सहायक हैं – अर्थात् ये संसारी जीव ही अपने कर्म के उदय से प्रेरित होकर शरीर आदि संसार की सृष्टि करते हैं।

इसके अतिरिक्त अनेक ऐसे दर्शन है जो सृष्टि निर्माण में ईश्वर को अनावश्यक समझते हैं उनमें से सांख्य के माननीय आचार्यों की भी सम्मति है कि जगत की रचना तथा कर्मफल प्रदान आदि कार्यों के लिए ईश्वर की सत्ता मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। कार्यभूत जगत का कर्त्ता मानना तो उचित है पर ईश्वर में उसकी कर्तृता सिद्ध नहीं हो सकती। ईश्वर स्वयं निर्व्यापार-व्यापारहीन है। अतः इस परिवर्तनशील जगत् का वह अक्रियाशील कारण कभी नहीं हो सकता। किन्तु विज्ञानभिक्षु इसे मानने के लिए तैयार नहीं है। वे सांख्य को निरीश्वर नहीं मानते। कर्तृत्व शक्ति सम्पन्न ईश्वर की सिद्धि भले न हो, परन्तु ईश्वर जगत का साक्षी है जिसके सन्निधिमात्र से प्रकृति जगत के व्यापार में निरत होती है-परिणाम धारण कर जगत को रचना में प्रवृत्त होती है, जिस प्रकार चुम्बक अपने सान्निध्य मात्र से लोहे में गति पैदा करता है।[12]

वैशेषिक दर्शन में ईश्वर की सत्ता के विषय में दार्शनिकों में बड़ा मतभेद है। वैशेषिक सूत्र में केवल दो सूत्र ईश्वर की ओर संकेत करते हैं। परन्तु इनकी व्याख्या में ऐकमत्य का अभाव है। तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाणयम् (वै.सू.1.1.3) में 'तद' शब्द ईश्वर का बोधक माना गया है। परन्तु वह धर्म का भी प्रतिपादक हो सकता है। 'अस्मद्विशिष्ट' शब्द ईश्वर के समान योगियों का बोधक माना जा सकता है। (वै.सू. 2.118)

ब्र.सू. (3.2) अन्तिम फलाधिकरण में आचार्य बादरायण ईश्वर को कर्मफल का दाता मानते हैं परन्तु जैमिनि के अनुसार यज्ञ से ही तत्फल की

प्राप्ति होती है, उसमें ईश्वर के कारण नहीं। ब्रह्मसूत्र तथा प्राचीन मीमांसा ग्रन्थों के आधार पर ईश्वर की सत्ता सिद्ध मानी नहीं जाती, पर पीछे के मीमांसकों को यह त्रुटि बेहतर खटकी और इसके मार्जनार्थ उन लोगों ने ईश्वर को यज्ञपति के रूप में स्वीकार किया। इन सभी अवधारणाओं से सिद्ध होता है कि ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता नहीं है जैन दर्शन के अनुसार जीवात्मा कर्मों के अनुसार जन्म-मरण, सु:ख-दु:ख, भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म धारण करता है। ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता भोक्ता नहीं है। न ही सृष्टि का निर्माता है। अब जीवात्मा के जन्म-मरण के चक्र को चमाप्त करने के लिए और मोक्ष की प्राप्ति के लिए रत्नत्रय की आराधना आदिपुराण कारण ने अवश्य कहीं है।

रत्नत्रय

जैन धर्मदर्शन में कर्म-बन्धनों से मुक्त होने हेतु एवं मोक्ष साधना में प्रवृत्त होने के लिए ज्ञान, दर्शन एवं चारित्ररूपी रत्नत्रयी का विशेष महत्व माना गया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्ष के साधन है। मोक्ष साधना के लिए इन तीनों की आवश्यकता मानी गई है।[13] यह तीनों को रत्नत्रय[14] के नाम से पुकारा जाता है।

रत्नत्रय में ही धर्म का स्वरूप गर्भित हो जाता है। धर्म के ये तीन अंग अन्तत: वैदिक परम्परा में भी श्रद्धा या भक्ति, ज्ञान और कर्म के नाम से स्वीकार किये गये हैं। जब कर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र-रूपी अग्नि से भस्म हो जाते हैं तब अग्नि से भस्मीभूत बीज से जिस प्रकार अंकुर उत्पन्न नहीं होते, उसी प्रकार कर्म जन्म-मरण के कारण नहीं बनते।[15]

सम्यग्दर्शन और उसके अंग इत्यादि

सम्यग्दर्शन

सम्यग्दर्शन में दो शब्द हैं -- सम्यक् और दर्शन। सम्यक् शब्द संशोधन, परिमार्जन के लिए, यथार्थता के लिए और मोक्षाभिमुखता के लिये प्रयुक्त हुआ है। दर्शन का अर्थ - दृष्टि, देखना, विश्वास करना भी है और निश्चय करना भी है। अत: वह यथार्थ श्रद्धा जो सत्य-तथ्य पूर्ण होने के साथ-साथ मोक्षाभिमुखी हो, जीव की गति-प्रगति मोक्ष की ओर उन्मुख करे, वह सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन का अभिप्राय है - जो वस्तु जैसी है, जिस रूप में अवस्थित है, उस पर वैसी ही श्रद्धा करना यथार्थ विश्वास करना सम्यग्दर्शन है।[16]

सच्चे देव, शास्त्र और यथार्थ पदार्थों पर अत्यन्त श्रद्धा रखना ही सम्यग्दर्शन कहलाता है।[17]

जीवाजीवादि तत्त्वों में प्रगाढ़ निष्ठा रखना ही सम्यग्दर्शन है अर्थात् स्वयं और दूसरे के उपदेश से जीवादि सात तत्त्वों में यथार्थ श्रद्धान करना ही सम्यक्दर्शन कहलाता है।[18]

वीतराग सर्वज्ञदेव, आप्तोपज्ञ, आगम ओर जीवादि पदार्थों पर अटूट निष्ठा करना ही सम्यग्दर्शन माना गया है। यह सम्यग्दर्शन ही सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र का मूल कारण है।[19]

सम्यग्दर्शन का तात्पर्य है जैन दर्शन में निर्दिष्ट सप्त या नव तत्त्वों पर विश्वास करना। यहाँ श्रद्धा अथवा विश्वास का तात्पर्य अन्धश्रद्धा से नहीं अपितु सम्यक् दृष्टि से है। तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना ही सम्यग्र्शन कहा गया है।[20]

सम्यग्दर्शन स्वभाव और परोपदेश दोनों से होता है। यह दो प्रकार का होता है – 1. निसर्गज, 2. अधिगमज - निसर्ग का अर्थ है परिणाम मात्र। जो सम्यग्दर्शन जीव के स्वयं के परिणाम (आन्तरिक भाव) के निमित्त ही उत्पन्न होता है। वह निसर्गज सम्यग्दर्शन कहलाता है। इसमें पर के उपदेश की आवश्यकता नहीं होती।

अधिगमज सम्यक्त्व वह कहलाता है, जिसमें पर अर्थात् किसी अन्य साधु-साध्वी, शास्त्र स्वाध्याय आदि निमित्त की अपेक्षा रहती है। दूसरे शब्दों में, अधिगमज सम्यक्त्व किसी दूसरे का निमित्त पाकर उत्पन्न होता है।[21] उमास्वाति ने सम्यग्दर्शन को एक प्रकार का ज्ञान कहा है।

सम्यग्दर्शन चेतना की वह विशुद्धावस्था है, जो पदार्थ को यथावत् जानने की शक्ति देती है। यह ऐसी अवस्था है जहाँ मिथ्यादर्शन नहीं रहता। यह सम्यग्ज्ञान की भूमिका है।[22]

जिस व्यक्ति को सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया हो, वह तीन प्रकार की मूढ़ताओं, अन्धविश्वासों और आठ प्रकार के मदों से मुक्त हो जाता। उसे आठ प्रकार के अंगों से युक्त होना चाहिए।[23] तीन प्रकार की मूढताएँ हैं – लोक मूढ़ता, देवमूढ़ता और पाखण्डी मूढ़ता। आठ प्रकार के मद, जाति, कुल, बल, रूप, तप, ऋद्धि, ज्ञान और पूजा।[24] सम्यग्दर्शन के आठ अंग - निःशंकित, निष्कांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना है।[25]

जिसे दुरभिनिवेश रहित पदार्थों का श्रद्धान हो अथवा स्वात्म प्रत्यक्ष पूर्वक स्व-पर भेद का या कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विवेक हो, वह सम्यग्दृष्टि

जीव है। ऐसे दस साधन है, जिनसे व्यक्ति सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है - निसर्ग, उपदेश, आज्ञा, सूत्र, बीज, अभिगम, विस्तार, क्रिया, संक्षेप और धर्म।[26]

सम्यग्दृष्टि वह है जो छह द्रव्य, नवपदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सप्त तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप पर श्रद्धान करें।[27] हिंसा रहित धर्म, अठारह दोष रहित देव, निर्ग्रन्थ गुरु और अर्हत् प्रवचन (समीचीन शास्त्र) में जो श्रद्धा है वही सम्यग्दर्शन है और ऐसी दृष्टि वाला सम्यग्दृष्टि है।[28] तीर्थंकरों, आगमों और छह द्रव्यों में विश्वास करना सम्यग्दर्शन कहा है।[29]

नव पदार्थों में दृढ़ निश्चय को सम्यग्दर्शन कहा गया है।[30] अमितगति,[31] वसुनन्दि,[32] नेमिचन्द्र,[33] अमृतचन्द्र[34] आदि जैसे महान् जैनाचार्यों ने सप्त तत्त्वों और नव पदार्थों पर समीचीन श्रद्धान करने को सम्यग्दर्शन कहते हुए ही अपने ग्रन्थों को प्रारम्भ किया है।

यह सम्यग्दर्शन ही मोक्ष प्राप्ति का प्रथम साधन कहा जाता है।[35] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र का मूल कारण है,[36] सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र नहीं हो सकते। जीवादि सात तत्त्वों का तीन मूढ़ता-देवमूढ़ता लोकमूढ़ता और पाषण्ड मूढ़ता रहित और आठ अंगों पर यथार्थ श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन है।[37]

सम्यग्दर्शन के आठ अंग

1. नि:शंकित 2. नि:कांक्षित 3. निर्विचिकित्सा 4. अमूढ़दृष्टि 5. उपगूहन 6. वात्सल्य 7. स्थितिकरण (स्थिरीकरण) 8. प्रभावना।[38]

1. नि:शंकित[39]

नि:शंकित का अभिप्राय है - तीर्थंकरों के वचनों में, देव शास्त्र गुरु के स्वरूप में किसी प्रकार की भी शंका न करना नि:शंकित है। शंका के दो अर्थ किये गये हैं – 1. संदेह, 2. भय। यदि गहराई से देखा जाये तो भय भी शंका से ही उत्पन्न होता है तथा यह अविश्वास का द्योतक है। भय उसी को होता है जिसे अपनी आत्मशक्ति तथा कर्म सिद्धान्त के प्रति पूरा विश्वास नहीं होता है; किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव पूर्ण रूप से आत्मविश्वासी होता है। उसके हृदय में न अपनी आत्मशक्ति के प्रति शंका होती है और न जिन प्रवचनों के प्रति।[40]

2. निःकांक्षित[41]

जैन दर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शनों के आडम्बर वैभवादि से आकर्षित होकर उन्हें स्वीकार करने की इच्छा न करना तथा अपने धर्माचरण के फलस्वरूप इस लोक अथवा परलोक के भौतिक सांसारिक सुखों की इच्छा न करना ही निःकांक्षित है। अर्थात् भोगों की इच्छा न करना ही निष्कांक्षित है।[42]

3. निर्विचिकित्सा[43]

धर्म का आचरण करके धर्म के फल में सन्देह न करना कि मुझे धर्म या पुण्य कार्य से लाभ होगा या नहीं तथा रत्नत्रय की आराधना करने वाले शुचिभूत पवित्र साधुओं के मैले वस्त्रों व शरीर को देखकर घृणा न करना एवं देव-गुरु-धर्म की निन्दा न करना ही सम्यक्त्व का तीसरा अंग निर्विचिकित्सा है।[44]

4. अमूढ़दिदिट्ठ[45] (अमूढ़दृष्टि)

अमूढ़दृष्टि का अभिप्राय है - मोहमुग्ध दृष्टि या विश्वास न रखना। मूढ़ता का अर्थ मुग्धता अथवा मूर्खता दोनों ही हैं। सांसाराभिनन्दी जीव अनेक मूर्खताओं में मुग्ध बना रहता है। उनमें से कुछ प्रमुख मूढ़ताएँ इस प्रकार है-

(क) देवमूढ़ता

राग द्वेष सहित देवता की उपासना करना देव मूढ़ता है और देवों के निमित्त हिंसादि पाप करना ये भी देवमूढ़ता है।

(ख) गुरुमूढ़ता

जिन साधकों का आचार पतित हो गया है, ऐसे साधुओं को गुरु मानना गुरुमूढ़ता है।

(ग) लोक मूढ़ता

लोक प्रचलित कुप्रथाओं, कुरूढ़ियों को धर्म समझकर पालन करना लोक मूढ़ता है। जैसे-गंगा में स्नान करने से पाप धुल जाते हैं आदि, ऐसा विचार करना लोक मूढ़ता कही जाती है।[46]

तत्त्वार्थ सूत्र में इसके अतिरिक्त दो मूढ़ताओं का भी वर्णन हुआ है।

1. **शास्त्र मूढ़ता** - हिंसा करना, भोगों में आसक्त होना, जुआ, चोरी, राग-द्वेषवर्धक असत्य कल्पना वाले ग्रन्थों को धर्मशास्त्र मानकर उस पर आचरण करना शास्त्र मूढ़ता है।

2. **धर्म मूढ़ता** – धर्म कार्यों में आडम्बर, ढोंग, प्रपंच करना और उस धर्म को कल्याणकारी, मोक्षदायी धर्म मानना धर्म मूढ़ता है।[47]

5. उपगूहन[48]

गुणीजनों के गुणों की प्रशंसा करना, उनके प्रति प्रमोद भाव रखना तथा अपने गुणों को यथासम्भव छुपाकर रखना, अपने गुणों का प्रचार न करना उपगूहन है।[49]

6. स्थिरीकरण[50]

सम्यक्त्व अथवा चारित्र से डिगते हुए साधर्मी भाइयों को धर्म में पुनः स्थिर करना तथा स्वयं अपनी आत्मा के परिणाम भी, आत्म भाव में स्थिर करना, अपनी आत्मा का स्थिरीकरण है।[51]

7. वात्सल्य[52]

साधर्मी भाइयों के प्रति निःस्वार्थ स्नेह भाव रखना, प्राणीमात्र के प्रति करुणा रखना व निजत्व की अनुभूति करना वात्सल्य है। जैसे गो अपने वत्स (बछड़े) के प्रति स्नेह रखती है, उसी प्रकार अपनी आत्मा के हितकारी ज्ञान-दर्शन चारित्रादि भावों के प्रति विशेष अनुराग रखना स्वात्म वात्सल्य है।[53]

8. प्रभावना[54]

जैनधर्म एवं संघ की उन्नति-अभ्युदय के लिए चिन्तन करना तथा ऐसे प्रयत्न करना, जिनसे धर्म का प्रचार हो, दूसरे लोग धर्म से प्रभावित हों तथा रत्नत्रय की प्रकृष्ट भावना से अपनी आत्मा को भावित प्रभावित करना प्रभावना है।

सम्यग्दर्शन मोक्ष जाने का मूल उपाय है। इसी के कारण ज्ञान और चारित्र भी सम्यक् होते हैं।

जिस प्रकार शरीर के आठ मुख्य अंग है, उसी प्रकार **सम्यक्त्व** के उपर्युक्त आठ अंग भी प्रमुख हैं। जैसे-शरीर में आँख नाकादि एक भी अंग की कमी होने से शरीर की सुन्दरता एवं उपयोगिता कम हो जाती है, उसी प्रकार सम्यक्त्व का एक भी अंग कम होने से सम्यक्त्व की महिमा और उसकी तेजस्विता क्षीण हो जाती है।[55]

सम्यक्त्व के बाह्य लक्षण

कोई व्यक्ति सम्यक्त्वी है या नहीं, यह उसके बाह्य व्यवहार से भी जाना जा सकता है। सम्यक्त्व के प्रभाव से आत्मा में जो आन्तरिक परिवर्तन होते हैं, वृत्ति प्रवृत्ति-रुचियों में अन्तर आता है वह उसके बाह्य व्यवहार में परिलक्षित होने लगता है।[56] ऐसे मुख्य चार गुण कहे जाते हैं –

(क) प्रशम (ख) संवेग (निर्वेद) (ग) अनुकम्पा (घ) आस्तिक्य।[57]

श्रद्धा, रुचि, स्पर्श तथा प्रत्यय ये सम्यग्दर्शन के पर्याय कहे जाते हैं।[58]

(क) प्रशम

''शम'' शब्द प्राकृत के ''सम'' शब्द का संस्कृत रूपान्तर है। प्राकृत ''सम'' के संस्कृत में तीन रूप बनते हैं – सम, शम और श्रम।

''सम'' का अभिप्राय है - समता। सभी प्राणियों को अपने ही समान समझना। ''शम'' का अभिप्राय क्रोधादि कषायों का निग्रह, कषायों का अभाव होना तथा दुराग्रह और मिथ्याग्रह का शमन करना और सत्याग्राही मनोवृत्ति को जागृत करना। श्रम का अर्थ पुरुषार्थ और परिश्रम दोनों ही रूपों को द्योतित करता है। सम्यक्त्वी अपनी आत्मा की उन्नति के लिए किसी अन्य की सहायता की इच्छा न करके, स्वयं ही पुरुषार्थ करता है और परिश्रम करके मोक्ष मार्ग पर अग्रसर होता है। सम्यक्त्वी में ''सम'' शब्द से द्योतित तीनों गुण होते हैं।[59]

(ख) संवेग

संवेग का अभिप्राय है - मोक्ष प्राप्ति की इच्छा, आत्मा परिणामों का वेग मोक्ष मार्ग की ओर अग्रसर होना संवेग है। इसके विपरीत संसार एवं सांसारिक क्रिया-कलापों की ओर विमुखता अरुचि का भान होना निर्वेद है। सम्यक्त्वी सांसारिक क्रियाओं को कर्त्तव्य समझकर करता है, उसकी आन्तरिक इच्छा संसार में नहीं होती, अपितु उसके हृदय में तो सदैव मुक्ति की भावना रहती है।[60]

(ग) अनुकम्पा

अनुकम्पा का अभिप्राय है - दया करना। पीड़ित प्राणियों को देखकर सम्यक्त्वी के हृदय में अनुकम्पा आ जाती है, वह उसकी पीड़ा मिटाने का प्रयास करता है कि जैसे मैं सुखी हूँ वैसे सभी सुखी हों।

इसी प्रकार वह अपनी आत्मा के भाव राग-द्वेष कषायों के प्रवाह में बहते देखकर कम्पित हो उठता है, वह जानता है ये भाव मेरी आत्मा के लिए दु:ख के कारण हैं, अत: वह अपनी निज की परिणति को कषायों से हटाकर स्वात्मभाव में लगाता है। यह उसकी स्वात्म अनुकम्पा अथवा स्वदया है।[61]

(घ) आस्तिक्य

आस्तिक्य का अभिप्राय है अस्तित्व अथवा सत्ता में विश्वास करना, किन्तु वह अस्तित्व मिथ्या, कल्पना की उड़ान मात्र न हो, सत्य हो, तथ्य हो, वास्तविक हो। आस्तिक्य गुण को आचाराङ्ग सूत्र में इस प्रकार प्रकट किया है–वह जीव आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी होता है।

सम्यक्त्वी लोक-परलोक, पुनर्जन्म, आत्मा-परमात्मा, आस्रव, बन्ध, मोक्षादि तत्त्वों के बारे में जिन-प्रणीत सिद्धान्तों पर दृढ़ विश्वास एवं आस्था करता है, यही उसका आस्तिक्य गुण है।[62]

सम्यग्दर्शन की महत्ता

सम्यग्दर्शन मोक्षरूपी प्रासाद का प्रथम सोपान है। सम्यग्दर्शन नरकादि दुर्गतियों के द्वार को रोकने वाले मजबूत किवाड़ हैं, धर्म रूपी वृक्ष की स्थिर जड़ है, स्वर्ग और मोक्षरूपी भवन का द्वार है और शीलरूपी रत्नहार के मध्य में जडित श्रेष्ठ रत्न है। रत्नों में सर्वोत्कृष्ट है। जो पुरुष एक मुहूर्त्त के लिए भी सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है वह संसार रूपी विष-लता को काट कर बहुत ही छोटी कर लेता है। अर्थात् वह अर्द्ध पुद्गल परावर्तन से अधिक समय तक संसार कानन में नहीं रहता। जिसके हृदय में सम्यग्दर्शन है वह उत्तम देव और उत्तम मनुष्य आयु का ही बन्ध करते हैं सम्यक्त्वी जीव नरक और तिर्यंच आयु का बन्ध नहीं करता। सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर अनन्त संसार भी सान्त (अन्त सहित) हो जाता है। जिस प्रकार शरीर के अंगों - हाथ, पैरादि में मस्तक प्रधान है, मुख में नेत्र प्रधान है, उसी प्रकार गणधर देव ने मोक्ष के समस्त अंगों में सम्यग्दर्शन को ही प्रधान अंग माना है। लोकमूढ़ता, पाषण्ड मूढ़ता और देव मूढ़ता का परित्याग कर देते हैं। वे मिथ्यादृष्टि को प्राप्त नहीं करते। संसाररूपी समुद्र से पार होने के लिए सम्यग्दर्शन नौका के समान पार उतारने वाला है। सब पृथ्वियों में रत्नप्रभा पृथ्वी को छोड़कर नीचे की छह पृथ्वियों में भवनवासी, वाणव्यन्तर और ज्योतिषक देवों में तथा अन्य नीच पर्यायों में सम्यक् दृष्टि जीवों की उत्पत्ति नहीं होती है।[63]

सम्यग्दर्शन की सात भावनाएँ

संसार से भय होना, शान्त परिणाम होना, धीरता रखना, मूढ़ताओं का त्याग करना, गर्व न करना, श्रद्धा रखना, और दया करना ये सात सम्यग्दर्शन की भावनाएँ कही गई हैं।[64]

सम्यग्ज्ञान और भेदोपभेद

जीव, अजीव, आस्रव, संवरादि पदार्थों के यथार्थ (वास्तविक) स्वरूप को प्रकाशित करने वाला तथा अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर करने के अनन्तर उत्पन्न होने वाला ज्ञान, सम्यग्ज्ञान कहलाता है।[65]

ज्ञान जीव का एक विशेष गुण है जो स्व तथा पर दोनों को जानने में समर्थ है। अनादि काल से मोहमिश्रित होने के कारण यह स्व तथा पर में भेद नहीं देख पाता। शरीरादि पर पदार्थों को ही निजस्वरूप मानता है इसी को मिथ्याज्ञान या अज्ञान कहा है। जब सम्यक्त्व के प्रभाव से पर पदार्थों से भिन्न निज स्वरूप को जानने लगता है, तब भेदज्ञान नाम पाता है, वही सम्यग्ज्ञान है। ज्ञान वास्तव में सम्यक् मिथ्या नहीं होता परन्तु सम्यक्त्व या मिथ्यात्व के सहकारीपने में सम्यक् मिथ्या नाम पाता है।

सम्यग्ज्ञान ही श्रेयोमार्ग की सिद्धि करने में समर्थ होने के कारण जीव को इष्ट है। जीव का अपना प्रतिभास तो निश्चय सम्यग्ज्ञान है और उसको प्रकट करने में निमित्त भूत आगम ज्ञान व्यवहार सम्यग्ज्ञान कहलाता है। जहाँ निश्चय सम्यग्ज्ञान ही वास्तव में मोक्ष का कारण है, व्यवहार सम्यग्ज्ञान नहीं।[66]

जिस ज्ञान के द्वारा नौ पदार्थों का या सप्त तत्त्वों का बोध हो, उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं।[67]

नय व प्रमाण के विकल्पपूर्वक जीवादि पदार्थों का यथार्थ ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।[68]

संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय का अभाव होने से उन्हीं जीवादि सात तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान होना ही सम्यग्ज्ञान कहलाता है।[69]

सम्यग्ज्ञान के प्रकार

सम्यक् ज्ञान के मूल रूप से पाँच भेद कहे गये हैं।[70]

1. मतिज्ञान 2. श्रुत ज्ञान 3. अवधि ज्ञान[71] 4. मनः पर्यवज्ञान 5. केवलज्ञान

1. मतिज्ञान

मतिज्ञान, मन एवं इन्द्रियों की सहायता से होता है। इसमें पाँचों इन्द्रियों में से कोई भी एक इन्द्रिय निमित्त हो सकती है। तात्पर्य यह है कि मतिज्ञान (एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय) सभी जीवों में होता है। आगम साहित्य में मतिज्ञान को आभिनिबोधिक ज्ञान कहा गया हैं। सन्मुख आए हुए पदार्थों के प्रति नियम स्वरूप, देश, काल, अवस्था, अनपेक्षी इन्द्रियों के आश्रित होकर स्व-स्व विषय जानने वाले बोधरूप ज्ञान को आभिनिबोधिक कहते हैं। यह भाव साधन अर्थ हुआ। अथवा आत्मा द्वारा सम्मुख आए हुए पदार्थों के स्वरूप को प्रमाणपूर्वक जानना, उसे आभिनिबोधिक कहते हैं। यह कर्मसाधन अर्थ कहलाता है। वस्तु के स्वरूप को जानना यह कर्तृसाधन अर्थ कहलाता हैं। तात्पर्य यह है कि जो ज्ञान पाँच इन्द्रिय और मन के द्वारा उत्पन्न हो, उसे आभिनिबोधिक ज्ञान कहते हैं।[72]

मतिज्ञान के पर्याय

ईहा, अपोह, विमर्श, मार्गणा, गवेषणा, संज्ञा स्मृति, मति, प्रज्ञादि शब्दों का प्रयोग किया जाता है।[73]

तत्वार्थ सूत्र में मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, आभिनिबोध को एकार्थक कहा है।[74]

2. श्रुतज्ञान

मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान[75] होता है। यानि मतिज्ञान द्वारा जाने हुए पदार्थों को विशेष रूप से जानना श्रुतज्ञान का कार्य है।[76]

प्राचीन आगम की भाषा में श्रुतज्ञान का अर्थ है--वह ज्ञान, जो श्रुत से अर्थात् शास्त्र से सम्बद्ध हो, आप्त पुरुष द्वारा रचित आगम व अन्य शास्त्रों में से जो ज्ञान होता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं।[77]

शब्द को सुनकर जिस अर्थ की उपलब्धि हो, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। क्योंकि इस ज्ञान का कारण शब्द है। अतः उपचार से उस ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा जाता है। यह ज्ञान भी इन्द्रिय और मन के निमित्त से उत्पन्न होता है फिर भी श्रुतज्ञान में इन्द्रियों की अपेक्षा मन की मुख्यता है।[78] श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक ही होता है।

3. अवधिज्ञान

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा तथा मर्यादा लिए हुए रूपी (स्पर्श, गन्ध, रस, वर्ण वाले) पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान जिसके द्वारा जीव को प्राप्त होता है, वह अवधिज्ञान कहलाता है।[79]

इन्द्रिय और मन की अपेक्षा न रखता हुआ केवल आत्मा के द्वारा रूपमय एवं मूर्त पदार्थों का साक्षात् करने वाला ज्ञान अवधिज्ञान कहलाता है। अथवा अवधि शब्द का अर्थ मर्यादा भी होता हैं। अवधिज्ञानरूपी द्रव्यों को प्रत्यक्ष करने की शक्ति रखता है। यही इसकी मर्यादा है। अथवा "अव" शब्द अधो अर्थ का वाचक है। जो अधोऽधो विस्तृत वस्तु के स्वरूप को जानने की शक्ति रखता है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं। अथवा बाह्य अर्थ को साक्षात् करने का जो आत्मा का व्यापार करता है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं, इससे आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता।[80]

क्षेत्र की दृष्टि से अवधिज्ञान के भेद

अवधि ज्ञान के तीन भेद किये गये है[81] –

(क) देशावधिज्ञान[82] (ख) परमावधिज्ञान (ग) सर्वावधिज्ञान।

अवधिज्ञान के दो भेद हैं –

1. भव प्रत्ययिक अवधिज्ञान[83], 2. गुण प्रत्यय अवधिज्ञान या क्षायोपशमिक अवधिज्ञान[84]

1. **भव प्रत्ययिक अवधिज्ञान –** जो अवधिज्ञान जन्म लेते ही प्रकट होता है, जिसके लिए संयम, तप, व्रत, नियम आदि अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं रहती, उसे भव प्रत्ययिक अवधिज्ञान कहते हैं। यह अवधि ज्ञान देव और नारकों में होता है और जीवनपर्यन्त रहता है।[85]
2. **गुण प्रत्यय अवधिज्ञान –** जो अवधिज्ञान संयम, नियम और व्रत आदि अनुष्ठान के बल से उत्पन्न होता है उसे गुण प्रत्यय अवधि ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान मनुष्य और तिर्यंचों को होता है। अर्थात् मूल तथा उत्तर गुणों की विशिष्ट साधना से जो अवधिज्ञान हो, उसे क्षायोपशमिक अवधिज्ञान कहते हैं।[86]

4. मनः पर्यवज्ञान[87]

किसी व्यक्ति के मन में अवस्थित अथवा हृदयगत भावों को जिस ज्ञान

के द्वारा जीव प्रत्यक्ष जानता है, वह मन:पर्यव ज्ञान होता है।[88] यह ज्ञान केवली संयमी को ही होता है।

यह ज्ञान मनुष्य गति के अतिरिक्त अन्य किसी गति में नहीं होता। मनुष्य में भी संयत मनुष्य को होता है। असंयत मनुष्य को नहीं। मन: पर्याय ज्ञान का अर्थ है – **मनुष्यों के मन के चिन्तित अर्थ को जानने वाला ज्ञान।** मन एक प्रकार का पौद्गलिक द्रव्य है। जब व्यक्ति किसी विषय विशेष का विचार करता है तब उसके मन का नाना प्रकार की पर्यायों में परिवर्तन होता रहता है। मन: पर्यायज्ञानी मन की उन विविध पर्यायों का साक्षात्कार करता है।[89] कि व्यक्ति इस समय में यह चिन्तन कर रहा है। केवल अनुमान से यह कल्पना करना कि अमुक व्यक्ति इस समय अमुक प्रकार की कल्पना कर रहा होगा। इस प्रकार के अनुमान को मन:पर्याय ज्ञान नहीं कहते। यह ज्ञान मन के प्रवर्तक या उत्तेजक पुद्गल द्रव्यों को साक्षात् जानने वाला है। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो मन के परिणमन का आत्मा के द्वारा साक्षात् प्रत्यक्ष करके मानव के चिन्तित अर्थ को जान लेना मन:पर्यायज्ञान है। यह ज्ञान मन पूर्वक नहीं होता किन्तु आत्मपूर्वक होता है। मन तो उसका विषय है। ज्ञाता साक्षात् आत्मा है।[90]

चिन्ता, अचिन्ता और अर्धचिन्ता के विषयभूत अनेक भेदरूप पदार्थ को जो ज्ञान नर लोक के भीतर जानता है, वह मन:पर्यवज्ञान है।[91]

मन:पर्यवज्ञान के भेद

मन:पर्यव ज्ञान के दो भेद होते है[92] –

(क) ऋजुमति (ख) विपुलमति।

(क) **ऋजुमति मन:पर्यायज्ञान** – दूसरे के मन में स्थित पदार्थ के सामान्य स्वरूप को जानना, अर्थात् विषय को सामान्य रूप से जानना ऋजुमति मन:पर्याय ज्ञान कहलाता है।

(ख) **विपुलमति मन:पर्यायज्ञान** – दूसरे के मन में स्थित पदार्थ की अनेक पर्यायों को जानना अर्थात् चिन्तनीय वस्तु की पर्यायों को विविध विशेषताओं सहित स्फुटता से जानना विपुलमति मन: पर्यायज्ञान कहलाता है।[93]

ऋजुमति और विपुलमति अन्तर

ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति ज्ञान अधिक विशुद्ध होता है। दोनों में अन्तर यह है कि ऋजुमति प्रतिपाति है अर्थात् उत्पन्न होने के पश्चात् जो ज्ञान

नष्ट भी हो जाता है किन्तु विपुलमति केवलज्ञान की प्राप्ति तक बना रहता है।[94]

ऋजुमति कदाचित् प्रतिपाति भी हो सकता है, किन्तु विपुलमति को उसी भव में केवलज्ञान हो जाता है। ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति ज्ञानी सूक्ष्मतर, विशेष, अधिक और स्पष्ट रूप से जानता है। क्षायोपशमजन्य कोई भी ज्ञान जब अपने आप में पूर्ण हो जाता है, तब निश्चय ही उसे उस भव में केवलज्ञान हो जाता है, अपूर्णता में भजना है – हो और न भी हो।[95]

5. केवलज्ञान

केवल शब्द का अर्थ एक या सहाय रहित है। ज्ञानावरणीय कर्म के नष्ट होने से ज्ञान के अवान्तर भेद मिट जाते हैं और ज्ञान एक हो जाता है। उसके पश्चात् इन्द्रिय और मन के सहयोग की आवश्यकता नहीं होती, वह केवल ज्ञान कहलाता है।[96]

समस्त लोकालोक और तीनों काल (भूत, भविष्य, वर्तमान) के सभी पदार्थों को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष जानता है, वह केवलज्ञान होता है।[97]

सम्यक् ज्ञान की भावनाएँ

सम्यक् ज्ञान की पाँच भावनाएँ होती हैं[98] –

1. जैनागमों का स्वयं पढ़ना
2. दूसरों से पूछना
3. पदार्थ के स्वरूप का चिन्तन करना
4. श्लोक या गाथा कण्ठ करना - परिवर्तना - पुनः पुनः पठन-पाठन करना।
5. समीचीन धर्म का उपदेश देना - ये सम्यक् ज्ञान की भावनाएँ कही जाती हैं।

सम्यग्ज्ञान को ही प्रमाण कहा जाता है जो वस्तु के सत्य स्वरूप का वर्णन कर सकता है वही ज्ञान प्रमाण होता है। मिथ्या ज्ञान प्रमाण नहीं होता।

उपर्युक्त पाँचों ज्ञान प्रमाण हैं।[99] प्रमाण दो प्रकार का है – परोक्ष और प्रत्यक्ष।[100] आदि के दो ज्ञान (मति और श्रुत) परोक्ष है।[101] इसके अतिरिक्त अवधि, मनःपर्यव और केवलज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण में आते हैं।[102]

प्रमाण द्वारा कहे सामान्य स्वरूप का नय[103] विशेष कथन करता है। जैसे ''मनुष्य है'' यह सामान्य कथन प्रमाण है। इस मनुष्य के दो हाथ है, दो पाँव है, दो आँखें हैं, नाक आदि एक-एक अंग-उपांग की अपेक्षा विशेष-विशेष कथन नयों का विषय है। अर्थात् वस्तु का स्वरूप मात्र कथन प्रमाण का कार्य है और उसका विशेष विश्लेषण करना नयों का कार्य है।[104]

नय

नयवाद जैनदर्शन का एक प्रधान और मौलिकवाद है। जड़ और चेतन जगत् के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए यह वाद एक सर्वांगीण दिव्य-दृष्टि प्रस्तुत करता है और विभिन्न एकांगी दृष्टियों में सुन्दर एवं साधारण समन्वय का सूत्रपात करता है।

किसी भी विषय का सापेक्ष निरूपण करने वाली विचारसरणी को नय कहा जाता है।[105] उच्चारण किये अर्थ, पद और उसमें किये गये विक्षेप को देखकर अर्थात् समझकर पदार्थ को ठीक निर्णय तक पहुँचा देता है, इसलिए वे नय कहलाता है।[106]

अनेक गुण और अनेक पर्यायों सहित, अथवा उनके द्वारा, एक परिणाम से दूसरे परिणाम में, एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में और एक काल से दूसरे काल में अविनाशी स्वभाव रूप रहने वाले द्रव्य को जो ले जाता है अर्थात् उसका ज्ञान करा देता है, उसे नय कहते हैं।[107]

जीवादि पदार्थों को जो लाते हैं, प्राप्त कराते हैं, बनाते हैं, आभास कराते हैं, उपलब्ध कराते हैं, प्रगट कराते हैं, वे नय हैं।[108]

नाना स्वभावों से हटाकर वस्तु को एक स्वभाव में जो प्राप्त करायें, उसे नय कहते हैं।[109] अर्थात् जिस नीति के द्वारा एक देश विशिष्ट पदार्थ लाया जाता है अर्थात् प्रतीति के विषय को प्राप्त कराया जाता है, उसे नय कहते हैं।[110]

नय के भेद

1. द्रव्यार्थिक नय 2. पर्यायार्थिक नय।[111]

पर्याय को गौण करके द्रव्य का प्रधान रूप से वर्णन करना द्रव्यार्थिक नय है।

द्रव्य को गौण करके पर्याय को प्रधान रूप से वर्णन करना पर्यायार्थिक नय है।

द्रव्य के बिना पर्याय और पर्याय के बिना द्रव्य का अस्तित्व नहीं रहता है। द्रव्य के अभाव में गुण और पर्याय नहीं रहते हैं। गुण और पर्याय के बिना द्रव्य नहीं रहता।

जगत् में छोटी या बड़ी सभी वस्तुएँ एक दूसरे से न तो सर्वथा असमान ही होती है, न सर्वथा समान हो। इसमें समानता और असमानता दोनों अंश विद्यमान हैं। इसी से वस्तु मात्र सामान्य-विशेष उभयात्मक है, मनुष्य की बुद्धि कभी तो वस्तुओं के सामान्य अंश की ओर झुकती है और कभी विशेष अंश की ओर। जब वह सामान्य अंश को ग्रहण करती है, तब उसका यह विचार द्रव्यार्थिक नय और जब वह विशेष अंश को ग्रहण करती है, तब वही विचार पर्यायार्थिक नय कहलाता है। सभी सामान्य और विशेष दृष्टियाँ भी एक-सी नहीं होती, उनमें भी अन्तर रहता है।

इसी को बतलाने के लिए इन दो दृष्टियों के फिर संक्षेप में भाग किये गए हैं। द्रव्यार्थिक नय के तीन और पर्यायार्थिक के चार - इस तरह कुल सात भाग बनते हैं और ये ही सात नय हैं।[112]

नयों के नाम एवं प्रकार

नय सात प्रकार के कहे गये हैं।[113] उनके नाम इस प्रकार हैं–

(क) नैगम नय (ख) संग्रह नय (ग) व्यवहार नय (घ) ऋजु नय (ङ) शब्द नय (च) समभिरूढ़ नय (छ) एवंभूत नय।[114]

पहले (नैगम नय) के दो और शब्द नय के तीन भेद हैं।[115]

(क) **नैगम नय** – ''निगम'' शब्द के अनेक अर्थों में एक अर्थ है– नगर तथा एक अर्थ है - मार्ग। जिस प्रकार नगर में जाने के अनेक मार्ग होते हैं उसी प्रकार वस्तु तत्त्व को समझने की अनेक विधियों वाली शैली को नैगम नय कह सकते हैं।

आचार्य जिनभद्रगणी ने निगम की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है– ''णेगगमोऽणेगपहोणेगमो''[116] ''गम'' अर्थात् मार्ग जिसके अनेक मार्ग है, वह नैगम है।

सामान्य और विशेष को ग्रहण करने वाला नैगम नय है।

नैगम नय के दो भेद हैं[117] –

1. समग्रग्राही

2. देश ग्राही।

1. **समग्रग्राही नैगम नय** – यह सामान्य को ग्रहण करता है। उदाहरणार्थ सोने, पीतल, मिट्टी का भेद न करके सभी प्रकार के घड़ों को एक "घड़ा" शब्द से ग्रहण करना।[118]

2. **देशग्राही नैगमनय** – यह देश अर्थात् अंश को ग्रहण करता है। जैसे यह पीतल का घड़ा है, मिट्टी का घड़ा है इत्यादि।

समग्र रूप से नैगमनय सामान्य (द्रव्य) और विशेष (पर्याय) दोनों को ही ग्रहण करता है। अर्थात् पूरे द्रव्य को (पर्याय सहित) ग्रहण करता है किन्तु कथन शैली में द्रव्य और पर्याय का कथन एक ही साथ नहीं हो सकता। अतः जब यह द्रव्य को मुख्य करके और पदार्थ को गौण रख कर कथन करता है तो समग्रग्राही नैगम नय होता है और जब पर्याय की मुख्यता से (द्रव्य को गौण रखकर) कथन करता है तो देशग्राही नैगम नय कहलाता है।[119]

(ख) संग्रह नय

सामान्य से सब का ग्रहण करने वाला संग्रह नय है। यह समूह की अपेक्षा से विचार करता है। जैसे एक "बर्तन" शब्द से लोटा, थाली, गिलास आदि सभी का कथन कर लेना - संग्रह नय है।[120]

(ग) व्यवहार नय

विशेष को ग्रहण करने वाला व्यवहार नय है। यह संग्रह नय के कथन में भेद प्रभेद करता है। जैसे - संग्रह नयानुसार बर्तन शब्द से लोटा, गिलास आदि सभी ग्रहण कर लिये जाते हैं, किन्तु व्यवहार नय "लोटा" को 'लोटा' कहता है और "गिलास" को "गिलास" तथा "थाली" को "थाली" आदि कहता है।

लोक व्यवहार को सुचारु रूप से चलाने के लिए व्यवहार नय अधिक उपयोगी और अनुकूल हैं।[121]

(घ) ऋजुसूत्रनय

वर्तमान को ग्रहण करने वाला है ऋजुसूत्र नय है। केवल वर्तमान की पर्याय को ही ग्रहण करता है। भूत, भविष्य की पर्यायों को गौण रखता है।[122] जैसे - इस समय मैं सुख पर्याय को भोगता हूँ।

(ङ) शब्द नय

व्याकरण सम्बन्धी लिंग, वचन, कालादि के दोषों को दूर करके वस्तु का कथन करता है। वह शब्द नय है।

स्वोपज्ञ भाष्य में शब्द नय के तीन भेद बताये गये हैं –

1. साम्प्रत 2. समभिरूढ़ 3. एवंभूत।

किन्तु साम्प्रत शब्द अधिक प्रचलित नहीं है। सामान्य ''शब्द नय'' ही प्रचलित है।

(च) समभिरूढ़ नय

जो शब्द जिस अर्थ में रूढ़ हो, उस को उसी रूप में यह नय ग्रहण करता है। जैसे ''गौ'' शब्द के गमनादि अनेक अर्थ है, किन्तु यह ''गाय'' के अर्थ में रूढ़ है। अत: समभिरूढ़ नय गो शब्द गाय की ही विवक्षा करता है, अन्य अर्थों की नहीं करता।[123]

(छ) एवंभूत नय

यह केवल वर्तमान काल की क्रिया को ही ग्रहण करता है - जैसे ''इन्द्र'' को तभी इन्द्र कहना, जब वह ऐश्वर्य सहित हो ''वज्रपाणि'' तभी कहना, जब उसके हाथ में वज्र हो।[124]

श्रुत के दो उपयोग होते हैं – सकलादेश और विकलादेश। सकलादेश को प्रमाण या स्याद्वाद कहते हैं। विकलादेश को नय कहते हैं। धर्मान्तर की अविवक्षा से एक धर्म का कथन, विकलादेश कहलाता है। स्याद्वाद या सकलादेश द्वारा सम्पूर्ण वस्तु का कथन होता है। नय अर्थात् विकलादेश द्वारा वस्तु के एक देश का कथन होता है। सकलादेश में वस्तु के समस्त धर्मों की विवक्षा होती है। विकलादेश में एक धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों की विवक्षा नहीं होती। विकलादेश इसलिए सम्यक् माना जाता है कि वह अपने विवक्षित धर्म के अतिरिक्त जितने भी धर्म हैं उनका प्रतिषेध नहीं करता। अपितु उन धर्मों के प्रति उसका उपेक्षा भाव होता है। शेष धर्मों से उसका कोई प्रयोजन नहीं होता। प्रयोजन के अभाव में वह उन धर्मों का न तो विधान करता है और न निषेध। सकलादेश और विकलादेश दोनों की दृष्टि में साकल्य और वैकल्य का अन्तर है। सकला का विवक्षा सकला धर्मों के प्रति है। जबकि विकलादेश की विवक्षा विकल धर्म के प्रति है यद्यपि दोनों यह जानते हैं कि वस्तु अनेक

धर्मात्मक है-अनेकान्तात्मक है, किन्तु दोनों के कथन की मर्यादा भिन्न-भिन्न है। एक का कथन वस्तु के सभी धर्मों का ग्रहण करता है, जबकि दूसरे का कथन वस्तु के एक धर्म तक ही सीमित है। अनेकान्तात्मक वस्तु के कथन की दो प्रकार की मर्यादा के कारण स्याद्वाद और नय का भिन्न-भिन्न निरूपण कथन की दो प्रकार की मर्यादा के कारण स्याद्वाद और नय का भिन्न-भिन्न निरूपण है।[125]

दार्शनिक जगत् को जैन दर्शन ने जो मौलिक एवं असाधारण देन दी है उसमें अनेकान्तवाद का सिद्धान्त सर्वोपरि है। अनेकान्तवाद जैन परम्परा की एक विलक्षण सूझ है, जो वास्तविक सत्य का साक्षात्कार करने में सहायक है। अनेकान्त का प्रतिपादक सिद्धान्त स्याद्वाद कहलाता है। 'स्याद्वाद' पद में दो शब्द है - स्याद् और वाद। स्यात् शब्द तिङन्त पद जैसा प्रतीत होता है किन्तु वास्तव में यह एक अव्यय है जो कथंचित, किसी अपेक्षा से, अमुक दृष्टि से इस अर्थ का द्योतक है।[126] 'वाद' का अर्थ सिद्धान्त, मत या प्रतिपादन करना होता है।

स्याद्वाद–

स्याद्वाद् पद का अर्थ हुआ सापेक्ष-सिद्धान्त, अपेक्षावाद, कथंचित्वाद या वह सिद्धान्त जो विविध दृष्टि बिन्दुओं से वस्तुतत्त्व का निरीक्षण-परीक्षण करता है।

जैनाचार्यों ने स्याद्वाद को ही अपने चिन्तन का आधार बनाया है। चिन्तन की यह पद्धति हमें एकांगी विचार और निश्चय से बचाकर सर्वाङ्गीण विचार के लिए प्रेरित करती है और इसका परिणाम यह होता है कि हम सत्य के प्रत्येक पहलू से परिचित हो जाते हैं। वस्तुतः समग्र सत्य को समझने के लिए स्याद्वाद दृष्टि ही एकमात्र साधन है। स्याद्वाद पद्धति को अपनाये बिना विराट सत्य का साक्षात्कार होना सम्भव नहीं। जो विचारक वस्तु के अनेक धर्मों को अपनी दृष्टि से ओझल करके किसी एक ही धर्म को पकड़कर अटक जाता है वह सत्य को नहीं पा सकता।[127] इसलिए आ. समन्तभद्र ने कहा है, 'स्यात्' शब्द सत्य का प्रतीक है[128] और इसी कारण जैनाचार्यों का यह कथन है कि जहाँ कहीं स्यात् शब्द का प्रयोग न दृष्टिगोचर हो वहां भी उसे अनुस्यूत ही समझ लेना चाहिये।[129]

स्याद्वाद जैन दर्शन की एक अन्यतम विशेषता है। स्याद्वाद के अभाव में जैन दर्शन की कल्पना भी कठिन है। एक आचार्य ने जैनधर्म का लक्षण ही यह दिया है–

स्याद्वादो वर्तते यस्मिन्, पक्षपातो न विद्यते।[130]
नास्त्यन्यपीडनं कञ्चित्, जैनधर्मः स उच्यते॥

स्याद्वाद का दूसरा नाम अनेकान्तवाद भी है। प्रश्नों का उत्तर देने की भगवान् महावीर की प्रणाली यही रही है। उदाहरण के लिये - गौतम स्वामी ने जब भगवान् से जीव की शाश्वतता-अशाश्वतता के विषय में जिज्ञासा की तो भगवान् ने फरमाया गौतम जीव स्यात् (कथंचित् किसी अपेक्षा से) शाश्वत है और स्यात् (किसी अपेक्षा से) अशाश्वत है।

किसी वस्तु का भिन्न-भिन्न दृष्टि बिन्दु से अवलोकन करना अथवा कथन करना स्याद्वाद का अर्थ है। इसे अनेकान्तवाद भी कहते हैं। एक ही वस्तु में भिन्न-भिन्न दृष्टि बिन्दुओं से संगत होने वाले भिन्न-भिन्न और विरुद्ध दिखाई देने वाले धर्मों के प्रामाणिक स्वीकार को स्याद्वाद कहते हैं। जिस प्रकार एक ही पुरुष पिता-पुत्र, चाचा, भतीजा, मामा, भानजा, श्वसुर-दामाद आदि परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले व्यवहार भिन्न-भिन्न सम्बन्ध की भिन्न- भिन्न अपेक्षा से संगत होने के कारण माने जाते हैं, उसी प्रकार एक ही वस्तु में, स्पष्टीकरण के लिये एक विशेष वस्तु को लेकर कहें तो एक घट में नित्यत्व और अनित्यत्व आदि विरुद्ध रूप से भासित होने वाले धर्म यदि भिन्न-भिन्न अपेक्षा दृष्टि से संगत होते हों तो उनका स्वीकार किया जा सकता है। इस तरह, एक वस्तु में भिन्न-भिन्न दृष्टि बिन्दुओं से संगत हो सके ऐसे भिन्न-भिन्न धर्मों के समन्वय करने को स्याद्वाद अथवा अनेकान्तवाद कहते हैं।

आगमों का यही स्यात् (कथंचित् - किसी अपेक्षा से) शब्द आगे चलकर जैन तर्कशास्त्र का मूलाधार बन गया है। जैनन्याय में इसका खुल कर प्रयोग हुआ है। वाद विवाद में भी और वस्तु के स्वरूप समझने में भी।

दार्शनिक युग में आते जाते यह स्याद्वाद सप्तभंगी के रूप में विकसित हो गया।

सप्तभंगी

संसार की प्रत्येक वस्तु के किसी भी एक धर्म के स्वरूप कथन में सात प्रकार के वचनों का प्रयोग किया जा सकता है, इसी को सप्तभंगी कहते हैं।[131] वस्तु के यथार्थ परिज्ञान के लिए नय और प्रमाण की नितान्त आवश्यकता है। नय और प्रमाण से ही यथार्थ ज्ञान होता है।[132] प्रमाण-वाक्य सकलादेश है, क्योंकि उससे समग्र धर्मात्मक वस्तु का प्रधान रूप से बोध होता है। नय वाक्य

विकलादेश है। क्योंकि उससे वस्तु के एक धर्म का ही बोध होता है। जैनदृष्टि से वस्तु अनन्त धर्मात्मक है।[133]

प्रश्न समुत्पन्न होने पर एक वस्तु में अविरोध भाव से जो एक धर्म विषयक विधि और निषेध की कल्पना की जाती है, उसे सप्तभंगी कहा जाता है।[134]

सप्तभंगी का अर्थ है - सात प्रकार के भंग विकल्प-वाक्य-विन्यास-बोलने और उत्तर-प्रत्युत्तर की विधि।

वस्तुगत अनन्तधर्मों (गुणों-पर्यायों) में से किसी एक के विधिनिषेध, उभयात्मक तथा अवक्तव्य अविरोधात्मक कथन के लिए सप्तभंगी बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। सात भंगों[135] का संक्षिप्त विवेचन –

(क) स्यादस्ति
(ख) स्यान्नास्ति
(ग) स्यादस्ति-नास्ति
(घ) स्याद् वक्तव्य
(ङ) स्यादस्ति अवक्तव्य
(च) स्यान्नास्ति अवक्तव्य
(छ) स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य।[136]

(क) स्यादस्ति

वस्तु स्व-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से है। उदाहरण के लिए -स्यादस्ति घटः है, वर्तमान काल में है, अपने भाव में है, यह "स्यादस्ति है।"[137]

(ख) स्यान्नास्ति

वस्तु पर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से नहीं है। उदाहरण के लिए स्यात-नास्तिघटः। अन्य स्थान, यथा-पर्वत पर नहीं है, भूतकाल में नहीं था, अन्य भाव से नहीं है, यह स्यान्नास्ति है।[138]

(ग) स्यादस्ति नास्ति

किसी अपेक्षा से वस्तु है और किसी अपेक्षा से नहीं भी है। जैसे - स्यादस्ति नास्ति घटः।[139]

(घ) स्यादवक्तव्य

किसी अपेक्षा से वस्तु का कथन नहीं किया जा सकता।

सत्य यह है कि वस्तु का कितना भी वर्णन किया जाये, किन्तु वह रहेगा आंशिक ही, पूर्ण वर्णन नहीं किया जा सकता। जैसे - स्यादवक्तव्य घटः।[140]

(ङ) स्यादस्ति अवक्तव्य

वस्तु है किन्तु अवक्तव्य है। जैसे - स्यादस्ति अवक्तव्य घटः।[141]

(च) स्यादन्नास्ति अवक्तव्य

वस्तु नहीं है किन्तु अवक्तव्य भी है जैसे - "स्यादन्नास्ति अवक्तव्य घटः।"[142]

(छ) स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य

वस्तु है भी, नहीं भी है और अवक्तव्य है। जैसे - स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य घटः।[143]

किसी भी प्रश्न का उत्तर देते समय इन सात भंगों में से किसी न किसी एक भंग का उपयोग करना पड़ता है। प्रस्तुत विषय को सुगमतापूर्वक समझने के लिए यहाँ पर एक स्थूल और व्यावहारिक उदाहरण देते हैं। किसी मरणासन रोगी के बारे में पूछा जाये कि उसकी हालत कैसी है? तो उसके जवाब में वैद्य अधोलिखित सात उत्तरों में से एक उत्तर देगा –

1. अच्छी हालत है (अस्ति)
2. अच्छी हालत नहीं है (नास्ति)
3. कल से तो अच्छी है (अस्ति), परन्तु इतनी अच्छी नहीं है कि आशा रखी जा सके (नास्ति) (अस्ति, नास्ति)
4. अच्छी या बुरी कुछ नहीं कहा जा सकता (अवक्तव्य)
5. कल से तो अच्छी है (अस्ति), फिर भी कुछ नहीं कहा जा सकता कि क्या होगा (अवक्तव्य) (अस्ति अवक्तव्य)
6. कल से तो अच्छी नहीं है (नास्ति), फिर भी कहा नहीं जा सकता कि क्या होगा? (अवक्तव्य) (नास्ति अवक्तव्य)
7. वैसे तो अच्छी नहीं है (नास्ति, परन्तु कल की अपेक्षा तो अच्छी है (अस्ति) तो भी कहा नहीं जा सकता कि क्या होगा? (अवक्तव्य) (अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य)।[144]

समीक्षा

कोई भी स्थूल वस्तु जब बिखर जाती है तब उसके अणु अथवा अणुसंघात स्वतन्त्ररूप से अथवा दूसरी वस्तुओं के साथ मिलकर नया परिवर्तन खड़ा करते हैं। संसार के पदार्थ संसार में ही स्थूल अथवा सूक्ष्म रूप से इतस्ततः विचरण करते हैं और उनके नए-नए रूपान्तर होते रहते हैं। दीपक बुझ गया इसका अर्थ यह नहीं समझना कि दीपक का सर्वथा नाश हो गया। दीपक के परमाणु समूह कायम है। जिस परमाणु संघात से दीपक जला था वही परमाणु संघात रूपान्तरित हो जाने से दीपक रूप से नहीं दीखता और इसीलिये अन्धकार का अनुभव होता है। सूर्य की गर्मी से पानी सूख जाता है, इससे पानी का अत्यन्त अभाव नहीं हो जाता। वह पानी रूपान्तर से बराबर कायम ही है। जब एक वस्तु के स्थूल रूप का नाश हो जाता है तब वह वस्तु सूक्ष्म अवस्था में अथवा अन्य रूप में परिणत हो जाती है, जिससे पहले देखे हुए उसके रूप में वह न दीखे यह सम्भव है। कोई मूल वस्तु नई उत्पन्न नहीं होती और किसी मूल वस्तु का सर्वथा नाश भी नहीं होता। यह एक अटल सिद्धान्त है –

नासतो विद्यते भावों ना भावों विद्यते सतः।

उत्पत्ति और नाश पर्यायों का होता है। दूध का बना हुआ दही नया उत्पन्न नहीं हुआ है, दूध का ही परिणाम दही है। यह गोरस दूध रूप से नष्ट होकर दही रूप से उत्पन्न हुआ है, अतः ये दोनों गोरस ही है।

इस प्रकार यह तथ्य भी सर्वत्र समझ लेने का है कि मूल तत्व तो वैसे के वैसे ही रहते हैं और उनमें जो अनेकानेक परिवर्तन-रूपान्तर होते रहते हैं अर्थात् पूर्व परिणाम का नाश और दूसरे परिणाम का प्रादुर्भाव होता रहता है वह विनाश और उत्पाद है। इस से सब पदार्थ उत्पाद, विनाश और स्थिति (ध्रुवत्व) स्वभाव के ठहरते हैं। जिसका उत्पाद और विनाश होता है उसे "पर्याय" कहते हैं और जो मूल वस्तु स्थायी रहती है उसे "द्रव्य" कहते हैं। द्रव्य की अपेक्षा से (मूलवस्तु तत्त्व से) प्रत्येक पदार्थ नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य। इस तरह प्रत्येक वस्तु का एकान्त नित्य नहीं, एकान्त अनित्य नहीं किन्तु नित्यानित्य रूप से अवलोकन अथवा निरूपण करना "स्याद्वाद" है।

स्याद्वाद के बारे में कुछ लोगों का ऐसा कहना है कि वह निश्चयवाद नहीं है, किन्तु संशयवाद है; अर्थात् एक ही वस्तु को नित्य भी मानना और अनित्य भी मानना, अथवा एक ही वस्तु को सत् भी मानना और असत् भी

मानना संशयवाद नहीं तो और क्या है। परन्तु यह कथन अयुक्त है ऐसा अब तक के विवेचन से जाना जा सकता है। जो संशय के स्वरूप को जानता है वह इस स्याद्वाद को संशयवाद कहने का साहस कभी नहीं कर सकता। रात में काली रस्सी पर दृष्टि पड़ने पर "यह सर्प है या रस्सी" ऐसा सन्देह होता है। उक्त संशय में सर्प और रस्सी दोनों वस्तुओं में से एक भी वस्तु निश्चित नहीं होती। एक से अधिक वस्तुओं की ओर दोलायमान बुद्धि जब किसी एक वस्तु को निश्चयात्मक रूप से समझने में असमर्थ होती है तब संशय होता है। संशय का ऐसा स्वरूप स्याद्वाद में नहीं बतलाया जा सकता। स्याद्वाद तो एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न अपेक्षा दृष्टि से देखने को, अनेकांगी अवलोकन द्वारा निर्णय करने को कहता है। विभिन्न दृष्टि बिन्दुओं से देखने पर समझ में आता है कि एक ही वस्तु अमुक अपेक्षा से "अस्ति" है यह निश्चित बात है और दूसरी दृष्टि द्वारा "नास्ति" है यह भी निश्चित बात है। इसी भांति एक ही वस्तु एक दृष्टि से नित्य रूप से भी निश्चित है दूसरी दृष्टि से अनित्य रूप से भी निश्चित है इस तरह एक ही पदार्थ में भिन्न-भिन्न अपेक्षा दृष्टि से भिन्न-भिन्न धर्म (विरुद्ध जैसे प्रतीत होने वाले धर्म भी) यदि संगत प्रतीत होते हों तो उनके प्रामाणिक स्वीकार को, जिसे स्याद्वाद कहते हैं संशयवाद नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः स्याद्वाद संशयवाद नहीं, किन्तु सापेक्ष निश्चयवाद है।

विचार करने पर देखा जा सकता है कि सप्तभंगी में मूल भंग तो तीन ही है : अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य। अवशिष्ट चार भंग तो इन तीन के ही संयोग से बने हैं। सप्तभंगी की विवेचना भगवती सू. (12.10.469) में भी पाई जाती है। किसी भी प्रश्न का उत्तर देते समय इन सात भंगों में से किसी न किसी एक भंग का उपयोग करना पड़ता है।

जिस तरह "प्रमाण" शुद्ध ज्ञान है उसी तरह "नय" भी शुद्धज्ञान है। फिर भी इन दोनों में अन्तर इतना ही है कि एक शुद्ध ज्ञान अखण्डवस्तु स्पर्शी है, जबकि दूसरा वस्तु के अंश को ग्रहण करता है। परन्तु मर्यादा का तारतम्य होने पर भी ये दोनों ज्ञान है शुद्ध है प्रमाणरूप शुद्ध ज्ञान का उपयोग "नय" द्वारा होता है, क्योंकि प्रमाणरूप शुद्ध ज्ञान को जब हम दूसरे के आगे प्रकट करते हैं तब वह एक खास मर्यादा में आ जाने से "नय" द्वारा होता है, क्योंकि प्रमाणरूप शुद्ध ज्ञान को जब हम दूसरे के आगे प्रकट करते हैं जब वह एक खास मर्यादा में आ जाने से "नय" बन जाता है।

सम्यग्चारित्र और उसके भेद

सम्यग्चारित्र

जिससे कर्मों का आस्रव न हो उसे सम्यक् चारित्र कहते हैं।[145]

मन, वचन, काय से न पाप क्रियाओं को करना, न करवाना, न अनुमोदना करना, तीनों ही पाप क्रियाओं का त्याग करना ही सम्यक्-चारित्र कहलाता है।[146]

जो संसार के कारणों को नष्ट करने के लिए बाह्य और अन्तरंग क्रियाओं का निरोध होता है वही उत्कृष्ट सम्यक् चारित्र है।[147]

इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में समता भाव धारण करने को सम्यग्चारित्र कहते हैं। यह सम्यग्-चारित्र धारण करने वाले यथार्थ रूप से तृष्णा रहित, मोक्ष की इच्छा करने वाले निर्वस्त्र (केवल दिगम्बर परम्परा का अनुसार है श्वेताम्बर मान्यता यह नहीं मानती कि निर्वस्त्र वाला ही सम्यक्चारित्र धारण कर सकता है) और हिंसा का मूलरूप से त्याग करने वाले साधक होते हैं।[148]

सम्यग् चारित्र है - मन, वचन, काय से शुभ कर्मों में प्रवृत्ति करना। सम्यग्चारित्र नैतिक अनुशासन के नियमों का प्रतिनिधित्व करता है जो उत्तम व्यवहार का नियमन करता है और मन-वचन-काय की गतिविधियों की संरचना करता है इससे सम्यग्ज्ञान की उपलब्धि अभिव्यंजित होती है और सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन की उपस्थिति आवश्यक मानता है। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन जब एक साथ होते है, तब वे सम्यक् चारित्र का पथ निर्देशन करते हैं। आत्मा सम्यक् चारित्र का अनुगमन तब कर सकता है, जब वह सम्यग्दर्शनवान् और सम्यग्ज्ञानवान् होता है। इस तरह मुक्ति प्राप्त करने के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र मूल मार्ग है।[149]

सम्यग्चारित्र दो प्रकार का है - व्यवहार चारित्र और निश्चय चारित्र। व्यवहार नय से पाप क्रिया के त्याग को चारित्र कहते हैं इसलिए इस चारित्र में व्यवहारनय के विषयभूत अनशन, ऊनोदरी आदि को तप कहा जाता है, तथा निश्चय नय से निज स्वरूप में अविचल स्थिति को चारित्र कहा है। इसलिए इस चारित्र में निश्चयनय के विषयभूत सहज निश्चयनयात्मक परमभाव स्वरूप परमात्मा में प्रतपन को तप कहा है। व्यवहारनय के अनुसार चारित्र दो प्रकार का है - एक श्रावकों के लिए और दूसरा साधुओं के लिए हिंसादि पापों के परित्याग रूप से यह चारित्र दो प्रकार का है - सकल चारित्र और विकल

चारित्र। सकल चारित्र सम्पूर्ण चारित्र कहलाता है जो महाव्रत रूप होता है तथा बाह्याभ्यन्तर परिग्रह से रहित साधुओं के होता है। विकल चारित्र एक देश चारित्र कहलाता है जो अणुव्रत रूप होता है और परिग्रह सहित गृहस्थों के होता है।[150]

एक आदर्श साधक सांसारिक सुखों को छोड़कर दुर्धर तपश्चरण को स्वीकार करता है और कर्माश्रव को रोककर कर्मनिर्जरा का प्रयत्न करता है वह उच्चतर चारित्र का पालन करने के हेतु पाँच महाव्रतों (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, पाँच समितियाँ - ईर्या, भाषा, एषणा, आदान, निक्षेपण और प्रतिष्ठापना तथा त्रिगुप्तियाँ - मन, वचन और काय का परिपालन करता है।

उत्तराध्ययन सूत्र में चारित्र के पाँच भेद कहे गये हैं –

(क) सामायिक चारित्र (ख) छेदोपस्थापना चारित्र (ग) परिहार विशुद्धि चारित्र (घ) सूक्ष्म सम्पराय चारित्र (ङ) यथाख्यात चारित्र।[152]

सम्यग्चारित्र की भावनाएँ

चलने आदि के विषयों में विवेक रखना अर्थात् ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और प्रतिष्ठापन इन पाँच समितियों का पालन करना, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति का पालन करना तथा क्षुधा-पिपासा आदि बाईस परीषहों को सहन करना ये चारित्र की भावनाएँ कही जाती हैं।[153]

समीक्षा

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र, ये तीनों मोक्षमार्ग अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति के साधन व उपाय हैं। तीनों संयुक्त रूप से मोक्ष के उपाय कहे जाते हैं। ये तीनों मार्ग पृथक्-पृथक् नहीं, बल्कि समवेत रूप में कार्यकारी होते हैं अर्थात् इन तीनों में से कोई एक या दो आदि पृथक्-पृथक् रहकर मोक्ष के कारण नहीं है, बल्कि समुदित रूप से एक रस होकर ही ये तीनों युगपत् मोक्ष मार्ग है। क्योंकि किसी वस्तु को जानकर उसकी श्रद्धा या रुचि हो जाने पर उसे प्राप्त करने के प्रति आचरण होना भी स्वाभाविक है। आचरण के बिना ज्ञान, रुचि व श्रद्धा यथार्थ नहीं कहे जा सकते। भले ही व्यवहार से इन्हें तीन कह सकते हैं परन्तु वास्तव में यह एक अखण्ड चेतन के ही सामान्य व विशेष अंश है।

सम्यग्दर्शनरहित जीव को सम्यग्ज्ञान प्राप्त नहीं होता। सम्यग्ज्ञान के बिना सम्यग्चारित्र नहीं हो सकता। सम्यग्चारित्र के बिना मोक्ष प्राप्त नहीं किया जा

सकता। यदि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर लिया किन्तु सम्यग्चारित्र अर्थात् आचरण नहीं किया तब सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान का कोई महत्त्व नहीं। न ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। सम्यग्चारित्र के द्वारा ही जीव पूर्व किये हुए कर्मों की निर्जरा करता है। चाहे वह निर्जरा तप के द्वारा करें चाहे पाँच महाव्रतों के पालन से करें, चाहे गृहस्थ के बारह अणुव्रतों के पालन से करें, चाहे वह दान से निर्जरा करता है। यह सभी निर्जरा के साधन आदि सम्यग्चारित्र में गिने जाते हैं।

सम्यग्दर्शन, सम्यज्ञान और सम्यग्चारित्र तीनों के संयोग से ही जीवात्मा मोक्ष प्राप्त करके जन्म-मरण के चक्र से रहित हो सकता है। ये तीनों ही मोक्ष प्राप्ति में सम्मिलित रूप से कारण (हेतु) हैं न कि पृथक्-पृथक् रूप से कारण हैं।

संदर्भ

1. आ.पु. 4.15-17
2. आ.पु. 4.18-19
3. आ.पु. 4.20-21
4. आ.पु. 4.22
5. आ.पु. 4.23
6. आ.पु. 4.24-25
7. आ.पु. 4.26
8. आ.पु. 4.27-28
9. आ.पु. 4.29-30
10. आ.पु. 4.31-32
11. आ.पु. 4.33-34
12. आ.पु. 4.35-36
13. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। -त.सू. 1.1
14. आ.पु. 1.4; 2.64; 11.59; 17.61; 229; 25.76
15. तत्त्वार्थाधिगमसार-8.2, 4
16. त.सू. (के.मु.) 1.1 (वि.)
17. आप्तागम पदार्थानां श्रद्धानं परया मुदा। -आ.पु. 24.117
18. जीवादिसप्तके नत्त्वेश्रद्धानं यत् स्वतोऽञ्जसा।
परप्रणयनाद् वा तत् सम्यग्दर्शनमुप्यते।। -आ.पु. 47.304

19. आप्तागमपदार्थानां श्रद्धानं परया मुदा।
सम्यग्दर्शनमाम्नातं तन्मूले ज्ञानचेष्टिते।। -आ.पु. 9.121
20. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। -त.सू. 1.2; पंचास्ति- 164; प्रसा. 167; उत्तरा.सू. 28.15
21. तन्निसर्गादधिगमाद्वा -त.सू. 1.3
22. *Studies in Jain Philosophy* : Nath Mal Tatia, p. 149
23. रत्न.क.श्रा. (स.भ) पृ. 6.12
24. वही, पद्य 25
25. (क) वही पृ. 11-18; (ख) उत्तरा.सू. 28.31; (ग) मू.चा. 20
26. रत्न.क.श्रा. 28.16
27. द.पा., गा. 19
28. मो.पा.गा. 90
29. नि.सा., 5
30. (क) उत्तरा.सू., 28.14-15; (ख) धवला 1.1.1.144
31. अ.श्रा. 3
32. वसुनन्दि श्रावकाचार, 1.17
33. द.स., गा. 41
34. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय -गा.22
35. सम्यग्दर्शनमाम्नातं प्रथमं मुक्तिसाधनम्। -आ.पु. 24.117
36. सम्यग्दर्शनमाम्नातं तन्मूले ज्ञानचेष्टिते। -आ.पु. 9.121
37. आत्मादिमुक्तिपर्यन्ततत्त्वश्रद्धानमञ्जसा।
त्रिभिर्मूढैरनालीढमष्टाङ्ग विद्धिदर्शनम्।। -आ.पु. 9.122
38. तस्य निःशङ्कितत्वादीन्यष्टावङ्गानिनिश्चिनु।
यैरंशुभिरिवाभाति रत्नं सद्दर्शनाह्वयम्।। -आ.पु. 9.124 (टीका)
39. आ.पु. 9.125
40. त.सू. - (के.मु.) 1.3 (वि.)
41. आ.पु. 9.125
42. त.सू. - (के.मु.) 1.3 (वि.);
शङ्का जहीहि सन्मार्गे भोगकाङ्क्षामपाकुरु। -आ.पु. 9.125
43. विचिकित्सादद्वयं हित्वा भजस्वामूढदृष्टिताम्। -आ.पु. 9.125
44. त.सू. - (के.मु.) 1.3 (वि.)
45. आ.पु. 9.125
46. त.सू. - (के.मु.) 1.3 (वि.)

47. त.सू. -(के.मु.) 1.3 (वि.)
48. कुरुपबृहंण धर्म मलस्थाननिगूहनैः। -आ.पु. 9.126
49. त.सू. -(के.मु.) 1.3 (वि.)
50. मार्गाच्चलति धर्मस्थे स्थितीकरणमाचर। -आ.पु. 9.126
51. त.सू. -(के.मु.) 1.3 (वि.)
52. रत्नत्रितयवत्यार्यसङ्घे वात्सल्यमातनु। -आ.पु. 9.127; त.सू. 1.3
53. त.सू. -(के.मु.) 1.3 (वि.)
54. विधेहि शासने जैने यथाशक्तिप्रभावनाम्। -आ.पु. 9.127
55. त.सू. -(के.मु.) 1.3 (वि.)
56. त.सू. -(के.मु.) 1.3 (वि.)
57. तस्य प्रशमसंवेगावास्तिक्यं चानुकम्पनम्।
गुणाः श्रद्धारुचिस्पर्शप्रत्ययाश्चेति पर्यायाः।। -आ.पु. 9.123
58. त.सू. -(के.मु.) 1.3 (वि.)
59. वही।
60. त.सू. -(के.मु.) 1.3 (विवेचन)
61. वही।
62. त.सू. -(के.मु.) 1.3 (वि.)
63. आ.पु. 9.131-144
64. संवेगप्रशमस्थैर्यमसंमूढत्वमस्मयः।
अस्तिक्यमनुकम्पेति ज्ञेयाः सम्यक्त्वभावनाः। -आ.पु. 21.97
65. ज्ञानं जीवादि भावानां याथात्म्यस्य प्रकाशकम्।
अज्ञानध्वान्त संतान प्रक्षयानन्तरोद्भवम्। -आ.पु. 24.118
66. जै.सि.को. (भा. 2), पृ. 255
67. पं.का. 107
68. रा.वा. 1.1-5; पं.सं. 6
69. तेषां जीवादिसप्तानां संशयादि विवर्जनात्। -आ.पु. 47.305
याथात्म्येन परिज्ञानं सम्यग्ज्ञानं समादिशेत्। -आ.पु. 47.306
70. मतिश्रुतावधिमनः पर्यायकेवलानि ज्ञानम्। -त.सू. 1.9
71. त्रिज्ञानविमलालोकः कालान्ते प्रापमिन्द्रताम्। -आ.पु. 7.24
72. उत्तरा.सू. 28.4; नन्दी.सू. 1.1
73. नन्दी सू. -(मतिज्ञान प्रकरण) गा. 80
74. मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ता ऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्। -त.सू. 1.13

75. आ.पु. 2.45; 17.49; 21.104
76. त.सू. -(के.मु.) 1.9 (वि.)
77. जै.द.स्व. और वि. (दे.मु.) पृ. 353-354
78. नन्दी.सू. (आ.आ.रा.जी.) (ज्ञा.प्र.) पृ. 62
79. त.सू. -(के.मु.) 1.9 (वि.)
80. नन्दी.सू. (ज्ञा.प्र.) सू. 1
81. नमोऽवधिजुषे तुभ्यं नमो देशावधित्विषे।
परमावधये तुभ्यं नमः सर्वावधिस्पृशे।। -आ.पु. 2.66;
पुनरपरेऽवधेस्त्रयो भेदा देशावधिः परमावधिः सर्वावधिश्चेति। -रा.वा. 1.22.5 (वृ.स.)
82. जै.सि.को. (भा. 1), पृ. 195
83. आ.पु. 5.270
84. नन्दी सू. 6
85. त. सू. 1.21
86. नन्दी सू. आ.आ.रा. जी 6 (टी.) 87.
आ.पु. 18.13
88. त.सू. -(के.मु.) 1.9 (वि.)
89. जै.द. स्व. और वि. (दे.मु.) पृ. 36
90. वही, पृ. 361-362
91. ति.प. 4.973; ध 1.1.1.115
92. नमोऽस्त्वृजुमते तुभ्यं नमस्ते विपुलात्मने। -आ.पु. 2.68;
ऋजुविपुलमती मनःपर्यायः। -त.सू. 1.24
93. कर्म.ग्र. (भाग 1), पृ. 53
94. जै.द. स्व. और वि. (दे.मु.) पृ. 363
95. नन्दी सू. - (आ.आ.रा. जी) (ज्ञा.प्र.) पृ. 121
96. जै.द.स्व. और विश्ले. (दे.मु.) पृ. 364
97. त.सू. -(के.मु.) 1.9 (वि.)
98. वाचनापृच्छने सानुप्रेक्षणं परिवर्तनम्।
सद्धर्मदेशनं चेति ज्ञातव्या ज्ञानभावनाः।। -आ.पु. 21.96
99. तत् प्रमाणे। -त.सू. 1.10
100. प्रत्यक्षश्च परोक्षश्च द्विधा ते ज्ञानपर्ययः। -आ.पु. 2.61
101. आधे परोक्षम्। -त.सू. 1.11
102. प्रत्यक्षमन्यत्। -त.सू. 1.12

103. आ.पु. 21.110
104. त.सू. (के.मु.) 1.6 (वि.)
105. भ.द. (बल. उपा.) पृ. 158
106. धवला 1.1.1.1, 3.4.10
107. कषाय पाहुड 1.13-14, 8.210 गा. 118-259
108. तत्वार्थाधिगम भाष्य 1.35
109. नयचक्रश्रुत, पृ. 1, न.वृ. पृ. 526, सू. 6
110. स्याद्वाद मंजरी 28.307.15
111. नित्यप्रवृत्तशब्दत्वाद् द्रव्यार्थिकनयाश्रितम्।
वीचीनां क्षणभङ्गित्वात् पर्यायनयगोचरम्।। -आ.पु. 28.89
112. त.सू. (सू.ला.सं.) 1.35-36
113. सप्तनय संग्रहः। -आ.पु. 25.222;
नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दा नयः। -त.सू. 1.34
114. आद्य शब्दौ द्वित्रिभेदौ। -त.सू. 1.35
115. विशेषावश्यक भाष्य - 2.2682-83
116. त.सू. (के.मु.) 1.35 (वि.)
117. वही।
118. त.सू. (के.मु.) 1.35 (वि.)
119. वही।
120. वही।
121. वही।
122. त.सू. (के.मु.) 1.35 (वि.)
123. वही।
124. स्याद्वादः सकलादेशो नयो विकलसंकथा-लघीयस्त्रय 3.6.62; जै.द. (मो.ला.मे.) पृ.328
125. (क) अष्टसहस्री पृ. 296; (ख) पञ्चास्तिकाय टीका श्री अमृतचन्द।
126. जै. द स्व. और वि. पृ. 231
127. स्याकारः सत्यलाञ्छनः-लघीयस्त्रय, श्लो. 22
128. सोऽप्रयुक्तोऽपि सर्वत्र स्यात्कारोऽर्थात्प्रतीयते। – वही
129. जै. द. (न्या. वि श्री) पृ. 318
130. त.सू. (के.मु.) 1.35 (वि.)।
131. (क) सप्तभिः प्रकारैर्वचन-विन्यासः सप्तभंगी तिगीयते। -स्याद्वाद मंजरी का. 23 की टीका

(ख) सप्तानां भङ्गानां वाक्यानां, समाहारः समूहः सप्तभङ्गीति। -सप्तभंगीतरंगिणी पृ. 1

132. त.सू. 1.6

133. अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वम्-अन्ययोगव्यवच्छेदिकाकारिका 22

134. प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधविकल्पना सप्तभंगी। -तत्त्वार्थ रा.वा. 1.6.51

135. उत्पादादित्रयोद्वेलं सप्तभङ्गीबृहद्ध्वनिम्। -आ.पु. 21.179
सप्तभंगयात्मिकेयं ते भारती विश्वगोचरा। -आ.पु. 33.135

136. स्यादस्त्येव हि नास्त्येव स्यादवक्तव्यमित्यपि।
स्यादस्ति नास्त्यवक्तव्यमिति ते सार्वभारती।। -आ.पु. 33.136

137. त.सू. (के.मु.) 1.35 (वि.)

138. त.सू. (के.मु.) 1.35 (वि.)

139. वही।

140. वही।

141. वही।

142. वही।

143. वही।

144. जै.द (न्या वि.श्री) पृ. 345

145. यथाकर्मास्रवो न स्यात् चारित्रं संयमस्तथा। -आ.पु. 47.306

146. चेतसा वचसा तन्वा कृतानुमतकारितैः।
पापक्रियाणां यस्त्यागः सच्चारित्र। -तत्त्वानुशासन (नागसेन सूरिकृत) 27

147. द.सं. 46

148. माध्यस्थलक्षणं प्राहुश्चारित्रं वितृषो मुनेः।
मोक्षकामस्य निर्मुक्तचेलस्याहिंसकस्य तत्।। -आ.पु. 24.119

149. उत्तरा.सू. 28.38, 35-36; सू. कृताङ्ग. 1.12.1; वि.भा. 3.1126, 1158

150. रत्न.श्रा. 50; पुरुष.सि. 40

151. प्रवचनसार 3.40; नियमसार 70

152. उत्तरा.सू. 28.32;
सामायिकच्छेदोपस्थाप्यपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसम्परायययथाख्यातानि चारित्रम्।
-त.सू. 9.18

153. ईर्यादि विषया यत्ना मनोवाक्कायगुप्तयः।
परिषहसहिष्णुत्वमिति चारित्रभावनाः।। -आ.पु. 21.98

सप्तम अध्याय

आदिपुराण में मोक्ष और सिद्धशिला विमर्श

मोक्ष

मोक्ष का शाब्दिक अर्थ

मोक्ष शब्द संस्कृत की "मुच्" धातु से निष्पन्न हुआ है जिसका शाब्दिक अर्थ है-मुक्त करना, स्वतन्त्र करना, छोड़ देना और ढीला कर देना। तात्पर्य है – संसार से निवृत्ति और आध्यात्मिक मुक्ति। मोक्ष का अर्थ है - आध्यात्मिक परिपूर्णता, अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति एवं दु:खों की समाप्ति।[1]

मोक्ष का स्वरूप

"मोक्ष आसने" धातु से बना है। अथवा जिनसे कर्मों का समूल उच्छेद हो और कर्मों का पूर्ण रूप से छूटना मोक्ष है। जिस प्रकार बन्धन युक्त प्राणी बेड़ी आदि से छूट जाने पर स्वतन्त्र होकर यथेच्छ गमन करता हुआ सुखी होता है। उसी प्रकार कर्मबन्धन का वियोग हो जाने पर आत्मा स्वाधीन होकर आत्यन्तिक ज्ञान दर्शन रूप अनुपम सुख का अनुभव करता है। स्पष्ट है कि कर्मों से मुक्त हुए बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। कर्म बन्धन में बन्धे रहने पर आत्मा संसार में परिभ्रमण करती रहती है। कर्मों के स्वतन्त्र हो जाने पर ही आत्मा मोक्ष प्राप्त कर सकता है।[2]

मोक्ष बन्ध का प्रतिपक्षी तत्त्व है। समस्त कर्मा अर्थात् आठ कर्मों के (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र, अन्तराय) बन्ध वाला जीव, संवर और निर्जरा के द्वारा पूर्णरूप से कर्मबन्धन से छूट जाता है। अर्थात् आत्मा अपने शुद्ध असली स्वरूप में आ जाता है। तब वह अवस्था मोक्ष कहलाती है। मोक्ष किसी स्थान को नहीं, अपितु कर्मरहित जीव की शुद्धावस्था को ही मोक्ष कहते हैं।[3]

मोक्ष को आत्मा की निर्दोष और सर्वोच्च अवस्था के रूप में माना गया है। यह अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन एवं अनन्त सुख से प्रकाशित होता है। वह

पूर्ण, निश्चल और स्थिरावस्था है। आत्मा का अस्तित्व उसके विशुद्ध रूप में ही है, जिसे मोक्ष कहा जाता है यह अवस्था आत्मा की पूर्ण विकसित अवस्था है। मुक्तात्मा सदैव सिद्धशिला पर रहता है और संसार में कदापि लोट कर नहीं आता है। जिस तरह दग्ध बीज पुनः अंकुरित नहीं होते उसी तरह जब कर्मरूपी बीज पूर्णतः दग्ध हो जाते हैं तो मुक्तात्मा संसार में पुनः वापिस नहीं आते।[4]

बन्ध हेतुओं, मिथ्यात्व व कषायादि के अभाव और निर्जरा से सब कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होना ही मोक्ष है। स्पष्ट है कि कर्मों की सम्पूर्ण रूपेण निर्जरा होने के उपरान्त ही आत्मा को मोक्ष ही प्राप्ति होती है।[5]

मोक्ष के भेद

1. भाव मोक्ष
2. द्रव्य मोक्ष।

1. **भाव मोक्ष** – क्षायिक ज्ञान, दर्शन व यथाख्यात चारित्र नाम वाले (शुद्ध रत्नत्रयात्मक) जिन परिणामों से निरविशेष कर्म आत्मा से दूर किये जाते हैं, उन परिणामों को भाव मोक्ष कहते हैं। भाव मोक्ष की प्राप्ति-ज्ञानावरण दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय-इन चार घाती कर्मों के विनाश से होती है।[6]

2. **द्रव्य मोक्ष** – सम्पूर्ण अष्ट कर्मों का आत्मा से अलग हो जाना द्रव्य मोक्ष है। द्रव्य मोक्ष की प्राप्ति (वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र) इन चार अघाति कर्मों के नष्ट होने से प्राप्त होती है। इसलिए पूर्ण मुक्ति तभी कहलाती है, जब घाती और अघाती दोनों प्रकार के कर्मों का विनाश हो जाता है।[7]

शुद्ध रत्नत्रय की साधना से अष्ट कर्मों की आत्यन्तिकी निवृत्ति द्रव्य मोक्ष है और रागादि भावों की निवृत्ति भाव मोक्ष है। मनुष्य गति से ही जीव को मोक्ष होना सम्भव है। आयु के अन्त में उसका शरीर कपूरवत् उड़ जाता है और वह स्वाभाविक ऊर्ध्वगति के कारण लोक शिखर पर जा विराजते हैं। जहाँ वह अनन्तकाल तक अनन्त अतीन्द्रिय सुख का उपभोग करते हुए अपने चरम शरीर के आकार रूप से स्थित रहते हैं और पुनः शरीर धारण करके जन्म-मरण के चक्कर में कभी नहीं पड़ते। ज्ञान ही उनका शरीर होता है। जैन दर्शनकार उसके प्रदेशों की सर्व व्यापकता स्वीकार नहीं करते। न ही उसे निर्गुण व शून्य मानते हैं। उसके स्वभाव भूत अनन्त ज्ञानादि आठ प्रसिद्ध गुण हैं। जितने जीव मुक्त होते हैं उतने ही निगोद राशि से निकल कर व्यवहार राशि में आ जाते हैं, इससे लोक जीवों से रिक्त नहीं होता।[8]

मुक्तात्मा

मुक्तात्मा अस्पर्शी होता है। स्वाभाविक रूप से स्थित होता है, सभी प्रकार के विकारों से मुक्त होता है और गतिहीन समुद्र जैसा होता है। वह समस्त अशुद्ध तत्त्वों से मुक्त है, विशुद्ध है, निष्कलंक है, और इसलिए निराबाधित है और परमानन्दावस्था में लीन है।[9] वह चार घाती (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय) और चार अघाती (वेदनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र) कर्मों से मुक्त होता है। कर्म उसे पुनः बाँधने में असमर्थ होते हैं।

कर्म बन्धन टूटने से जिसका आत्मीय स्वरूप प्रकट हो जाता है, वे मुक्त आत्माएँ कहलाते हैं।[10] ऐसे आत्मा के शरीरजन्य क्रियाएँ नहीं होते। ये जन्म मृत्यु आदि के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं। इसलिए उन्हें सत् चित्-आनन्द कहा जाता है। मुक्तात्मा उपाधि रहित होते हैं। इनके स्थूल सूक्ष्मादि किसी प्रकार के शरीर नहीं होते।[11]

जिन आत्माओं के द्रव्य व भाव दोनों कर्म समूलतः नष्ट हो जाते हैं, वे मुक्त कहलाते हैं।[12]

मुक्त पुरुष अयोगी केवली 14वें गुणस्थान में पहुँच कर सभी प्रकृतियों का नाश करके, लेपरहित, शरीररहित, रोगरहित, सूक्ष्म, अव्यक्त होते हुए लोक के अनन्तभाग में निवास करते हैं। कर्म से रहित होने के कारण जिनकी आत्मा अतिशय शुद्ध हो जाती है। ऐसे सिद्ध भगवान् ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने के कारण एक समय में ही लोक के अन्तभाग को प्राप्त हो जाते हैं।[13]

जो मुक्तात्मा शुद्ध, स्वतन्त्र, परिपूर्ण, परमेश्वर, अविश्वर, सर्वोच्च, परम विशुद्ध और निरंजन है वही मुक्त है।[14]

मुक्तात्मा के पर्याय

मुक्तात्मा, मुक्तजीव को कई नामों से पुकारा जाता है - कृतार्थ, निष्ठित, सिद्ध, कृतकृत्य, निरामय, सूक्ष्म और निरंजन ये सभी मुक्त होने वाले आत्मा के पर्यायवाची शब्द कहे गये हैं।[15]

सिद्ध का स्वरूप

जब आत्मा पूर्णतः कर्म पुद्गलों से मुक्त हो जाता है, संसार के अग्रभाग पर पहुँच जाता है, संसार के समस्त पदार्थों को युगपत् जानने-देखने लगता है, अनन्त चतुष्टय से सम्पन्न हो जाता है, तब उसे सिद्ध कहा जाता है।

जो आत्मा सिद्धावस्था को प्राप्त कर लेता है, वह सिद्धशिला पर पहुँच जाता है। वहाँ न जन्म है, न मरण, न जरा, न भय, न आसक्ति, न इच्छा, न दु:ख है और न रोग, न शोक इत्यादिक है।[16] इस अवस्था में कारण कार्यवाद का सिद्धान्त भी अंशत: घटित होना संभव नहीं है। क्योंकि सिद्ध न तो किसी चीज़ को उत्पन्न करते हैं और न किसी से उत्पन्न होते हैं। निषेधात्मक रूप में यह कहा जा सकता है कि सिद्धों को न दु:ख है न सुख, न जरा है न मृत्यु, न शुभ कर्म है न अशुभ, न बाधा है न दुष्काल, मोह, दु:ख, इच्छा क्षुधादि है। विधेयात्मक रूप से कहने पर यह कहा जा सकता है कि वहाँ पूर्ण ज्ञान दर्शन चतुष्ट्य गुण है और अमूर्त्त अवस्था है।[17] सिद्ध की परिभाषा श्रेणी विरहित है परन्तु वह सदैव अनन्त चतुष्ट्य का उपभोग करता है। सिद्धत्व की प्राप्ति का तात्पर्य है - आत्मा की परम विशुद्धावस्था की प्राप्ति। जहाँ सांसारिक दु:खों का पूर्णत: अभाव रहता है। यह परमानन्दावस्था है, जो कर्मों के निजीर्ण हो जाने पर होती है। वहाँ अविद्या और क्रोध इत्यादिक विकार नहीं होते हैं।

पुरुषार्थ की परमकाष्ठा को प्राप्त हुए कर्मरूपी शत्रुओं को जीतने वाले अर्थात् कर्मों को क्षय करने वाले कृतकृत्य और रागादि कर्मफल से रहित अविनाशी विशुद्धि को प्राप्त हुए रोगादि क्लेशों से रहित, सिद्ध भगवान् होते हैं।[18]

सिद्ध भगवान् अमूर्त्त अशरीरी होते हैं। सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हैं। वे साकार होकर भी निराकार है और निराकार होकर भी साकार है। शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति होने से वे सिद्ध होते हैं।[19]

सिद्ध शरीर रहित होते हैं। वे चैतन्यधन और केवलज्ञान, केवलदर्शन से संयुक्त होते हैं। साकार और अनाकार उपयोग उनके लक्षण हैं। सिद्ध केवलज्ञान से संयुक्त होने पर सर्व भाव गुणपर्याय को जानते हैं और अपनी अनन्त केवलदृष्टि से सर्व भाव देखते हैं। न मनुष्य को ऐसा सुख होता है और न सब देवों को, जैसा कि अव्याबाध सुख सिद्धों को प्राप्त होता है। वे शाश्वत सुखों को प्राप्त कर अव्याबाध सुख के धनी होते हैं। सिद्ध जन्म-जरा-मरण के बन्धन से मुक्त है।[20]

जो ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि कष्ट कर्मों से रहित हैं, अनन्त सुख रूपी अमृत का अनुभव करने वाले शान्तिमय हैं, नवीन कर्म बन्ध के कारण भूत, मिथ्या दर्शनादिक भाव कर्मरूपी अंजन से रहित हैं, सम्यक्त्व ज्ञान, दर्शन, वीर्य, अव्याबाध, अवगाहन, सूक्ष्मत्व, अगुरु लघु, ये आठ मुख्य गुण जिनके प्रकट हो चुके हैं, जिन्हें अब कोई कार्य करना शेष नहीं है। लोक के अग्र भाग में निवास करने वाले हैं, उनको सिद्ध कहते हैं।[21]

सिद्धात्मन् के स्वरूप का त्रिलोक में भी कोई अपलाप नहीं कर सकता। जो निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं उनमें स्वर्ण के समान तेज होता है और त्रैलोक्य शिखामणि की शोभा को धारण करते हैं।[22]

सिद्धों के गुण

सिद्धों में अनन्त गुण विद्यमान होते हैं जिनका वर्णन करना असम्भव है किन्तु उनके मुख्य आठ गुण हैं –

(क) अनन्त ज्ञान (ख) अनन्त दर्शन (ग) अव्याबाध सुख (घ) क्षायिक सम्यक्त्व (ङ) अव्ययत्व (च) अमूर्तित्व (छ) अगुरुलघुत्व (ज) अनन्त वीर्य।[23]

(क) **अनन्त ज्ञान**[24] – सिद्ध अनन्त ज्ञान के धारक होते हैं। यह गुण ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से प्रगट होता है। इससे वे सर्व द्रव्य क्षेत्र काल भाव को जानते हैं।[25]

(ख) **अनन्तदर्शन**[26] – यह गुण दर्शनावरणीय कर्म के क्षय से प्रगट होता है। इससे वे सम्पूर्ण द्रव्य क्षेत्र-काल-भाव को देखते हैं।[27]

(ग) **अव्याबाध सुख** – इस गुण की उत्पत्ति वेदनीय कर्म के क्षय से होती है।[28]

(घ) **क्षायिक सम्यक्त्व** – इस गुण की उत्पत्ति मोहनीय कर्म के नष्ट होने से होती है।[29]

(ङ) **अव्ययत्व** – यह गुण आयुष्य कर्म के नष्ट होने से प्रगट होता है।[30]

(च) **अमूर्तित्व** – यह गुण नाम कर्म के क्षय से प्रगट होता है।[31]

(छ) **अगुरुलघुत्व** – यह गुण का प्रगटीकरण गोत्र कर्म के नाश से होता है।[32]

(ज) **अनन्त वीर्य**[33] – अन्तराय कर्म के नाश से यह गुण उत्पन्न होता है।[34]

वस्तुतः यह सभी गुण आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं, ये कहीं बाहर से प्रक्षिप्त नहीं होते हैं और नये ही उत्पन्न होते हैं, सिर्फ बात इतनी-सी है कि आठ कर्मों द्वारा यह आठ प्रमुख गुण आवृत्त हो जाते हैं, ढक जाते हैं और कर्मों के नष्ट होते ही यह गुण अनावृत्त होकर अपने सहज-स्वाभाविक रूप से

चमक उठते हैं, प्रगट हो जाते हैं। उसी प्रकार, जैसे काले-कजराले मेघ पटलों से छिन्न-भिन्न होते ही सहस्त्ररश्मि सूर्य अपनी स्वाभाविक प्रभा से चमक उठता है।

सिद्धशिला

लोक का अन्तिम भाग, वह बिन्दु जहाँ से अलोकाकाश का प्रारम्भ होता है। लोकाकाश अलोकाकश के मध्य नितान्त पवित्र स्थान है यही इन सिद्धों की निवास भूमि है। इस स्थान को सिद्धशिला कहते हैं। आत्मा स्वभावत: ऊर्ध्वगति से गमन करता हुआ बिना मोड़ लिए, सरल-सीधी रेखा में गमन करता हुआ अपने देह-त्याग के स्थान से एक समय मात्र में सिद्धशिला से भी ऊपर पहुँच कर अवस्थित सदा-सदा के लिये हो जाता है, आत्मा की वह सर्वकर्म विमुक्त दशा सिद्ध दशा अथवा सिद्धगति कहलाती है।[35] वह सिद्धशिला चौदह राजू विस्तार वाले पुरुषाकार लोक के अग्रभाव में सर्वार्थसिद्ध विमान से बारह योजन ऊपर 45 लाख योजन लम्बी चौड़ी गोलाकार मध्य में 8 योजन मोटी है और घटते-घटते दोनों किनारों से मक्खी के पँख के समान पतली हो गई है। अतीव पतली, एक करोड़ बयासी लाख, तीस हजार, दो सौ उन्चास योजन के घेरे वाली[36] वह सिद्धशिला श्वेत वर्णी, स्वभाव से निर्मल और उत्तान (उल्टे) छाते के आकार की है। सिद्धशिला के एक योजन ऊपर, लोक के अग्रभाग में 45 लाख योजन लम्बे-चौड़े और 333 धनुष 32 अगुल ऊँचे क्षेत्र में अनन्त सिद्ध भगवान विराजमान हैं। अथवा इस एक योजन का जो ऊपरी कोस है, उसके छठे भाग में सिद्ध भगवान अवस्थित है।[37]

समीक्षा

मोक्ष अर्थात् सभी कर्मों का सर्वथा क्षय। समग्र आत्यन्तिक कर्मों का क्षय होने पर ऊर्ध्वगमन करना यह आत्मा का स्वभाव है। यह बात तुम्बे का दृष्टान्त देकर कही गई है। ऊर्ध्वगमन करता हुआ आत्मा लोक के अग्रभाग में पहुँच कर रुक जाता है और वही स्थिर हो जाता है, वहाँ से वह आगे गमन नहीं कर सकता, क्योंकि लोक के अग्रभाग से आगे गति करने में सहायभूत "धर्मास्तिकाय" पदार्थ वहाँ पर नहीं है और आत्मा में गुरुत्व तथा कोई कर्मजन्य प्रेरणा के न होने से वहाँ से वापिस नीचे अथवा तिरछा तो वह जा ही नहीं सकता।

मोक्ष की प्राप्ति मनुष्य गति द्वारा ही होती है। देवगति में से मुक्ति का परमधाम प्राप्त नहीं कर सकतें। जो मोक्ष के योग्य होता है वह भव्य जीव कहलाता है। अभव्य दशा वाला मोक्ष के योग्य नहीं होता।

मोक्ष कोई उत्पन्न होने वाली वस्तु नहीं है। केवल कर्म-बन्ध से छूट जाना अथवा आत्मा से कर्मों का हट जाना ही मोक्ष है। इससे आत्मा में कोई नई वस्तु उत्पन्न नहीं होती जिससे उसके अन्त की कल्पना करनी पड़े। जिस प्रकार बादल हट जाने से जाज्वल्यमान सूर्य प्रकाशित होता है उसी प्रकार कर्म के आवरण हट जाने से आत्मा के सब गुण प्रकाशित होते हैं, अथवा आत्मा अपने मूल ज्योतिर्मय चित्स्वरूप में पूर्ण प्रकाशित होता है।

सर्वथा निर्मल मुक्त आत्मा पुनः कर्मों से बद्ध नहीं होता और इस कारण उसका संसार में पुनरावर्तन भी नहीं होता। उमास्वाति ने तत्वार्थसूत्र में कहा है–

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः॥ त.सू. 10.2-3

संसार का सम्बन्ध कर्म सम्बन्ध के अधीन है और कर्म का सम्बन्ध राग-द्वेष मोह की चिकनाहट के अधीन है। जो पूर्ण निर्मल हुए हैं, जो कर्म के लेप से सर्वथा रहित हो गए हैं उनमें राग-द्वेष की चिकनाहट नहीं होती। इसीलिये उनके साथ कर्म के पुनः सम्बन्ध की कल्पना भी नहीं। अतएव संसार चक्र में उनका पुनरवतरण असम्भव है।

मुक्तिदशा में आत्मा का किसी अपर शक्ति में विलय नहीं होता। वह किसी अन्य सत्ता का अवयव या विभिन्न अवयवों का संघात नहीं, वह स्वयं स्वतन्त्र सत्ता है। उसके प्रत्येक अवयव परस्पर अनुविद्ध हैं। इसलिए वह स्वयं अखंड हैं। उसका सहज स्वरूप प्रकट होता है - यही मुक्ति है। मुक्तात्माओं की विकास की स्थिति में भेद नहीं होता। किन्तु उनकी सत्ता स्वतन्त्र होती है। सत्ता का स्वातन्त्र्य मोक्ष की स्थिति का बाधक नहीं है। अविकास या स्वरूपावरण उपाधिजन्य होता है, इसलिए कर्म उपाधि मिटते ही वह मिट जाता है – सब मुक्तात्माओं का विकास और स्वरूप समकोटिक हो जाता है। आत्मा की जो पृथक्-पृथक् सर्वतन्त्र स्वतन्त्र सत्ता है वह उपाधिकृत नहीं है, वह सहज है, इसलिए किसी भी स्थिति में उनकी स्वतन्त्रता पर कोई आंच नहीं आती। आत्मा अपने आप में पूर्ण है, इसलिए उसे दूसरों पर आश्रित रहने की कोई आवश्यकता नहीं होती। इसलिए वह किस अन्य में लीन नहीं होता अर्थात् ब्रह्म में समा नहीं जाता – यही भेद **रेखा जैन और वेदान्त** दर्शन का मोक्ष तत्त्व के विषय में प्रकट होती है। शेष समानता देखी जा सकती है।

संदर्भ

1. Monier williams, A Sanskrit English Dictionary, pp. 834–35
2. राजवार्तिक 1.4.3.29.9
3. निःशेषकर्मनिर्मोक्षो मोक्षोऽनन्तसुखात्मकः। – आ.पु. 24.116
4. दशाश्रुत स्कन्ध, 5.12
5. बन्धहेत्वभाव निर्जराभ्याम् कृत्स्नकर्म विप्रमोक्षो मोक्षः – त.सू. 10.2-3
6. भ.आ. 38.134.18
7. द्रव्य संग्रह 37.154
8. जै.सि.को. (भा. 3) पृ. 332
9. योगसार प्राभृत, 7.28-29
10. आत्मबन्धयोर्द्विधाकरणं मोक्षः। – समयसार, 288
11. निरस्तद्रव्यभाबन्धाः मुक्ताः। – रा.वा. 2.10.2
12. शुद्ध चेतनात्मका मुक्ता ..... केवल ज्ञान दर्शनोपयोगलक्षणामुक्ताः।
–पंचास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति 109.174.13
13. त्रयोदशास्य प्रक्षीणाः कर्माशाश्चरमे क्षणे।
द्वासप्ततिरूपान्ते स्युरयोगपरमेष्ठिनः।।
निर्लेपो निष्कलः शुद्धो निर्व्याबाधो निरामयः।
सूक्ष्मोऽव्यक्तस्तथाव्यक्तो मुक्तो लोकान्तमावसन्।।
ऊर्ध्वव्रज्यास्वभावत्वात् समयेनैव नीरजाः।
लोकान्तं प्राप्य शुद्धात्मा सिद्धश्चूड़ामणीयते।। – आ.पु. 21.198-200,
14. समाधि शतक 6
15. कृतार्था निष्ठिताः सिद्धाः कृतकृत्या निरामयाः।
सूक्ष्मा निरञ्जनाश्चेति पर्यायाः सिद्धिमापुषाम्।। – आ.पु. 21.206
16. जातिजरामरणभया संयोगवियोगदुःखसंज्ञाः।
रोगादिकाश्च यस्यां न सन्ति सा भवति सिद्धगतिः।। – गो.सा. (जी.का.) गा. 152
17. नि.सा. 178-181
18. अथवा पुरुषार्थस्य परां काष्टामधिष्ठितः।
परमेष्ठी जिनो ध्येयो निष्ठितार्थो निरञ्जनः।।
स हि कर्ममलापायात् शुद्धिमात्यन्तिकीं श्रितः।
सिद्धो निरामयो ध्येयो ध्यातृणां भावसिद्धये।। – आ.पु. 21.112-113
19. आ.पु. 21.115-121
20. औप.सू. 154

21. अष्टविधकर्मविकलाः शीतीभूता निरंजना नित्याः।
अष्टगुणा कृतकृत्या लोकाग्रनिवासिनः सिद्धाः।। –गो.सा. (जी.का.) गा. 68
22. रत्न.श्रा. गा. 134
23. क्षायिकानन्तदृग्बोधसुखवीर्यादिभिर्गुणैः।
युक्तोऽसौ योगिनां गम्यः सूक्ष्मोऽपि व्यक्तलक्षणः। – आ.पु. 21.114;
त.सू. – (के.मु.) 10.4 (वि)
24. अनन्तज्ञानदृग्वीर्य विरतिः शुद्धदर्शनम्। – आ.पु. 20.265
25. त.सू. (के.मु.) 10.4 (वि.)
26. आ.पु. 20.265
27. त.सू. (के.मु.) 10.4 (वि.)
28. वही।
29. वही।
30. वही।
31. वही।
32. त.सू. (के.मु.) 10.4 (वि.)
33. आ.पु. 20.265
34. त.सू. (के.मु.) 10.4 (वि.)
35. तदनन्तरमूर्ध्व गच्छत्यालोकान्तात्। – त.सू. 10.5
36. जै.त.प्र. – (आ.अ.ऋ.) पृ. 112-113
37. त.सू. (के.मु.) - 10.7 (वि.)

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची अनुक्रमणिका

मूल ग्रन्थ

आदिपुराण, भा. 1, आचार्य जिनसेनकृत, सं.पं. पन्ना लाल साहित्याचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् 1944, वीर निर्वाण सं. 2470

आदिपुराण, भा. 2, आचार्य जिनसेन और आचार्य गुणभद्र विरचित, प्र.पं. लालाराम जैन, मालिक प्रकाशक कार्यालय, इन्दौर, वीर निर्वाण सं.2442

सहायक ग्रन्थ सूची

अमितगतिश्रावकाचार, पं. वशीधर, शोलापुर, प्र.सं., वि.सं. 1979 (मध्य प्रदेश)

अनगारधर्मामृत, पं. खूब चन्द, सोलापुर, प्र.सं. ई.सं. 1927 (पंजाब)

अन्तकृद्दशाङ्ग. सूत्र, आचार्य श्री आत्मा राम जी म., श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, जैन स्थानक, लुधियाना, सं. 2027

अन्ययोगव्यवच्छेदिका, हेमचन्द्राचार्य, यशोविजयग्रन्थमाला, काशी।

अथर्ववेद, आचार्य विश्वबन्धु, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, साधु आश्रम, होशियारपुर, वि.सं. 2021

अनुयोगदार सूत्र, भा. 1-2, श्री ज्ञान मुनि जी, श्री शालिग्राम जैन प्रकाशन समिति, राजपुरा, प्रथमावृत्ति ई.सं. 1990

आचाराङ्ग सूत्र, भा. 1-2, आचार्य श्री आत्माराम जी म., आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना, सन् 1963-64

आश्वलायनगृहसूत्र, निर्णयसागर, बुम्बई, ई. 1921 (महाराष्ट्र)

आवश्यक निर्युक्ति, जिनभद्रगीण, गुलाबचन्द, लल्लुभाई, भावनगर, 1939

आलाप पद्धति, चौरासी मथुरा, प्र.सं. वी.नि. 2459

उत्तराध्ययन सूत्र, आचार्य श्री आत्माराम जी म., जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर, सन् 1939

उत्तराध्ययन सू. वृहदवृत्ति, देव चन्द भाई जब्हेरी, जब्हेरी बाजार, बम्बई, सन् 1916, वीर सम्वत् 2442

उपासकदृशाङ्ग सूत्र, आचार्य श्री आत्मा राम जी म., आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना, सन् 1964 (पंजाब)

औपपातिक सूत्र, युवाचार्य श्री मधुकर मुनि जी म., श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर (राज.), वि.सं. 2048

कर्म ग्रन्थ, श्री देवेन्द्र सूरि, भा. 4, प्र. श्री मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति, जोधपुर, व्यावर, वीर निर्वाण सं. 2502

कर्म विज्ञान, आचार्य देवेन्द्र मुनि, भा. 1 5, प्र. श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, शास्त्री सर्कल, उदयपुर, प्रथम आवृत्ति, वि.सं. 2050 (राज.)

कर्म प्रकृति, आचार्य नेमिचन्द्र, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि.सं. 2000

कषाय पाहुड, दिगम्बर जैन संघ, मथुरा, प्र.सं., वि.सं. 2006

गीता, गोरखपुर प्रिटिंग प्रैस, गोरखपुर।

गोमम्टसार-(जीवकाण्ड) नेमिचन्द्र चक्रवर्ती विरचित, जैन सिद्धान्त प्रकाशन संस्था, कलकत्ता।

गोपथ ब्राह्मण, सं. राजेन्द्र लाल मिश्र. एच. विद्याभूषण, कलकत्ता, ई. 1872

चरित्रसार–महावीर जी, प्र.सं. वीर नि. सं. 2488

जम्बूद्वीप पण्णत्ति संग्रहो, जैन संस्कृति संरक्षण संघ, शोलापुर, वि.सं. 1977

छान्दोग्य उपनिषद्, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1964 (उत्तर प्रदेश)

जीवाजीवाभिगम सूत्र, डॉ. राजेन्द्र मुनि जी, श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, गुरु पुष्कर मार्ग, उदयपुर, प्र. 1997 (राज.)

जैन दर्शन, न्याय विजयश्रीमुनि जी, प्र. श्री हेमचन्द्राचार्य जैन सभा, हेमचन्द्र मार्ग, पाटण (उत्तर गुजरात)। सन्

जैन दर्शन, डॉ. मोहन लाल मेहता, प्र. सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, प्र. पदार्पण 1959

जैन साहित्य का वृहद इतिहास, भा. 1 - (भा. 6) पं. दलसुख मालवणिया मोहनलाल मेहत्ता, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान जैनाश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी, सन् 1968 (उत्तर प्रदेश)

जैन तत्त्व प्रकाश, श्री अमोलक ऋषि जी म., श्री अमोल जैन ज्ञानालय, धुलिया (महाराष्ट्र) वि.सं. 2024

जैन दर्शन स्वरूप और विश्लेषण-आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि, श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, गुरु पुष्कर मार्ग, उदयपुर। (राजस्थान)

जैन सिद्धान्त दीपिका-ज्ञानपीठ प्रकाशन, चुरु, राजस्थान, सन् 1970

जैन धर्म के प्रभावक आचार्य, साध्वी संघमित्रा, द्वि.सं. जैन विश्व भारती, लाडनूं, नागौर (राज.)

जैन धर्म-श्री सुशीलकुमार मुनि, प्रं.-अखिल भारतीय श्वेताम्बर जैन कान्फ्रेंस भवन, 12 लेडी हार्डिग रोड, दिल्ली।

जैन साहित्य और इतिहास, नत्थू राम प्रेमी, प्र. यशोधर मोदी, विद्याधर मोदी, संशोधित साहित्य माला, ठाकुरद्वार, बम्बई, 1956 (महाराष्ट्र)

जैन धर्म एक अनुशीलन-डॉ. श्री राजेन्द्र मुनि, यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन, बी-137, कर्मपुरा, नई दिल्ली।

ज्ञानसार-अमरचन्द नाहटा, नाहटा ब्रदर्ज, कलकत्ता, ई. 1952

तत्त्वार्थ सूत्र, पं. सुखलाल संघवी, जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस, सन् 1952

तत्त्वार्थ सूत्र, उमास्वाति, व्याख्याकार उपाध्याय श्री केवल मुनि श्री जैन दिवाकर साहित्यपीठ, महावीर भवन, 156, इमली बाज़ार, इन्दौर (म.प्र) सन् 1987

तत्त्वार्थ सूत्र, उमास्वाति, सिद्धान्ताचार्य पं. फूल चन्द्र शास्त्री, श्री गणेशवर्णी, दिगम्बर जैन शोध संस्थान, नदिया, वाराणसी, 1991

तिलोय पण्णत्ति (2) ब्रह्मचारी जीवराज गौतमचन्द जी दोशी, सं. जैन संस्कृति संरक्षक संघ और जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर, वी.नि.सं. 2477

तत्त्वार्थसार-जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता, प्र.सं., ई.सं. 1929

तत्त्वार्थाधिगमभाष्य, उमास्वाति, सं.ए. शान्तिराजशास्त्री, ओरियण्टल लाइब्रेरी पब्लिकेशन, मैसूर, 1944 (कर्णाटक)

त्रिलोकसार, जैन साहित्य, बम्बई, प्र.सं. 1918 (महाराष्ट्र)

दशाश्रुत स्कन्ध, आचार्य श्री आत्मा राम जी म., जैन शास्त्र कार्यालय, लाहौर, सं. 1936

दर्शनपाहुड़, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र.सं., वि.सं. 1977

द्रव्य संग्रह, नेमिचन्द्र, सं. दरबारी लाल कोठिया, श्री गणेश प्रसादवर्णी जैन ग्रन्थमाला 16, वाराणसी, सन् 1966 (उत्तर प्रदेश)

धवला, आचार्य वीरसेन प्रकाशन, संस्थान, अमरावती।

नयचक्र, सं. सिद्ध सागर, शोलापुर। (मध्य प्रदेश)

नन्दी सूत्र, आचार्य श्री आत्मा राम जी म., आचार्य श्री आत्मा राम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना, सन् 1966 (पंजाब)

निरुक्त, यास्काचार्य, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1989

निर्ग्रन्थ प्रवचन, सं. श्री चौथमल जी म., श्री दिवाकर दिव्यज्योति कार्यालय, व्यावर (राज.) द्वि.सं. 1966

नियमसार, आचार्य कुन्दकुन्द, सं. शीतलप्रसाद, जैनग्रन्थरत्नाकर, कार्यालय, बम्बई, 1917 (महाराष्ट्र)

न्यायदर्शन, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी प्र.सं. 1966 (उत्तर प्रदेश)

पंचास्तिकाय, कुन्दकुन्द, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, प्र.सं. वि. 1972

पंच संग्रह (प्राकृत) भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रं.सं., ई 1932

पद्म पुराण, आचार्य रविषेण (भा. 1-3) भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्र.सं., वि. सं. 2019, सन् 1958-59

पद्मनन्दि पंचविंशतिका, पद्मनन्दि, सं.ए.एन. उपाध्याय, श्री गुलाब चन्द हीराचन्द दोशी, शोलापुर, प्र.सं., ई. 1962 (मध्य प्रदेश)

परमात्म प्रकाश, राजचन्द्र ग्रन्थमाला, द्वि.सं., वि.सं. 2017

पाणिनी, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।

पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, श्री अमृतचन्द्राचार्य, प्रं. राव जी भाई छगन भाई देसाई, श्री राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला अगास, वी.नि. सं. 2592

पौराणिक रहस्यों का समीक्षात्मक अनुशीलन, सं. डा. रमेश मिश्र कृष्ण दास अकादमी, वाराणसी, सन् 1984 (उत्तर प्रदेश)

प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार, वादि देवसूरि, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, 1988

प्रज्ञापना सूत्र, युवाचार्य श्री मिश्रीमल जी म., श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर (राज.) सन् 1983

पौराणिक रहस्यों का समीक्षात्मक अनुशीलन, सं. डा. रमेश मिश्र, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, सन् 1984

प्रवचनसार, आचार्य कुन्दकुन्द, श्री मनोहर जी वर्णी, खेमचन्द जैन शर्राफ, मेरठ सन् 1979

प्रशस्तपादभाष्य, सं. श्री नारायणमिश्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, सन् 1966

वाल्मीकि रामायण, सं. नारायण स्वामी, लंदन, गीता प्रेस, गोरखपुर, 1960

ब्रह्मसूत्र, शाङ्करभाष्य, सं. सत्यानन्द सरस्वती, गोबिन्दमठ, टेढ़ीनीम, वाराणसी, सं. 2040

ब्रह्माण्ड पुराण, खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, 1906 (महाराष्ट्र)

बृहद्नयचक्र, माइल्लधवल, सं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, 1971

भगवती आराधना, खुशराम दोशी, शोलापुर, प्र.सं.ई. 1935 (मध्य प्रदेश)

भारतीय दर्शन, डॉ. वाचस्पति गैरोला, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सन् 1966

भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी।

भारतीय साहित्य में जैन धर्म का योगदान, हीरा लाल जैन, मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल, 1962 (मध्य प्रदेश)

भागवत् पुराण, महर्षि वेदव्यास, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. 2021

मनुस्मृति, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, वि.सं. 2027

महाभारत, व्यास, गीता प्रेस, गोरखपुर, वि.सं. 2014

मत्स्य पुराण, सं. राम प्रताप त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, वि.सं. 2003

मूलाचार, अनन्त कीर्ति ग्रन्थमाला, प्र.सं., वि.सं. 1976

मोक्ष पाहुड़, माणिक चन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र.सं., वि.सं. 1977 (महाराष्ट्र)

योगसार प्राभृत, श्रीमद् अमितगति-नि:संगयोगिराज, सं. श्री जुगलकिशोर मुख्तार, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी, वी.नि.सं. 2495

रत्नकरण्ड श्रावकाचार समन्त भद्र, द सैन्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाऊस, आरा, सन् 1917

राजवार्तिक, अकलङ्क देव, भा. 1-2; भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् 1957

वसुनन्दि श्रावकाचार, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्र.सं., वि.सं. 2007

वायुपुराण, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरिज, पूना, 1905. (महाराष्ट्र)

विपाकसूत्र, श्री ज्ञान मुनि जी म., जैनशास्त्रमाला कार्यालय, जैन स्थानक, लुधियाना, प्र.वीर. निर्वाण 2480 (पंजाब)

विशेषावश्यक भाष्य, जिनभद्र, भारतीय संस्कृत विद्यामन्दिर, अहमदाबाद, सन् 1968. (गुजरात)

वेदान्तसार, सदानन्द, सं. सत्यनारायण श्रीवास्तव, सुदर्शन प्रकाशन, इलाहाबाद, 1972.

वैशेषिक सूत्र, कणाद, सं. नारायण मिश्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ ऑफिस, वाराणसी, सन् 1981.

शतपथ ब्राह्मण, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, 1959

षट्खण्डागम, जैन सम्पदाय संरक्षक संघ, सोलापुर, 1973

संस्कृत साहित्य का इतिहास, वाचस्पति गैरोला, तृ.सं. 1985, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी।

समयसार, आचार्य कुन्दकुन्द, सं. अमृतचन्द्र आत्मख्याति, अहिंसा मन्दिर प्रकाशन, देहली, प्र.सं. 2021

समाधि शतक, इष्टोपदेश युक्त, वीरसेना मन्दिर, देहली, प्र.सं., 2021

समवायाङ्ग सूत्र, युवाचार्य श्री मिश्री मल जी म., सन् 1982, श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर (राज.)

सर्वार्थसिद्धि, आचार्य पूज्यपाद, सं. पण्डित फूल चन्द्र सिद्धान्त शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, सन् 1971

सर्वदर्शन् संग्रह, प्रो. उमाशंकर शर्मा "ऋषि", चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, वि.सं. 2021

सिद्धान्त शिरोमणि, हिन्दू विद्यालय, वाराणसी, ई. 1961

सिद्धान्तसार संग्रह, श्री जीवराज जी, जीवराज जैन ग्रन्थमाला, जैन संस्कृति संरक्षक, संघ शोलापुर, प्र.सं. ई, 1957

सुभाषित रत्न संदोह, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, सन् 1929

सूत्र कृताङ्ग, सुधर्मास्वामी, सं. श्री अमर मुनि, आत्मज्ञान पीठ, मानसा, 1981

सांख्य सूत्र, ईश्वर कृष्ण, सं. ब्रज चतुर्वेदी, नैशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, सन् 1972

स्थानाङ्ग सूत्र, भा. 1-2, आचार्य श्री आत्मा राम जी म., आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, जैन स्थानक, लुधियाना, वी.नि. 2501

स्याद्वादमंजरी, मल्लिषेण सूरि, सं. डॉ. जगदीश .चन्द्र जैन, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगास, 1970

हरिवंश पुराण, आचार्य जिनसेन सं. पण्डित पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् 1962

अंग्रेजी ग्रन्थ

Studies in Jain Philosophy, Nathmal Tatia, Jain Cultural Research Society, Varanasi, 1951

The Doctrine of Liberation in Indian Religions. Muni Shiv Kumar, Sri Jainendra Gurukula, Panchkula, 1981

कोश ग्रन्थ

अमरकोश, अमरसिंह, सं.पं. विश्वनाथ झा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, सन् 1984

अमरकोश, भानुजी दीक्षित टीका, नगरी प्रचारिणी सभा, काशी, पद्मचन्द्रकोश: पं. गणेश दत्त शास्त्री टीका, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सं. 1925

अभिधानचिन्तामणि कोश, हेमचन्द्र कृत, सं. हरगोबिन्द दास, वेचरदास तथा मुनि जिनविजय, भावनगर, 1914

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश : (भा. 1-4) क्षु जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-5

नानार्थ रत्नमाला, सं. रामचन्द्र शर्मा, डैकन कॉलेज, पूना, सन् 1954

नालन्दा विशाल शब्द सागर, सं. श्री नवल जी, प्र. न्यू. इम्पीरियल बुक डिपो, नई सड़क, दिल्ली।

न्यायकोश, भीमाचार्य झलकीकर भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना-1978

बृहत हिन्दी कोश, कालिका प्रसाद राजवल्लभ सहाय, मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, सप्तम् सं. 1992

भागर्व आदर्श हिन्दी कोश, सं.पं. रामचन्द्र पाठक, बी.ए., एल.टी. प्र. भार्गव बुक डिपो, चौक, वाराणसी, सन् 1989

मेदिनी कोश : सं. जगन्नाथ शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1968

शब्दकल्पद्रुम (भा. 3) राधाकान्त देव, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, शक 1813

संस्कृत हिन्दी कोश, वा. शिव आप्टे, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, सन् 1988

पाइअ-सद्द महण्णवो (प्राकृत कोश) सेठ हरगोबिन्ददास विक्रमचन्द, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1986

अंग्रेजी डिक्शनरी

A Sanskrit English Dictionary, Monier-Williams, Motilal Banarsi Dass, Delhi.

तपसिद्ध योगिनी उग्रतपस्विनी सरलात्मा महासती श्री सुमित्रा जी म. एवं तपसिद्ध योगिनी दीप्त तपस्विनी महासती श्री सन्तोष जी म. की सुशिष्या तप रत्नेश्वरी शासन प्रभाविका तप्ततपस्विनी महासती डॉ. श्री सुनीता जी म. की सुशिष्या डॉ. श्री सुप्रिया जी म. विदुषी साध्वी रत्ना है।

निरन्तर स्वाध्यायशीला डॉ. साध्वी श्री सुप्रिया जी म. का जन्म स्थान हरियाणा की पावन धरा सिरसा में हुआ था। पिता धर्मनिष्ठ सुश्रावक श्री जैन प्रकाश जैन तथा धर्म परायणा माता सुश्राविका श्रीमती सत्या देवी जी के धार्मिक सुसंस्कारों से संस्कारित ओसवाल परिवार में हुआ।

आपके परिवारिक एवं धार्मिक विचारों ने आपको आध्यात्मिकता की ओर बढ़ने का सुअवसर दिया और मन भौतिकता की चकाचौंध से आकर्षित न होकर संयम साधना के महान् पथ की ओर अग्रसर हुआ। 17 मई 1989 में उत्तर भारतीय प्रवर्त्तक भण्डारी श्री पद्म चन्द्र जी म. ने आपको जैन भगवती दीक्षा मन्त्र प्रदान किया। गुरु-चरणों में समर्पित होकर आपने अपने जीवन को अध्ययन में लगा दिया। बहुत लग्न और परिश्रम से आपने डबल.एम.ए. (हिन्दी संस्कृत) पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त की।

मैनें अपनी गुरु बहन के साथ-साथ लौकिक और आध्यात्मिक अध्ययन किया। हम सदैव एक दूसरे के सहयोगी रहे हैं।

साध्वी डॉ. श्री सुप्रिया जी म. सरल स्वभावी, संयमी, स्नेहिल, सेवाभावी, विनम्र, गम्भीर, सहनशील, लेखन कार्य में निपुण, आगम-अनुराग, एवं जप-तप में विशेष अभिरूचि रखती है। आपके दृढ़ श्रद्धा, आत्म विश्वास, सुदृढ़ निश्चय ने आपको साधना की उच्चतम श्रेणी में प्रतिष्ठित किया। आप गुरुणी श्री जी म. की आन-मान-शान बढ़ाओ और जिनशासन की श्रृंगार बनो यही मंगल कामना शुभ भावना है।

– साध्वी डॉ. सुरभि

भारतीय विद्या प्रकाशन

मुख्य कार्यालय : 1-U.B. जवाहर नगर, बैंग्लो रोड़,
दिल्ली-110007, दूरभाष : (का.) 23851570
मोबाइल : 98108